कर्मवाद

आचार्य महाप्रज्ञ

कर्मवाद

आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती

प्रस्तुति

अनेकांत मुझे इसलिए प्रिय है कि वह सत्य की खोज का आलंबन है, अवरोध नहीं है। आग्रह अवरोध बनता है।

कर्म हमारे अतीत का लेखा-जोखा है। इस विषय में एकांतिक दृष्टि और आग्रह पनपे हैं। इसलिए यह महान् सिद्धांत उपयोगी कम हुआ है, आवरण अधिक बना।

अध्यात्म की व्याख्या कर्म सिद्धांत के बिना नहीं की जा सकती। इसलिए यह एक महान् सिद्धांत है। इसकी अतल गहराइयों में डुबकी लगाना उस व्यक्ति के लिए अनिवार्य है, जो अध्यात्म के अतस् की ऊष्मा का स्पर्श चाहता है।

कर्म के विषय में मैंने अनेक बार अनेक दृष्टिकोणों से चर्चा की। उसे एक साथ संकलित कर मुनि दुलहराजजी ने स्वाध्यायी के लिए सुलभ बना दिया। यह एक श्रमसाध्य कार्य है, पर इसकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी के शासनकालीन पचास वर्ष अमृत-पट्ट महोत्सव के अवसर पर इसकी उपलब्धि अपने आपमें एक विशिष्टता होगी।

आचार्य महाप्रज्ञ

अनुक्रम

१. आचरण के स्रोत	७
२. कर्म : चौथा आयाम	२०
३. कर्म की रासायनिक प्रक्रिया (१)	३१
४. कर्म की रासायनिक प्रक्रिया (२)	४१
५. कर्म का बंध	५४
६. समस्या का मूल : मोहकर्म	६५
७. आवेग : उप-आवेग	७६
८. आवेग-चिकित्सा	८९
९. स्वतंत्र या परतंत्र?	१०१
१०. कर्मवाद के अंकुश	११२
११. प्रतिबद्धता का प्रश्न	१२४
१२. उत्तरदायी कौन?	१३४
१३. आर्य कर्म	१४३
१४. अतीत से बंधा वर्तमान	१५२
१५. अतीत से मुक्त वर्तमान	१५८
१६. प्रतिक्रमण	१६८
१७. पुरुषार्थवाद की छह घोषणाएं	१७६
१८. कर्म का कर्ता कौन?	१८४
१९. वर्तमान की पकड़	१९२

२०. परिवर्तन का सूत्र १९९
२१. पर्दे के पीछे कौन? २०८
२२. अतीत को पढ़ो : भविष्य को देखो २१५
२३. पदचिह्न रह जाते हैं २२३
२४. करे कोई, भोगे कोई २३४
२५. भाव का जादू २४३
२६. अकर्म और पलायनवाद २५२
२७. कर्मवाद २६०
२८. समाजवाद में कर्मवाद का मूल्यांकन २६९
२९. विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था और कर्मवाद २८०
३०. कर्मशास्त्र : मनोविज्ञान की भाषा में २९१

१. आचरण के स्रोत

ज्ञान और अध्यात्म दो हैं। दोनों जरूरी हैं। ज्ञान के बिना अध्यात्म का ग्रहण नहीं किया जा सकता और अध्यात्म में उतरे बिना ज्ञान की शुद्धता नहीं हो सकती, ज्ञान का प्रस्फुटन नहीं हो सकता। ज्ञान अध्यात्म को बढ़ाता है और अध्यात्म ज्ञान को नए-नए उन्मेष देता है। पश्चिम के दार्शनिकों ने मन का काफी गंभीर अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन्होंने मन के विषय में अनेक खोजें की हैं, मन का पूरा विश्लेषण किया है। मनोविज्ञान की एक पूरी शाखा विकसित हो गई।

प्रश्न होता है कि भारत के सत्यवेत्ताओं ने क्या मानसशास्त्र का अध्ययन नहीं किया था? इस प्रश्न के उत्तर में हम दो शाखाओं–योगशास्त्र और कर्मशास्त्र पर ध्यान दें।

योगशास्त्र साधना की व्यवस्थित पद्धति है। इसके अंतर्गत मन का पूरा विश्लेषण, मन की सूक्ष्मतम प्रक्रियाओं का अध्ययन और उसके व्यवहार का बोध आता है।

कर्मशास्त्र मन की गहनतम अवस्थाओं के अध्ययन का शास्त्र है। कर्मशास्त्र को छोड़कर हम मानसशास्त्र को ठीक व्याख्यायित नहीं कर सकते तथा मानसशास्त्र में, जो आज अबूझ-गूढ़ पहेलियां हैं, उन्हें समाहित नहीं कर सकते और न अध्ययन की गहराइयों में जा सकते हैं।

कर्मशास्त्र के गंभीर अध्ययन का मतलब है अध्यात्म की गहराइयों में जाने का एक गहरा प्रयत्न। जो केवल अध्यात्म का अनुशीलन करना चाहते हैं, किंतु कर्मशास्त्र पर ध्यान देना नहीं चाहते, वे न अध्यात्म की गहराइयों को समझ सकते हैं और न वहां तक पहुंच ही सकते हैं, इसलिए कर्मशास्त्र और योगशास्त्र तथा वर्तमान मानसशास्त्र–इन तीनों का समन्वित अध्ययन होने पर ही हम अध्यात्म के सही रूप को समझ सकते हैं और उसका उचित मूल्यांकन कर सकते हैं।

अध्यात्म को समझने के लिए कर्मशास्त्र को समझना आवश्यक है। यह इसलिए आवश्यक है कि कर्मशास्त्र में हमारे आचरणों की कार्य-कारणात्मक मीमांसा है। हम जो भी आचरण करते हैं, उसके दो कारण होते हैं। एक है बाहरी कारण और दूसरा है भीतरी कारण। बाहरी कारण बहुत स्पष्ट होते हैं।

एक आदमी चला जा रहा है। रास्ते में आग जल रही है। आग के निकट आते ही वह अपना पैर खींच लेता है। उसने अपना पैर क्यों खींचा, इसे हम स्पष्टता से समझ सकते हैं। रास्ते में आग थी। पैर नहीं खींचता तो पैर जल जाता। यह बाहरी कारण है। हमारी समझ में आ सकता है। कोई कठिनाई नहीं है।

रोग एक, कारण अनेक

एक आदमी बीमार है। दवा ले रहा है। बीमारी होने के कारण अस्वाभाविक प्रवृत्ति भी कर रहा है। उदास है, खिन्न है और भी दूसरे-दूसरे आचरण कर रहा है। बीमारी के पीछे जो कारण है, वह बाहरी कारण नहीं है। वह आंखों से दिखाई देने वाला कारण नहीं है। वह भीतरी कारण है। उस कारण की खोज करनी होगी।

एक बीमार आदमी अस्वाभाविक आचरण कर रहा है, उसके पीछे कारण क्या है? रोग है। रोग का कारण क्या है? वह भीतरी कारण है। उस आंतरिक कारण को खोजने की जरूरत है। जहां आंतरिक कारण होता है, वहां खोज का प्रश्न आता है और साथ-साथ विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत होते हैं। बीमार व्यक्ति चिकित्सक के पास जाता है। बीमार को देखकर विभिन्न चिकित्सक भिन्न-भिन्न बातें कहते हैं–

वैद्या वदन्ति कफपित्तमरुद्विकाराः,
ज्योतिर्विदो ग्रहगतिं परिवर्तयन्ति।
भूताभिषंग इति भूतविदो वदन्ति,
प्राचीनकर्म बलवद् मुनयो वदन्ति॥

वैद्य कहता है कि तुम्हारे रोग का कारण है शरीर का कफ, पित्त और विकृत वात।

ज्योतिषी कहता है कि तुम्हारे ग्रहों की गति विपरीत हो गई है, इसलिए यह रोग है।

भूतवादी कहता है कि तुम्हारे पर भूत की छाया पड़ गई है, इसलिए यह रोग उभरा है।

मुनि कहता है कि रोग का कारण है अपने किए हुए कर्मों का विपाक।

डॉक्टर कुछ और ही कहेगा। वह कहेगा कि कीटाणुओं के कारण रोग हुआ है। वहां वात, पित्त और कफ की बात नहीं होगी। रोग कीटाणुज होगा। किसी हड्डियों के विशेषज्ञ के पास जाएंगे तो वह कहेगा कि हड्डियों का संतुलन ठीक नहीं है। पृष्ठरज्जु और अन्यान्य हड्डियों का संतुलन ठीक नहीं है, इसलिए यह रोग उत्पन्न हुआ है। एक ही बीमारी, एक ही रोग, पर उसके कारणों के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण मिलेंगे।

चिकित्सा की एक शाखा है एक्यूपंक्चर। उसके विशेषज्ञ कहेंगे कि शरीर में विद्युत का संतुलन ठीक नहीं रहा, इसलिए बीमारी हुई है। अभी-अभी रूस के शरीरशास्त्रीय वैज्ञानिकों ने एक सिद्धांत का प्रतिपादन किया है कि मनुष्य के शरीर में जब विद्युत का संतुलन ठीक नहीं होता, तब बीमारियां पैदा होती हैं। वे विद्युत की धारा के संतुलन द्वारा, वोल्टेज की कमी और अधिकता के संतुलन के द्वारा, चिकित्सा का प्रतिपादन करते हैं।

रोग एक है, पर उसके कारण की खोज में जाते हैं तो दसों प्रकार के विचार सामने आते है। इतना निश्चित है कि मनुष्य कार्य की पृष्ठभूमि को खोजता रहा है और कारण को समझने का प्रयत्न करता रहा है।

आचरण का मूल स्रोत क्या?

जो आंतरिक आचरण है, आंतरिक घटना है, उसके कारण की खोज आंतरिकता में जाकर कर सकते हैं। हमारे जितने भी आचरण हैं, हम जो भी प्रवृत्ति करते हैं, एक अंगुली हिलाने से लेकर बड़ी-से-बड़ी प्रवृत्ति या आचरण करते हैं, उस आचरण का मूल स्रोत क्या है? कारण क्या है? हम अंगुली क्यों हिलाते हैं? हम क्यों बोलते हैं? हम दूसरों के साथ अच्छा या बुरा व्यवहार क्यों करते हैं? हम गुस्सा क्यों करते हैं? प्रेम क्यों करते हैं? जो भी आचरण हैं, उनका मूल स्रोत क्या है? मूल कारण क्या है? इस प्रश्न की खोज में कर्मशास्त्र की दिशा का अनावरण हुआ।

संसार में विभिन्नता है। विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के विभिन्न आचरण और व्यवहार हैं। सबमें विभिन्नता है, पार्थक्य है। सबमें समता का तारतम्य, शक्ति का तारतम्य, आकृति और प्रकृति का तारतम्य, आचरण और व्यवहार का तारतम्य है। यह विभिन्नता, यह तारतम्य सहज ही यह प्रश्न उपस्थित करता है कि यह क्यों?

यह विभेद क्यों? यह पार्थक्य क्यों? एकरूपता क्यों नहीं? इस विभिन्नता का कोई न कोई हेतु होना चाहिए। यदि कोई हेतु नहीं है, अहेतुक है तो सब समान ही होगा। जो भेद दिखाई देता है, जो अंतर दिखाई देता है, उसका निश्चित ही कोई न कोई हेतु होना चाहिए। बिना कारण या हेतु के यह विभिन्नता हो नहीं सकती। चाहे प्रकृति की विभिन्नता हो, चाहे चेतन जगत की विभिन्नता हो, चाहे जड़ जगत की विभिन्नता हो, सबके पीछे कोई न कोई कारण अवश्य है।

धर्मध्यान के प्रकार

मानसशास्त्रियों ने इस विभिन्नता के हेतुओं को खोजने का प्रयत्न किया। यह आज के युग की बात है, किंतु हजारों-हजारों वर्ष पूर्व भी इस विभिन्नता को खोजने का प्रयत्न हुआ था। भगवान महावीर ने धर्मध्यान के चार प्रकार बतलाए–आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय। हम इनमें से अपायविचय और विपाकविचय की चर्चा करेंगे।

धर्मध्यान के कारणों को खोजने की एक प्रक्रिया है। कोई विपाक हो रहा है, कोई चीज पक रही है, निष्पत्ति सामने आ रही है। विपाक है तो उसका हेतु भी होना चाहिए। परिणाम है तो उसका कारण भी होना चाहिए। यह कारण है–अपाय। अपायविचय है उस कारण की खोज। कोई भी फलित हुआ है तो उसके पीछे कोई न कोई अपाय है ही। कोई दोष या गुण हो, कुछ न कुछ अवश्य है।

हम केवल विपाक को ही सबकुछ नहीं मान सकते। हम विपाक को वर्तमान क्षण का पाक, वर्तमान क्षण की बात मान सकते हैं, किंतु उस विपाक के पीछे रहा हुआ जो हेतु है, अपाय है, जो लंबा अतीत है, उसे भी हमें समझना चाहिए। इन दोनों की खोज साथ-साथ चलती है–अपायविचय और विपाकविचय।

एक व्यक्ति का व्यवहार बहुत रूखा है, कठोर है, अशिष्ट है। यह एक घटना है। यह विपाक है, परिणति है। इसके पीछे अपाय क्या है? कारण क्या है? इसे समझे बिना विपाक का निदान नहीं किया जा सकता। यदि कोई सोचे कि विपाक का निदान कर दूं तो यह गलत होगा। निदान नहीं होगा, भ्रांति होगी। यदि पहले निदान होता तो विपाक होता ही नहीं। विपाक में आए ही नहीं। बीज उग गया है। अंकुर फूट पड़ा है। वृक्ष का रूप सामने आ गया है।

अब उसका प्रतिकार क्या होगा? प्रतिकार नहीं हो सकता, चिकित्सा नहीं हो सकती, फिर तो छेदन ही हो सकता है। फोड़ा पक गया, अब तो वह फूटेगा ही।

आज विकास का युग है। आज चिकित्सा की ऐसी शाखा उद्घाटित हो गई है, जो सूक्ष्म फोटोग्राफी के आधार पर भविष्य में होने वाली बीमारी का पहले ही चित्रांकन कर लेती है। छह महीने बाद, वर्ष या दो वर्ष बाद कौन-सी बीमारी होने वाली है, यह पता चल जाता है। पहले से ही उसकी चिकित्सा कर ली जाएगी, जिससे कि वह शरीर में हो ही नहीं। बहुत अद्भुत बात है।

प्राचीन काल में भी यह विद्या ज्ञात थी। पहले से ही बीमारी जान ली जाती और उसके न होने की स्थिति पैदा कर दी जाती। यह पद्धति थी—कर्मशास्त्र की। कर्म के विपाक को जान लिया जाता और वह न हो, इसकी व्यवस्था पहले से ही कर ली जाती।

अतीत को देखो

हमें केवल वर्तमान को ही नहीं देखना है। ध्यान के लिए यह बताया जाता है कि वर्तमान को देखो, वर्तमान के क्षण को देखो, यह भी एक बात है, किंतु पूरी बात नहीं है। वर्तमान को देखना अच्छा है। मन को शांत करने के लिए बहुत जरूरी है वर्तमान को देखना, किंतु तथ्यों की समग्र जानकारी के लिए केवल वर्तमान ही पर्याप्त नहीं होता, अतीत को भी देखना जरूरी होता है। जिस अतीत का परिणाम वर्तमान बनता है, जिस अतीत का विपाक वर्तमान बनता है, उस अतीत को समझना भी आवश्यक है।

अतीत को समझे बिना वर्तमान के विपाक को, वर्तमान की प्रवृत्ति को, वर्तमान की रचना को नहीं समझा जा सकता। उसको समझने का कोई लाभ नहीं है। जो वर्तमान का क्षण है, उसकी पहले की संतति को समझना, यह है कर्मशास्त्र को समझ लेना। कुछ तथ्य ऐसे होते हैं, जो अनादि और अनंत हैं। उनका न आदि है और न अंत। हमारा अस्तित्व जो है, उसका आदि भी नहीं और अंत भी नहीं है। कुछ तथ्य ऐसे होते हैं, जो अनादि और सांत हैं। उनका आदि नहीं है, किंतु उनका अंत अवश्य है। उनके प्रारंभ का, आदि का हमें पता नहीं है, किंतु वे एक दिन समाप्त अवश्य होंगे।

अंधकार कब से है, इसका कोई पता नहीं। जब भी दीया जलाया, बिजली जलाई, वह समाप्त हो गया। अंधकार समाप्त होता रहता है। ऐसा भी क्षेत्र मिल जाए, जहां आज तक भी सूर्य की रश्मियां नहीं पहुंचीं, कोई आदमी

नहीं पहुंचा है, वहां सदा अंधकार ही रहा है। वहां भी कोई आदमी जाए, दीया जलाए, बिजली जलाए तो अंधकार समाप्त हो जाता है। अंधकार अनादि है, किंतु वह सांत है, उसका अंत होता है, वह समाप्त होता है।

जिस व्यक्ति को कभी सम्यग्दृष्टि प्राप्त नहीं हुई, जिस व्यक्ति ने कभी संबोधि का अनुभव नहीं किया, जिसकी अविद्या का आवरण कभी समाप्त नहीं हुआ, किंतु ऐसा कोई योग मिला कि मिथ्यादृष्टि विलीन हो गई, मिथ्यादर्शन समाप्त हो गया, अबोधि मिट गई, अविद्या का आवरण टूट गया। मिथ्यादर्शन का आदि नहीं है, किंतु उसका अंत अवश्य है।

एक बार जिस व्यक्ति को क्षायिक सम्यक् दर्शन प्राप्त हो जाता है, वह रहता ही है, समाप्त नहीं होता। एक बार जिस व्यक्ति का आवरण टूट गया, फिर वह आवरण कभी नहीं आ पाएगा। वह व्यक्ति विद्या के क्षेत्र में चला जाएगा। एक बार भी जिसके मानस की प्राची में संबोधि का सूर्य उग गया, वह कभी अस्त नहीं होगा। आदि तो है, किंतु अंत नहीं है।

ऐसी घटनाएं हैं, जिनका आदि भी है और अंत भी है। आदमी कितनी बार गुस्सा करता है, कितनी बार क्षमाशील बनता है। हमारे बहुत सारे दैनिक व्यवहार सादि-सांत होते हैं। उनका आदि भी है और अंत भी है। दोनों साथ-साथ चलते हैं।

हम उस प्रवाह को सोचें, जिसके आदि का हमें कोई पता नहीं है। जो अनादि से चला आ रहा है, उसका अनादि-हेतु है। हमारे प्रत्येक आचरण का, प्रत्येक व्यवहार का अनादि-हेतु है, अनादि-कारण है, जो अनादि काल से चला आ रहा है, जिसका आदि-बिंदु खोजना हमारे लिए संभव नहीं है, किंतु उसका अंत किया जा सकता है। साधना का क्षेत्र इसीलिए तो है।

अध्यात्म की साधना किसलिए? वह इसीलिए की जाती है कि अनादि-हेतु को खोजा जाए, उसका अंत किया जाए। जो हेतु है आचरण और आचरण की विसंगतियों के पीछे, उसको खोज निकालना अध्यात्म-साधना का प्रयोजन है। जो कारण हमारे आचरण में विभिन्न प्रकार की विसंगतियां पैदा करता है और व्यवहार में संतुलन, समरसता और एकरूपता नहीं रहने देता तथा विभिन्नता उत्पन्न करता रहता है, वह कारण और हेतु अनादि है। उसका अंत किया जा सकता है। उस बिंदु को खोजना कर्मशास्त्र का प्रयोजन है।

आचरण : सहजात और अर्जित

आधुनिक मानसशास्त्रियों ने आचरण के मूल स्रोतों की खोज की और बताया कि हमारे दो प्रकार के आचरण होते हैं–सहजात और अर्जित। आचरण के पीछे कोई न कोई प्रवृत्ति होती है। कोई आदत होती है। कोई स्वभाव होता है। एक होता है सहजात स्वभाव और एक होता है अर्जित स्वभाव। सहजात वह है, जो मनुष्य जन्म से लेकर आता है। अर्जित वह है, जो विभिन्न वातावरण में, विभिन्न प्रकार की परिस्थिति में अर्जित होता है। सहजात स्वभाव या सहजात प्रवृत्ति–ये आचरण के दो मूल स्रोत हैं। विभिन्न मानसशास्त्रियों ने इन स्रोतों की भिन्न-भिन्न संख्या गिनाई है। किसी ने तेरह, किसी ने चौदह और किसी ने एक। ये मौलिक मनोवृत्तियां हैं।

काम (सेक्स) मनुष्य की एक मौलिक मनोवृत्ति है। लड़ाई, युद्ध, संघर्ष भी मनुष्य की मौलिक मनोवृत्तियां हैं। भूख, समूह में रहना भी मौलिक मनोवृत्ति है। जिजीविषा का अर्थ है–जीने की इच्छा। यह भी एक मौलिक मनोवृत्ति है। आदमी जीना चाहता है, मरना नहीं चाहता। भगवान महावीर ने कहा–'सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता।' यह सत्य का प्रतिपादन है। महर्षि पतंजलि ने पांच क्लेश माने हैं। उनमें एक है अभिनिवेश। इसका अर्थ है सभी जीव जीना चाहते हैं। हम वैदिक ऋषियों से सुनते हैं–**जीवेम शरदः शतम्**–हम सौ वर्ष तक जीते रहें।

मनुष्य समझदार प्राणी है, चिंतनशील प्राणी है। वह सोच सकता है, विचार कर सकता है, अभिव्यक्त कर सकता है। इसीलिए उसने–**जीवेम शरदः शतम्**–सौ वर्ष तक जीने की कामना प्रकट की। जो सामान्य प्राणी हैं, जिनमें चिंतन का विशेष विकास नहीं है, अभिव्यक्ति की शक्ति नहीं है, जिनकी भाषा स्पष्ट नहीं है, वे 'जीवेम शरदः शतम्' जैसी भावना व्यक्त नहीं कर सकते, किंतु उनके अंतःकरण में भी यह भावना है कि वे जीते रहें, मरे नहीं। यह जिजीविषा प्राणिमात्र की मौलिक मनोवृत्ति है।

महत्त्वाकांक्षा का अर्थ है बड़ा बनने की इच्छा। यह भी मौलिक मनोवृत्ति है। एक गाय जंगल में इधर-उधर घूम रही है। वह दो-चार घंटों तक घूमती रहती है। उसके इस आचरण के कारण की खोज करना कठिन नहीं है। उसके घूमने के पीछे भूख की वृत्ति काम कर रही है। यदि उसमें भूख की वृत्ति नहीं होती तो वह घंटों तक जंगल में चक्कर नहीं लगाती।

दस संज्ञा

हम जान सकते हैं आचरणों के मूल कारणों को, मूल स्रोतों को और उनके द्वारा प्रत्येक आचरण और व्यवहार की व्याख्या कर सकते हैं। भगवान महावीर ने दस संज्ञाओं का प्रतिपादन किया–१. आहारसंज्ञा २. भयसंज्ञा ३. मैथुनसंज्ञा ४. परिग्रहसंज्ञा ५. क्रोधसंज्ञा ६. मानसंज्ञा ७. मायासंज्ञा ८. लोभसंज्ञा ९. ओघसंज्ञा १०. लोकसंज्ञा।

ये संज्ञाएं आचरणों के मूल स्रोतों को खोजने में बहुत सहायक हैं। हमारे जितने आचरण हैं, उनके पीछे हमारी दस प्रकार की चेतना काम करती हैं, दस प्रकार की चित्तवृत्तियां काम करती हैं।

संज्ञा का अर्थ है एक प्रकार की चित्तवृत्ति।

जिसमें चेतन या अवचेतन–दोनों मनों का योग होता है, Conscious Mind और Subconscious Mind–दोनों का योग होता है, उसे कहते हैं संज्ञा या संज्ञान।

दस प्रकार की संज्ञाओं (चित्तवृत्तियों) को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं–

पहला वर्ग–आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा।

दूसरा वर्ग–क्रोधसंज्ञा, मानसंज्ञा, मायासंज्ञा, लोभसंज्ञा।

तीसरा वर्ग–लोकसंज्ञा, ओघसंज्ञा।

संज्ञा का पहला वर्ग

पहली है–आहारसंज्ञा। पहले वर्ग की मनोवृत्ति प्राणिमात्र में प्राप्त होती है। मानसशास्त्री जिसे भूख की मनोवृत्ति कहते हैं, उसे जैन आचार्य आहारसंज्ञा कहते हैं। सबमें आहारसंज्ञा होती है। इस संज्ञा के कारण प्रत्येक प्राणी आचरण करता है। हमारे आचरण का बहुत बड़ा भाग आहारसंज्ञा से प्रेरित है।

दूसरी है–भयसंज्ञा। हमारे बहुत सारे व्यवहार भय के कारण होते हैं। गाय कभी-कभी मनुष्य को देखते ही रौद्र रूप धारण कर लेती है। आदमी ने उसका कुछ नहीं बिगाड़ा, गाय का काम भी किसी को चोट पहुंचाना या मारना नहीं है, फिर वह रौद्र रूप क्यों? इसका कारण है कि उसमें अनायास ही भय जाग गया। भय है आत्मरक्षा का।

आत्मरक्षा में सबसे पहला आवेश भय का जागृत होता है। डर लगता है कि मुझ पर कोई प्रहार न कर दे। भय जागते ही सारे शरीर में कंपन पैदा हो जाता है, तनाव पैदा हो जाता है। उसके पीछे भय की वृत्ति काम कर रही है।

तीसरी है–मैथुनसंज्ञा। मनोविज्ञान की भाषा में यह सेक्स की वृत्ति है। यह वृत्ति प्रत्येक प्राणी में होती है।

चौथी है–परिग्रहसंज्ञा। यह संग्रह करने की मनोवृत्ति है। आप यह न मानें कि केवल मनुष्य ही संग्रह करता है। पशु भी संग्रह करते हैं। पक्षी भी संग्रह करते हैं। मधु-मक्खियां संग्रह करती ही हैं। छोटे-मोटे सभी प्राणी संग्रह करते हैं।

जैन तत्त्वविदों ने यहां तक खोज की है कि वनस्पति भी संग्रह करती है। वनस्पति में संग्रह की संज्ञा होती है। यह परिग्रह की मनोवृत्ति, छिपाने की मनोवृत्ति और संग्रह की मनोवृत्ति प्रत्येक प्राणी में होती है। यह चार संज्ञाओं का एक वर्ग है।

संज्ञा का दूसरा वर्ग

जो दूसरा वर्ग है चार संज्ञाओं का, चार चित्तवृत्तियों का, वह भी प्रत्येक प्राणी में प्राप्त है। कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जिसमें वह प्राप्त न हो, किंतु थोड़ा-सा अंतर है। मनुष्य में ये वृत्तियां जितनी विकसित होती हैं, उतनी वनस्पति या छोटे प्राणियों में विकसित नहीं होतीं, किंतु इनका अस्तित्व अवश्य है।

वनस्पति में क्रोध की संज्ञा होती है, मान की संज्ञा होती है, माया और लोभ की संज्ञा होती है। वनस्पति में चारों संज्ञाएं होती हैं, किंतु वे मनुष्य में जितनी स्पष्ट होती हैं, वनस्पति में उतनी स्पष्ट नहीं होतीं। यह दूसरा वर्ग है चार वृत्तियों का।

प्रथम वर्ग की चार वृत्तियों के कारण दूसरे वर्ग की ये चार वृत्तियां विकसित होती हैं, उभरती हैं। क्रोध पैदा होता है रोटी के कारण। रोटी और पैसे के सवाल पर लड़ाइयां होती हैं, झगड़े होते हैं। आहार क्रोध का कारण बन जाता है। कुत्ते को रोटी डाली। दूसरे कुत्ते आ गए। आपस में झगड़ने लगे। रोटी गुस्से का, झगड़े का कारण बन गई।

एक आदमी को अच्छी आजीविका प्राप्त है। वह अच्छे स्थान पर है। दूसरा उस स्थान पर आने का प्रयत्न करता है, पहले वाले की नौकरी छुड़वाने

का प्रयास करता है। क्रोध प्रारंभ हो जाता है। मनमुटाव होता है। कलह होने लगती है। यह आजीविका या आहार के कारण होता है।

एक व्यक्ति की आवश्यकताएं अच्छे ढंग से पूरी होती हैं। दूसरा उसे देखता है। उसकी आवश्यकताएं पूरी नहीं होतीं। पहले व्यक्ति के मन में अहंभाव आ जाता है। अहंकार सदा दूसरे को देखकर ही आता है। अपने से हीन व्यक्ति को देखकर दूसरे को अहंकार करने का अवसर मिलता है। यदि सामने हीनता न हो तो अहंकार प्रकट होने का अवसर ही नहीं मिल पाता।

कर्म के उदय से भी अहंकार का भाव अचानक जाग जाता है। यह आकस्मिक होता है। उन परमाणुओं का वेदन करना होता है, परंतु सामान्यतः अहंकार जागता है हीनता को सामने देखकर। दूसरे की हीनता पर अहंकार जागता है।

एक आदमी को झाड़ू लगाना है, दूसरे को नहीं। अहंकार जाग जाएगा। यह मेरे सामने झाड़ू लगाने वाला है, यह अहंकार का निमित्त बनता है। आजीविका की वृत्ति पर भी अहंकार जागता है।

आजीविका माया को भी जगाती है। रोटी और आजीविका के लिए न जाने कितने लोग, किस प्रकार की माया का आचरण कर लेते हैं। माया जागती है। लोभ भी जागता है। धनार्जन के लिए कितने लोग किस प्रकार के लोभ का आचरण करते हैं। आहार की वृत्ति के कारण क्रोध आदि चार वृत्तियों की अभिव्यक्ति होती है।

भय के कारण भी चारों वृत्तियां पनपती हैं। इसी प्रकार मैथुन और परिग्रह की वृत्ति के कारण भी ये चारों वृत्तियां पनपती हैं, व्यक्त होती हैं। परिग्रह से क्रोध की वृत्ति जागती है। अहंकार तो उसके साथ है ही। जिसके पास अधिक संग्रह है, परिग्रह है, वह निश्चित ही अहंकारी बना रहेगा। माया की वृत्ति परिग्रह के कारण जागती है। लोभ परिग्रह से जुड़ा हुआ है।

प्रथम वर्ग की चित्तवृत्तियों में दूसरे वर्ग की चित्तवृत्तियों को जगाने की क्षमता है, उन्हें उभारने की क्षमता है।

संज्ञा का तीसरा वर्ग

पहली है–लोकसंज्ञा। यह वैयक्तिक चेतना है। प्रत्येक प्राणी में कुछ विशिष्टताएं होती हैं। इन विशिष्टताओं के कारण कुछ आचरण होते हैं। जो

आचरण सामुदायिक चेतना के कारण नहीं होते, किंतु अपनी विशिष्टताओं के कारण होते हैं, वे वैयक्तिक चेतना के कार्य हैं। व्यापारी का लड़का व्यापारी, सुनार का लड़का सुनार, खाती का लड़का खाती और किसान का लड़का किसान होता है। प्रायः यह स्थिति बनती है कि पिता का व्यवसाय पुत्र संभाल लेता है।

इसके पीछे एक वैयक्तिक विशिष्टता काम करती है। यह समूचे समाज में, समुदाय में नहीं मिलती। यह विशेषता व्यक्तिगत विशेषता होती है और वह उस ओर चला जाता है। यह व्यक्तिगत चेतना है। यह एक विशेष प्रकार की रुचि है।

दूसरी है–ओघसंज्ञा। ओघसंज्ञा का अर्थ है सामुदायिकता की संज्ञा। मनुष्य में समूह की भावना होती है, समूह की चेतना होती है, समूह में रहने की मनोवृत्ति होती है। मानसशास्त्री मैक्समूलर ने मनुष्य की एक वृत्ति का उल्लेख किया है, वह है यूथाचारिता। इसका अर्थ है समूह में रहने की मनोवृत्ति। इससे ओघसंज्ञा की तुलना की जा सकती है। यह है ओघ चेतना, समष्टि की चेतना, सामुदायिक चेतना। पशुओं में भी यह चेतना है।

मनुष्य में भी यह चेतना है। इसीलिए गांव बसा, नगर बसा, समाज बना। समाज में रहने की मनोवृत्ति और समाज का अनुकरण करने की मनोवृत्ति को सामुदायिक चेतना कहते हैं। हम कई बार लोगों को ऐसा कहते हुए सुनते हैं कि जो सबको होगा, वह हमें भी हो जाएगा। क्या अंतर पड़ेगा? जब सब ऐसा काम करते हैं तो मैं क्यों नहीं करूं? जो परिणाम सबको मिलेगा, वह मुझे भी मिल जाएगा। मैं अकेला इससे वंचित क्यों रहूं? यह सामुदायिक चेतना की बात है।

यह ओघसंज्ञा है। इसे यूथाचारिता कहा जा सकता है। ये दस प्रकार की संज्ञाएं हैं। ये व्यवहार और आचरण को प्रभावित करती हैं। इन्हें आचरणों का स्रोत कहा जा सकता है।

प्रश्न होता है, क्या ये मूल स्रोत हैं? प्रश्न और आगे बढ़ गया। उत्तर होगा कि ये स्रोत हैं, किंतु मूल स्रोत नहीं हैं। गंगा बह रही है। प्रवाह को रोककर बांध बना दिया। बांध के फाटक खोल दिए गए। वहां से पानी का प्रवाह आगे चलता है। वह बांध इस प्रवाह का स्रोत बन जाता है, किंतु वह मूल स्रोत नहीं है। मूल स्रोत को खोजने के लिए गंगोत्तरी तक पहुंचना होगा। गंगा का मूल स्रोत है गंगोत्तरी, जहां से गंगा का प्रवाह प्रारंभ होता है। ये दस वृत्तियां बीच के

बने हुए बांध हैं। इनके फाटक खुले हैं। इनमें से छनकर निकलने वाली चेतना आगे प्रवाहित होती है और हमारे आचरणों को प्रभावित करती है, किंतु ये मूल स्रोत नहीं है। मूल स्रोत की खोज के लिए आगे जाने की जरूरत है। आज के शरीरशास्त्रियों ने बहुत सूक्ष्म खोजें की हैं। पहले पांच मूल तत्त्व या पांच भौतिक तत्त्व ही मूल कारण माने जाते थे। आज के वैज्ञानिक वैसा नहीं मानते। उन्होंने इतने सूक्ष्म तत्त्व खोज लिए हैं कि ये पांच तत्त्व–पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु और आकाश तो उनके ही संरक्षक बन जाते हैं। ये मूल कारण नहीं हैं। मूल कारण कुछ और हैं।

प्राचीन शरीर-विशेषज्ञ हृदय, स्नायु-संस्थान, गुर्दा–इनको शरीर के संचालक मानते थे, किंतु वर्तमान शरीरशास्त्र की खोजों ने यह प्रमाणित कर दिया कि मूल कारण इनसे भी बहुत आगे हैं। वे हैं हमारे हार्मोन, ग्रंथियों के स्राव। हमारे शरीर की विभिन्न ग्रंथियां, जो स्राव करती हैं, जो हार्मोन निकलते हैं, वे मूल हैं, वे आधार हैं। वे शरीर और मन को जितना प्रभावित करते हैं, उतना हृदय, स्नायु-संस्थान और गुर्दा आदि प्रभावित नहीं करते।

हार्मोन की खोज और ग्रंथियों के स्राव की खोज ने चिकित्सा जगत में सचमुच एक क्रांति ला दी। कायाकल्प-सा कर दिया। इस खोज ने मानस-विश्लेषण की और शारीरिक विकास की विधा को दूर तक पहुंचा दिया।

विकास यात्रा और ग्रंथितंत्र

ग्रंथियां हमारे शारीरिक और मानसिक विकास को प्रभावित करती हैं। कंठमणि (Thyroid) शरीर के समूचे विकास को प्रभावित करती है। यदि इसका स्राव ठीक नहीं है तो आदमी बौना रह जाता है। थायरॉइड से उत्पादित रस का नाम थायरोक्सिन (Thyroxin) है। यह शरीर की पुष्टि, वृद्धि और मन के विकास का घटक रस है। यदि यह रस समुचित रूप से उत्पन्न नहीं होता है तो शरीर कमजोर रह जाता है। बुद्धि तथा मन का विकास नहीं होता। भय और क्रोध की अवस्था में कंठमणि का स्राव समुचित नहीं होता। इसके फलस्वरूप अनेक प्रकार की शारीरिक बीमारियां उत्पन्न होती हैं।

पीनिअल (Pineal) ठीक काम नहीं करती है तो प्रतिभा का विकास नहीं होता। इस ग्रंथि के स्राव के बिना कोई भी व्यक्ति प्रतिभाशाली नहीं हो सकता। यदि समुचित परिमाण में यह रस प्राप्त नहीं होता है तो शरीर का संतुलन नहीं रहता। मन और प्राण का नियंत्रण भी सम्यक् नहीं होता।

एड्रीनल (Adrenal) ग्रंथि का स्राव समुचित नहीं होता है तो भय, चिंता, क्रोध उत्पन्न होता है, सारी अस्त-व्यस्तताएं होती हैं। इसका रस बिना निमित्त के भी बन जाता है। उसके प्रभाव से आदमी अकारण ही चिंतित रहने लग जाता है। इस ग्रंथि से निकलने वाला रस ऐड्रिनलिन (Adrenalin) कहलाता है। शारीरिक स्फूर्ति का यह निमित्त बनता है। जब कभी प्राणी खतरे के छोर पर होता है, तब यह ग्रंथि अधिक स्राव करती है और वह रस अधिक मात्रा में रक्त में मिलकर प्राणी को खतरे से मुकाबला करने की शक्ति प्रदान करता है। कभी-कभी होने वाले असाधारण कार्य भी इसी के फलस्वरूप होते हैं।

गोनैड (Gonads) ग्रंथि से यौन-उत्तेजना तथा शारीरिक यौन-चिह्न उत्पन्न होते हैं। कर्मशास्त्र की भाषा में जिसे हम 'वेद' कहते हैं, उससे इस ग्रंथि का संबंध है। स्त्री से पुरुष हो जाना या पुरुष से स्त्री हो जाना यह सारा इसी ग्रंथि के स्राव पर निर्भर होता है।

ग्रंथियों के स्राव से संबंधित ये खोजें बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। शारीरिक ग्रंथियों के स्रावों के परिवर्तन के आधार पर अनेक प्रकार की विभिन्नताएं उत्पन्न होती हैं, किंतु ये ग्रंथियां या इनके स्राव भी मूल कारण नहीं हैं। इनके पीछे भी कुछ सूक्ष्म कारण हैं। ये जो रस, स्राव हमारी वृत्तियों को, हमारे व्यवहार और आचरण को प्रभावित करते हैं उनके पीछे भी कोई दूसरा सूक्ष्म कारण और है। मूलस्रोत या महास्रोत कोई दूसरा ही है। उस मूलस्रोत की खोज करने के लिए ही हमारी यह यात्रा है।

इस यात्रा में चलते-चलते हम एक बिंदु पर पहुंचे हैं। उस बिंदु का, उस मूल स्रोत का, उस गंगोत्तरी का नाम होगा 'कर्म'। यह हमारे आचरणों का, वृत्तियों का मूल स्रोत है, महास्रोत है। आज केवल कर्म की पृष्ठभूमि की चर्चा की। अब मूल स्रोत का स्वरूप क्या है? इस पर भी आगे चर्चा करेंगे।

२. कर्म : चौथा आयाम

कुछ समय पहले तक विज्ञान तीन आयामों से परिचित था–लंबाई, चौड़ाई और ऊंचाई। ये हमारे जगत के तीन आयाम हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक अल्बर्ट आइंस्टाइन के पश्चात् चौथे आयाम की स्थापना हुई। आज का वैज्ञानिक जगत चार आयामों से परिचित है। चौथा आयाम है–काल की अवधारणा। इससे बहुत क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ, अतीत की यात्रा का उद्घाटन हो गया। इससे पीछे की ओर लौटना संभव हो गया।

कर्मशास्त्र के क्षेत्र में चौथे आयाम की बात पहले से ही स्वीकृत थी और पांचवें आयाम की बात भी बहुत स्पष्ट थी।

उसमें चौथा आयाम है–अदृश्य और पांचवां आयाम है–अमूर्त।

एक तत्त्व ऐसा भी है जिसकी लंबाई नहीं, चौड़ाई नहीं और ऊंचाई भी नहीं। वह किसी भी उपकरण के द्वारा दृश्य नहीं है। सूक्ष्मतम उपकरण भी उसे नहीं पकड़ पाते, देख नहीं पाते। उसे हम अदृश्य इसलिए कहते हैं कि वह हमारे चर्म-चक्षुओं द्वारा दृश्य नहीं है। वह दृश्य है अतीन्द्रिय शक्तियों के द्वारा।

पांचवां आयाम है–अमूर्त। वह वर्ण, रस, गंध और स्पर्श से अतीत है। इस अमूर्त के साथ कर्म का संबंध है, इसलिए हमें पांचवें आयाम तक यात्रा करनी पड़ेगी।

कर्म का चौथा आयाम

पहले चौथे आयाम की यात्रा पर चलें। हमारे शरीर में जो ग्रंथियों के स्राव हैं, उनका कार्य हमारे स्थूल शरीर में ही होता है। उनका पूरा संबंध स्थूल शरीर से ही है। ये ग्रंथियां स्थूल शरीर के अवयव हैं। इनसे शरीर और मन प्रभावित होता है। कर्म का संबंध स्थूल शरीर से नहीं है। उसका संबंध सूक्ष्म शरीर से है। कर्म के पुद्गल बहुत सूक्ष्म हैं। ये ग्रंथियों के स्राव अष्टस्पर्शी–आठ स्पर्श वाले हैं। वे आठ स्पर्श हैं–शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष, गुरु, लघु, मृदु और कठोर।

कर्म के पुद्गल सूक्ष्म हैं। ये चार स्पर्श वाले हैं। ये चार स्पर्श हैं–शीत, उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष। प्रत्येक परमाणु कर्म नहीं बन सकता। वे ही परमाणु कर्म बन सकते हैं, जो सूक्ष्म होते हैं, जिनमें केवल चार ही स्पर्श होते है, स्थूल परमाणु कर्म नहीं बन सकते। स्थूल परमाणुओं में कर्म बनने की और उस अमूर्त की शक्तियों को आवृत करने की क्षमता नहीं है, किंतु उन सूक्ष्म परमाणुओं में वह शक्ति है, जिसमें केवल चार स्पर्श ही होते हैं।

हमारी ग्रंथियों के जितने स्राव हैं, उनमें आठों स्पर्श हैं, किंतु जो कर्म के पुद्गल हैं, वे चार स्पर्श वाले ही होंगे। इस प्रकार पुद्गलों के दो वर्ग हो गए, एक चतुःस्पर्शी पुद्गलों का वर्ग और दूसरा अष्टस्पर्शी पुद्गलों का वर्ग। चतुःस्पर्शी सूक्ष्म हैं। वे किसी भी सूक्ष्मतम उपकरण के द्वारा अदृश्य हैं। आज अनेक ऐसे सूक्ष्म उपकरण आविष्कृत हुए हैं, जिनके द्वारा चर्म-चक्षुओं से नहीं दिखने वाले पदार्थ भी देखे जा सकते हैं, किंतु कर्म-पुद्गल, कर्म के परमाणु इतने सूक्ष्म हैं कि वे किसी भी उपकरण के द्वारा नहीं देखे जा सकते। वे किसी भी उपकरण के द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकते। इस भाषा में उन्हें अदृश्य भी कहा जा सकता है।

यह सारी अदृश्य जगत की चर्चा है। यह उस जगत की चर्चा है, जो हमारी इन्द्रियों का विषय नहीं है, जो हमारे द्वारा आविष्कृत उपकरणों का विषय नहीं है। उसे जानने के लिए विशिष्ट अतीन्द्रिय ज्ञान चाहिए। वैज्ञानिकों ने आज ऐसे उपकरण बनाए हैं, जिनके माध्यम से मृत्यु के समय स्थूल शरीर से निकलने वाली आत्मा का फोटो लिया जा सकता है। उस समय आत्मा अकेली नहीं होती। उसके साथ सूक्ष्म शरीर होते हैं।

वैज्ञानिक मानते हैं कि यह आत्मा का फोटो है। आत्मा का फोटो नहीं लिया जा सकता। वह अमूर्त है। अमूर्त को कोई भी उपकरण ग्रहण नहीं कर सकता, किंतु आत्मा जब स्थूल शरीर को छोड़कर बाहर निकलती है, तब उसके साथ सूक्ष्म शरीर अवश्य ही रहते हैं। वे सूक्ष्म शरीर दो हैं–तैजस और कार्मण।

तैजस शरीर है तेजोमय पुद्गलों का और कार्मण शरीर है कर्म पुद्गलों का। कर्म का शरीर निश्चित ही उसके साथ रहता है। कर्म शरीर के बिना नया जन्म नहीं होता, नया शरीर प्राप्त नहीं होता। तैजस शरीर का फोटो लिया जा सकता है, केवल आत्मा का फोटो नहीं लिया जा सकता।

कर्म की चर्चा का अर्थ है अतीत की चर्चा। हमारी वर्तमान की यात्रा से कर्म का कोई संबंध नहीं है। उसका संबंध है अतीत की यात्रा से। अतीत में जो हमारी प्रवृत्ति हुई है, अतीत में जो कुछ हमने किया है, उसका संबंध हमारी आत्मा से स्थापित हो जाता है। यह है वर्तमान के माध्यम से अतीत को समझने का प्रयत्न।

कर्म पौद्गलिक है। महावीर की यह एक महत्त्वपूर्ण स्थापना है। महावीर ही एक अकेले व्यक्ति हुए हैं, जिन्होंने यह सिद्धांत स्थापित किया कि कर्म पौद्गलिक है। अन्यान्य कर्मवादी दार्शनिकों ने कर्म को वासना के रूप में स्वीकार किया है, संस्कार के रूप में स्वीकार किया है, किंतु पौद्गलिक रूप में किसी ने स्वीकार नहीं किया।

ज्ञान का क्रम

कर्म एक रासायनिक प्रक्रिया है। जैसे हमारी ग्रंथियों की रासायनिक प्रक्रिया होती है, वैसे ही कर्म की भी रासायनिक प्रक्रिया होती है। कर्म पौद्गलिक पदार्थ है। कर्म न तो कोई वासना है, न कोई संस्कार है। वासना और संस्कार हमारे ज्ञान के क्रम में होने वाली कड़ियां हैं।

हम किसी वस्तु को जानते हैं तो सबसे पहले अवग्रह होता है, उस वस्तु का सामान्य ग्रहण होता है। अवग्रह के बाद, ईहा होती है। गृहीत वस्तु पर विमर्श होता है कि यह वस्तु क्या है? कोई भी नई वस्तु को हमने देखा, जाना, ग्रहण किया, फिर विमर्श प्रारंभ होता है कि यह वस्तु क्या है? क्या होनी चाहिए?

विमर्श करते-करते हम निष्कर्ष पर पहुंचते हैं। अनेक संशयों से गुजरते हुए, अनेक तर्क-वितर्क की घाटियों को पार करते हुए, जब कोई निश्चित प्रमाण मिलता है, निश्चित आधार प्राप्त होता है, तब निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यह वस्तु अमुक है। यह अवाय है, निश्चयात्मक ज्ञान है। अब वस्तु के प्रति संशय नहीं रहता, निश्चय हो जाता है कि यह वही है। यह आदमी ही है, यह खंभा ही है, आदि-आदि।

निश्चय के पश्चात् धारणा होती है। यह चौथा क्रम है ज्ञान का। जो निश्चय होता है, वह हमारी धारणा में स्थिर हो जाता है। वह हमारे स्मृति-कोष्ठों में चला जाता है। धारणा लंबे समय तक टिक जाती है। अवग्रह में थोड़ा समय लगता है, किंतु धारणा दीर्घकाल तक चलती है। उसका समय सबसे लंबा है।

ग्रहण, विमर्श और निश्चय का कालमान अल्प होता है। धारणा का कालमान दीर्घ होता है। यह हजारों वर्षों तक बनी रह सकती है। धारणा का ही एक नाम है वासना। धारणा का ही एक नाम है संस्कार। धारणा का ही एक नाम है अविच्युति। वह च्युत नहीं होती। वह टिकी रहती है। वह वासना बन जाती है। वह संस्कार बन जाती है। वही धारणा, वासना या संस्कार, किसी निमित्त को पाकर जब उद्‌बुद्ध होती है तब स्मृति होती है। स्मृति का हेतु है वासना। स्मृति का हेतु है संस्कार। स्मृति का हेतु है धारणा।

स्मृति का आधार

धारणा अच्छी है या बुरी, इसका कोई प्रश्न नहीं है। धारणा अच्छा परिणाम देती है या बुरा परिणाम इसका भी प्रश्न नहीं है। वह मात्र स्मृति का कारण बनती है। कोई परिस्थिति, कोई परिवेश, कोई हेतु ऐसा मिला और जो बात स्मृति-कोष्ठ में थी, धारणा-पटल में थी, वह जाग गई और स्मृति के रूप में उभर आई। हमें ज्ञान हो गया कि यह वह है। जो शब्द सुना था, जो दृश्य देखा था, पूरा चित्र स्मृति के आधार पर हमारे सामने आ जाता है। मनोविज्ञान इसे 'स्मृति-चित्र' कहता है। स्मृति का प्रतिरूप हमारे सामने आ जाता है। जैसा देखा था, जैसा सुना था, वैसा का वैसा स्मृति-पटल पर उभर आता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि संगीत के जो मधुर स्वर कभी सुने थे, वे किसी निमित्त को पाकर स्मृति-पटल पर उभरते हैं और तत्काल कानों में वे स्वर गूंजने लग जाते हैं। यह केवल स्मृति है। इसी प्रकार जो दृश्य वर्षों पूर्व देखा था, जो स्मृति-पटल पर अंकित था, वह निमित्त के मिलते ही साक्षात्-सा हो जाता है। आकृति दिखने लग जाती है। मार्ग, मकान, बगीचे सबकुछ दीखने लग जाते हैं। ये सारे स्मृति के रूप हैं। ये सारे वासना और संस्कार के कार्य हैं। इसके साथ हम अच्छाई या बुराई को नहीं जोड़ सकते। यह वासना का कार्य नहीं है। संस्कार का भी यह कार्य नहीं है। प्रश्न होता है कि यह कार्य किसका है?

स्मृति के उभरने के बाद अच्छाई और बुराई को जोड़ने वाली एक तीसरी सत्ता है कर्म। कर्म न वासना है, न संस्कार है, न धारणा है और न स्मृति। वह इन सबसे भिन्न है, पृथक् है। वह भिन्न इसलिए है कि ज्ञान के क्रम में कर्म नहीं बनता। केवल ज्ञान का जो क्रम है, वहां कर्म की रचना नहीं होती, कर्म का संबंध हमारी आत्मा के साथ स्थापित नहीं होता। यह संबंध कब और कैसे स्थापित होता है, इस प्रश्न पर हमें विचार करना है।

कर्मबंध के हेतु

महावीर से पूछा गया–'भंते! कर्म का संबंध कितने स्थानों से होता है?'

महावीर ने कहा–'दो स्थानों से कर्म का संबंध होता है। एक स्थान है राग का और दूसरा स्थान है द्वेष का।' इन दो स्थानों से आत्मा के साथ कर्म का संबंध होता है। यह राग और द्वेष से स्थापित होने वाला संबंध है। कोरे ज्ञान से कोई संबंध नहीं होता, वासना से कोई संबंध नहीं होता, संस्कार से कोई संबंध नहीं होता, स्मृति से कोई संबंध नहीं होता। जब इनकी पृष्ठभूमि में राग नहीं होता, द्वेष नहीं होता तो कर्म का संबंध स्थापित नहीं होता। हम कितना ही जानें, कर्म का संबंध नहीं होगा। जैसे-जैसे चेतना का विकास होता चला जाएगा, जानने की हमारी क्षमता बढ़ती चली जाएगी, तब भी कर्म का कोई संबंध स्थापित नहीं होगा। कर्म का संबंध होगा राग से। कर्म का संबंध होगा द्वेष से।

दो प्रकार की अनुभूतियां हैं। एक है प्रीत्यात्मक अनुभूति और दूसरी है अप्रीत्यात्मक अनुभूति। प्रीत्यात्मक अनुभूति या संवेदना को राग और अप्रीत्यात्मक अनुभूति या संवेदना को द्वेष कहते हैं। प्रीति और अप्रीति के अतिरिक्त तीसरी कोई संवेदना नहीं होती। सारी अनुभूतियां, सारी संवेदनाएं–इन दो अनुभूतियों, इन दो संवेदनाओं में समा जाती हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ–इन्हीं का विस्तार हैं। भय, शोक, घृणा, हास्य, वासना (काम-वासना) सारे इन्हीं दो अनुभूतियों के विस्तार हैं, प्रपंच हैं, किंतु स्वतंत्र अनुभूतियां नहीं हैं। सारी अनुभूतियां इन दो में समा जाती हैं।

राग-द्वेष बीज हैं

जैन आचार्यों ने क्रोध और अभिमान को द्वेषात्मक अनुभूति और माया तथा लोभ को रागात्मक अनुभूति माना है। राग और द्वेष यह सामान्य वर्गीकरण है। जब विभिन्न दृष्टियों से विचार किया गया, नयों की दृष्टि से विचार किया गया तो इस वर्गीकरण का विस्तार हुआ। संग्रह नय की दृष्टि से दो वृत्तियां हैं, दो ही अनुभूतियां हैं। एक है रागात्मक, और दूसरी है द्वेषात्मक।

व्यवहार नय और ऋजुसूत्र नय की दृष्टि से विचार किया गया तो इस वर्गीकरण में परिवर्तन आ गया। यह फलित हुआ कि अभिमान द्वेषात्मक है, क्योंकि अभिमान जो है, वह दूसरे के गुणों के प्रति असहिष्णुता का प्रतीक है। व्यक्ति दूसरे को सहन नहीं कर पाता, इसलिए अभिमान पैदा होता है। यह द्वेष

है, अप्रीत्यात्मक संवेदना है, परंतु एक प्रश्न होता है, क्या मान प्रीत्यात्मक नहीं होता? मान प्रीत्यात्मक भी हो सकता है। दूसरे के प्रति हीनता का भाव है, असहिष्णुता का भाव है, इसलिए तो मान अप्रीत्यात्मक है, किंतु जब अपने उत्कर्ष की अनुभूति होती है, उस समय वह प्रीत्यात्मक बन जाता है। उत्कर्ष कितना अच्छा लगता है।

मानवीय चेतना जब अपने उत्कर्ष का अनुभव करती है, तब वह अनुभूति अप्रीत्यात्मक नहीं होती, वह प्रीत्यात्मक होती है, इसलिए मान प्रीत्यात्मक भी है और अप्रीत्यात्मक भी है। दूसरे की हीनता के प्रदर्शन में वह अप्रीत्यात्मक होता है और अपने उत्कर्ष की अनुभूति में वह प्रीत्यात्मक होता है।

माया को रागात्मक माना गया है। माया-काल में चेतना की जो अनुभूति होती है वह प्रिय लगती है, मैंने बहुत समझदारी से काम किया, वह परास्त हो गया, प्रताड़ित हो गया। उस समय सुखद अनुभव होता है, प्रीति का अनुभव होता है। माया प्रीत्यात्मक होती है। यह एक बात है।

माया वंचनात्मक चेतना है। यह दूसरे को ठगने का काम करती है। यह परोपघात है। जो परोपघात होगा, वह निश्चित ही अप्रीत्यात्मक होगा, द्वेषात्मक होगा। इस प्रकार माया की अनुभूति केवल प्रीत्यात्मक या रागात्मक ही नहीं है, वह अप्रीत्यात्मक या द्वेषात्मक भी है। इस प्रकार लोभ प्रीत्यात्मक तो है ही, क्योंकि वह एक आसक्ति है, कुछ लेने की भावना है, अपने लिए अर्जित करने की भावना है। बड़ी प्रियता है उसमें, किंतु जब दूसरे के स्व को हड़पने के लिए चेतना काम करती है, दूसरे के अधिकारों को छीनने की भावना होती है, दूसरे के अधिकार में आए हुए पदार्थ को छीनने की इच्छा होती है तब लोभ अप्रीत्यात्मक बन जाता है, परोपघाती बन जाता है।

माया, मान और लोभ, ये तीनों प्रीत्यात्मक और अप्रीत्यात्मक दोनों होते हैं। क्रोध ही एक ऐसा है, जो कोरा अप्रीत्यात्मक होता है। उसका संबंध है द्वेष से, अप्रीति से। प्रीति से उसका संबंध नहीं जुड़ता। राग से उसका संबंध नहीं जुड़ता। इस प्रकार हमारी सारी अनुभूतियां, हमारी सारी संवेदनाएं प्रीत्यात्मक या अप्रीत्यात्मक, इन दो चेतनाओं में समाहित हो जाती हैं। इन सारी अनुभूतियों या संवेदनाओं का कारण है रागात्मक और द्वेषात्मक चेतना। ये ही उन कर्म-पुद्गलों को आकृष्ट करते हैं। इनके अतिरिक्त कोई ऐसी शक्ति नहीं है, जो उन कर्म-पुद्गलों को अपनी ओर आकृष्ट कर सके। केवल इन दो

अनुभूतियों में वह शक्ति निहित है, जो उन कर्म-पुद्गलों को खींचती है और आत्मा के साथ उनका संबंध स्थापित करती है।

ऐसा क्यों होता है? क्या यह आत्मा के लिए इष्ट है? प्रश्न इष्ट और अनिष्ट का नहीं है। यह एक उलझन है, एक चक्र है, जिसका मुंह नहीं निकाला जा सकता। यह एक वलय है। पता नहीं लगाया जा सकता कि इसका आदि और अंत कहां है? मुंह और छोर कहां है? यह उलझन है कि क्या आत्मा में राग-द्वेष है, इसलिए कर्म-पुद्गल या कर्म आ रहे हैं, इसलिए राग-द्वेष चल रहा है। राग-द्वेष के आधार पर कर्म का प्रवेश और कर्म के आधार पर राग-द्वेष का जीवित रहना, चिरजीवी होना, यह एक वलय है। राग-द्वेष के चिरजीवन का कारण है कर्म और कर्म के प्रवेश का कारण है राग-द्वेष। यह एक पूरा चक्र है। यह निरंतर गतिमान है, कहीं टूटता नहीं। राग-द्वेष से कर्म और कर्म से राग-द्वेष चलता रहता है।

यह एक वृत्त है। इसमें सारी स्थितियां पलती जा रही हैं। यही वृत्त हमारे सभी आचरणों का आधार बनता है। यह स्थिति तब तक चलती रहती है, जब तक हम संज्ञातीत चेतना तक नहीं चले जाते, जब तक हमारी चेतना वीतराग नहीं बन जाती संज्ञातीत चेतना उपलब्ध नहीं होती, तब तक संज्ञा की चेतना, राग-द्वेष की चेतना चलती रहती है। यह चक्र निरंतर गतिशील रहता है। हमारे सारे आचरण उससे प्रभावित रहते हैं।

अतीत भी जिम्मेदार

हम किसी भी घटना या मानवीय आचरण की केवल परिस्थिति, हेतु या निमित्त के आधार पर व्याख्या नहीं कर सकते। केवल शारीरिक या रासायनिक परिवर्तनों के आधार पर व्याख्या नहीं कर सकते। उनकी व्याख्या के लिए हमें अतीत को देखना होता है। दूसरे शब्दों में, कर्म के विपाक की व्याख्या करने के लिए, हमें कर्म के बीज को देखना होगा। हमें देखना होगा कि इस विपाक या परिणाम का बीज कहां और क्या है? उसके बिना उसकी पूरी व्याख्या नहीं की जा सकती। कभी-कभी हमें लगता है कि यह आकस्मिक हो गया, किंतु कुछ भी आकस्मिक नहीं होता। उसके पीछे एक हेतु होता है, एक कारण होता है। छिपा हुआ जो बीज है, वह कारण है। कारण को हम जब तक ठीक नहीं समझ लेते, तब तक उस आचरण का ठीक चित्र प्रस्तुत नहीं कर सकते।

एक आदमी सामान्य जीवन जीते-जीते एक असामान्य आचरण कर

लेता है। हम आश्चर्य में पड़ जाते हैं कि अरे, वह बहुत बड़ा आदमी था। ऐसा काम वह कर नहीं सकता। उससे ऐसा काम हो नहीं सकता। हम एक आश्चर्य के कारण उस व्यक्ति के साथ उस आचरण का संबंध जोड़ना नहीं चाहते, किंतु तोड़ना चाहते हैं। यह कोई आश्चर्य नहीं है। आप पचास वर्ष के जीवन को देखकर, वर्तमान और आंखों के सामने गुजरने वाले जीवन को देखकर इतना आश्चर्य नहीं कर सकते।

यदि हमारा जीवन केवल पचास वर्ष का ही जीवन होता तो सहज ही हमें यह आश्चर्य हो सकता था कि ऐसा नहीं होना चाहिए था, किंतु यह आश्चर्य ही एक बिंदु है और उस बिंदु पर हम पहुंचकर कुछ रुक सकते हैं तथा अतीत की ओर लौटने को बाध्य हो सकते हैं। तब हमें ज्ञात होता है कि इस व्यक्ति का जीवन पचास वर्ष का ही नहीं है, और पीछे का है। इसका तात्पर्य यह है कि इस व्यक्ति का आचरण, पचास वर्ष में होने वाले जो व्यवहार हैं, उनका प्रतिफलन ही नहीं है, किंतु यह और किसी तत्त्व का प्रतिफलन है, जहां से कि यह फलित हो रहा है।

अतीत का दर्शन बहुत विचित्र होता है। आप यह न माने कि वर्तमान का क्षण समाप्त होते ही सबकुछ समाप्त हो जाता है। संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं–विनाशी और अविनाशी, नश्वर और अनश्वर, नित्य और अनित्य। हम केवल नित्य को ही मानकर न चलें, केवल अनित्य को ही मानकर न चलें। नित्य और अनित्य, नश्वर और अनश्वर, शाश्वत और अशाश्वत दोनों की संगति के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकालें तो हमारे निष्कर्ष सही होंगे, अन्यथा वे निष्कर्ष गलत साबित होंगे। यह नित्य और अनित्य की जो युति है, क्षणिक और अक्षणिक की जो युति है, उस युति के आधार पर हम निष्कर्ष निकालें तो वह यह होगा कि जिसका अस्तित्व है वह कुछ भी नष्ट नहीं होता। विज्ञान की भाषा में कहा जाता है कि ऊर्जा कभी नष्ट नहीं होती। पदार्थ भी कभी नष्ट नहीं होता। जो जितना है, वह उतना ही था और उतना ही रहेगा।

भगवान महावीर ने यही कहा–'द्रव्य कभी नष्ट नहीं होता, पर्याय बदलती रहती है।' यह परिवर्तनशील है। उसमें रूपांतरण होता रहता है। मूल कभी नष्ट नहीं होता। सत्ता कभी नष्ट नहीं होती। जिसका अस्तित्व स्थापित है, वह कभी नष्ट नहीं होता। अनेक पर्याय भी चिरकालिक होते हैं। वे भी तत्काल नष्ट नहीं होते।

हमारे शरीर से तदाकार प्रतिकृतियां निकलती हैं। प्रत्येक प्राणी के शरीर से ही नहीं, किंतु प्रत्येक पदार्थ से उसी आकार की प्रतिकृतियां निकलती हैं और वे आकाश में फैल जाती हैं। हमारे चिंतन की प्रतिकृतियां निकलती हैं, उनके चित्र निकलते हैं और वे सब आकाश में फैल जाते हैं। हम बोलते हैं। भाषा के पुद्गल आकाश में फैल जाते हैं और वे हजारों-हजारों वर्षों तक उसी रूप में बने रहते हैं। यही तो आधार बनता है अतीत की यात्रा का। यही चौथे आयाम का आधार बनता है।

अतीत का साक्षात्

आज हम अपनी चेतना को विकसित करें, अवधिज्ञान और मनःपर्यव ज्ञान का विकास करें, जिससे कि हजारों वर्ष पहले के शरीर की आकृतियों को देख सकें, उसे साक्षात् कर सकें। हजारों-हजारों वर्ष पहले की, जो चिंतन की प्रतिकृतियां हैं, उनको देखकर हम उन विचारों को जान सकें। हजारों-हजारों वर्ष पहले बोली गई भाषा की जो वर्गणाएं हैं, भाषा के जो पुद्गल हैं, उन पुद्गलों को हम सुन सकें। हम देख सकें और पढ़ सकें कि ये भाषा की प्रतिकृतियां हैं, ये मन की प्रतिकृतियां हैं और ये शरीर की प्रतिकृतियां हैं। चेतना के विकास के द्वारा यह संभाव्य है। ऐसा भी संभव है कि कोई वैज्ञानिक सूक्ष्मतम यंत्रों का आविष्कार कर, उनके माध्यम से यह संभव बना सके।

वैज्ञानिक जगत में यह प्रयत्न चल रहा है कि राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध आदि महापुरुषों की वाणी के पुद्गलों को पकड़कर हम उन्हें साक्षात् सुनें। प्रयत्न चल रहा है। सफल कब होंगे, यह कहा नहीं जा सकता, पर ऐसा होना संभव है। यह असंभव बात नहीं है। संभव है, क्योंकि आधार निश्चित है। जब भाषा मौजूद है तो प्रश्न भाषा का नहीं रहा, प्रश्न उसे पकड़ने का रहा। यदि हमें पकड़ने का अच्छा माध्यम मिल जाए तो हम शब्दों को सुन सकते हैं, आकृतियों को साक्षात् देख सकते हैं।

आत्मा को नहीं देख सकते, किंतु उन महापुरुषों के शरीर की आकृतियों को देख सकते हैं। उनके द्वारा जो सोचा गया था, जो कहा गया था, उसे जान सकते हैं, पढ़ सकते हैं।

इसी प्रकार कर्म के जो परमाणु हैं, जो आत्मा के साथ संबंध स्थापित करते हैं और विपाक के बाद वापस चले जाते हैं, वे भी आकाश में भरे हुए हैं। उनके आधार पर भी यह निर्णय लिया जा सकता है कि इस व्यक्ति का यह

विपाक है तो इसने अतीत में क्या किया था और किस प्रकार, कितनी मात्रा के राग-द्वेष के द्वारा, इन पुद्गलों के द्वारा आत्मा के साथ संबंध स्थापित किया था। इनका किस प्रकार का विपाक हुआ यह भी जाना जा सकता है।

हमने सुना है, पढ़ा है कि एक व्यक्ति अतीन्द्रियज्ञानी ऋषि-मुनि के पास जाता है और पूछता है–'भंते! अभी मैं यह विपाक भोग रहा हूं। आप मुझे बताएं कि मैंने क्या किया था, जिसका यह विपाक मुझे भोगना पड़ रहा है? यह किसका परिणाम है।' तब वे अतीन्द्रियज्ञानी कहते हैं–'तुमने अमुक जीवन में अमुक प्रवृत्ति की थी, उसी का यह परिणाम है, विपाक है।'

भगवान महावीर के पास सम्राट श्रेणिक का पुत्र मेघकुमार दीक्षित हुआ। वह मुनि बना। जीवन के प्रति कुछ अधीरता हो गई। वह भगवान के पास आया और बोला–'भंते! आपका साधुत्व आप संभालें। मैं घर जा रहा हूं।' महावीर ने कहा–'मेघकुमार! बहुत आश्चर्य की बात है। आज तुम मनुष्य हो, एक सम्राट के पुत्र हो, मेरे शिष्य हो। मुनि बन गए, फिर भी थोड़े से कष्ट से घबरा गए। तुम इतने अधीर हो गए? तुम्हें याद नहीं है, हाथी के जन्म में तुमने कितने भयंकर कष्ट सहे थे? क्या तुम भूल गए?' भूला कौन था? कोई भूला नहीं था। बस, जो छिपा पड़ा था, उसकी स्मृति दिलाने की जरूरत थी। मेघकुमार को पुनर्जन्म की स्मृति हो गई। हाथी के जन्म के सारे कष्ट चित्रवत् प्रत्यक्ष हो गए। अब सबकुछ ठीक हो गया।

हम अतीत से विच्छिन्न होकर केवल वर्तमान की व्याख्या नहीं कर सकते। प्रवृत्ति और परिणाम–इन दोनों को तोड़ा नहीं जा सकता। जो परिणाम आज दृश्य है, उसके पीछे प्रवृत्ति है। परिणाम और प्रवृत्ति, प्रवृत्ति और परिणाम। आज की प्रवृत्ति, अतीत का परिणाम। आज का परिणाम, अतीत की प्रवृत्ति। जो वर्तमान क्षण की प्रवृत्ति है, उसके पीछे अतीत का संबंध जुड़ा हुआ है, इसलिए वह परिणाम और भावी परिणाम का हेतु भी है। इसलिए वह प्रवृत्ति भी है, वह परिणाम भी है। वह कार्य और कारण भी है। अतीत का कारण उसके पीछे है, इसलिए वह कार्य और भविष्य के कार्य का हेतु है, इसलिए वह कारण भी है।

वर्तमान में रहना

हम वर्तमान, अतीत और भविष्य–इन तीनों की संघटना में जी सकते हैं और सत्य को पकड़ सकते हैं। केवल वर्तमान के द्वारा नहीं पकड़ सकते। साधना का एक सूत्र है वर्तमान में रहो, वर्तमान में रहना सीखो। बहुत सुंदर बात

है साधना की दृष्टि से। साधना की दृष्टि से वर्तमान में रहना यानी भावक्रिया करना। जिस समय जो काम कर रहे हैं, उसी में रहना, न अतीत में जाना, न स्मृति में जाना और न भविष्य में जाना, न कल्पना में जाना। कल्पना की उड़ान भी नहीं भरना और स्मृति के समुद्र में गोते भी नहीं लगाना है, किंतु वर्तमान के बिंदु पर खड़े रहना है, स्थिर रहना है।

साधना की दृष्टि से बहुत अच्छा है वर्तमान में रहना। हम अतीत के पंख और भविष्य के पंख को भी तोड़ डालें। दोनों पंखों को तोड़ डालें। केवल वर्तमान में रहें, किंतु जहां कार्य-कारण की मीमांसा है, जहां सचाई को उद्घाटित करने का प्रश्न है, वहां केवल वर्तमान से काम नहीं चल सकता। वहां अतीत का भी उतना ही महत्त्व है, जितना कि वर्तमान का। वहां भविष्य भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना वर्तमान महत्त्वपूर्ण है। काल की अखंडता को लेकर ही हम कार्य, कारण, प्रवृत्ति और परिणाम को जान सकते हैं। काल की अखंडता के द्वारा ही हम उन्हें ठीक से समझ सकते हैं, पकड़ सकते हैं।

कर्म का संबंध अतीत से इसलिए है कि वह दीर्घकाल तक आत्मा के साथ जुड़ा रहता है। वह संबंध स्थापित करता है और संबंध स्थापित करने के बाद लंबे समय तक जुड़ा रहता है। कर्म का संबंध वर्तमान से इसलिए है कि वह लंबे समय तक साथ रहने के बाद एक दिन विसर्जित हो जाता है, सदा साथ नहीं रहता। जो आगंतुक होता है, वह सदा साथ नहीं रहता। सदा साथ वही रह सकता है, जो स्थाई है। स्थाई वही रह सकता है, जो सहज होता है। जो आया हुआ है, वह सहज नहीं होता। कर्म सहज नहीं होता, वह स्वभाव नहीं है। सहज है चेतना। सहज है आनंद। सहज है शक्ति। आत्मा का जो स्वाभाविक गुण है, वह है चैतन्य। कर्म आया हुआ है, सहज नहीं है। वह एक दिन आता है, संबंध स्थापित करता है और जब तक अपना प्रभाव पूरा नहीं डाल देता, तब तक बना रहता है।

जिस दिन अपना प्रभाव डाल दिया, उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है और वह चला जाता है, विसर्जित हो जाता है। विसर्जित होने का क्षण वर्तमान का क्षण है और आने का क्षण अतीत का क्षण है। विनाश का क्षण वर्तमान का क्षण है और संबंध-स्थापना का क्षण अतीत का क्षण है। इन दोनों क्षणों की हम ठीक व्याख्या करें तो कर्म का पूरा सिद्धांत हमारी समझ में आ सकेगा। इन दोनों की लंबाई में हमें कर्म की यात्रा करनी है।

३. कर्म की रासायनिक प्रक्रिया (१)

आत्मा अमूर्त है और कर्म मूर्त। अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म का संबंध कैसे स्थापित होता है। सहज ही यह प्रश्न उभरता है, किंतु अमूर्त और मूर्त में ऐसा विरोध नहीं है कि अमूर्त के साथ मूर्त का संबंध न हो। संबंध हो सकता है। आकाश अमूर्त है, किंतु आकाश का योग प्रत्येक पदार्थ को मिलता है। पदार्थों के आधार पर आकाश का विभाजन होता है। तर्कशास्त्र के प्रसिद्ध शब्द हैं, घटाकाश, पटाकाश। आकाश असीम है, फिर भी एक है घड़े का आकाश, एक है कपड़े का आकाश, एक है मकान का आकाश और न जाने पदार्थों के आधार पर आकाश की कितनी सीमाएं बन जाती हैं। आकाश का अवगाह, आकाश का आधार प्रत्येक पदार्थ को मिलता है।

आकाश से सब द्रव्य उपकृत हैं। यदि आकाश नहीं होता, यह शून्य नहीं होता तो कहीं भी रहने का स्थान नहीं होता। अमूर्त का मूर्त के प्रति उपकार है और मूर्त के द्वारा अमूर्त का परिणमन भी होता है, इसलिए यह बात मान्य नहीं हो सकती कि अमूर्त का मूर्त से कोई संबंध स्थापित नहीं हो सकता। अचेतन और चेतन में भी संबंध स्थापित होता है।

चेतन का अचेतन के प्रति कुछ उपकार है तो अचेतन का भी चेतन के प्रति उपकार है। दोनों एक-दूसरे से उपकृत होते हैं। उपकार की बात को शायद आप स्वीकार कर लें, यह संभव है, किंतु प्रश्न है, एकात्मकता का। यह एकात्मकता कैसे स्थापित होती है? आत्मा और कर्म में, चेतना और पुद्गल में एकात्मकता कैसे स्थापित हो सकती है? ये एक कैसे बन सकते हैं? एकात्मकता दो विरोधी द्रव्यों में कभी नहीं होती। एकात्मकता नहीं होती, संबंध हो सकता है। तादात्म्य नहीं हो सकता, संबंध हो सकता है।

कर्म के पुद्गल कभी चेतन नहीं बन सकते और चेतन कभी कर्म पुद्गल नहीं बन सकता। उनमें एकात्म-भाव नहीं हो सकता। पुद्गल पुद्गल ही रहेंगे,

कर्म कर्म ही रहेंगे, चेतना चेतना ही रहेगी। कर्म-पुद्गलों के द्वारा चेतना के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होगा। दोनों का संयोग हो सकता है। दोनों का संबंध हो सकता है। संयोगकृत या संबंधकृत परिवर्तन दोनों में होगा। चेतना कर्म-पुद्गलों की निमित्त बनेगी और कर्म-पुद्गल चेतना के निमित्त बनेंगे।

उपादान में परिवर्तन नहीं

परिवर्तन स्वभावगत होता है। कर्तृत्व उपादानगत होता है। चेतना का अपना उपादान है और कर्म-पुद्गलों का अपना उपादान है। उपादान में कोई परिवर्तन नहीं ला सकता। चेतना के उपादान में कर्म परिवर्तन नहीं ला सकते और कर्म के उपादान में, पौद्गलिक तत्त्व के उपादान में चेतना कोई परिवर्तन नहीं ला सकती। उपादान अपना-अपना रहेगा। केवल निमित्तों का परिवर्तन होगा।

चेतना के जो उपादान हैं, उनको कुछ बदलने में कर्म निमित्त बन सकते हैं और कर्म-पुद्गलों के जो उपादान हैं, उनके कुछ परिवर्तन में चेतना निमित्त बन सकती है।

आत्मा के उपादान हैं–ज्ञान, दर्शन, आनंद और शक्ति। आत्मा का मौलिक स्वरूप है ज्ञान, दर्शन, आनंद और शक्ति। ये ही आत्मा के मौलिक उपादान हैं। ये कभी नहीं बदलते। कितने ही कर्म-परमाणु लग जाएं, इनमें परिवर्तन नहीं ला सकते। इनके अस्तित्व में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।

पुद्गल के उपादान चार हैं–वर्ण, गंध, रस और स्पर्श। आत्मा का कितना ही निमित्त मिले, पुद्गल का वर्ण कभी समाप्त नहीं होगा, गंध समाप्त नहीं होगी, रस समाप्त नहीं होगा, स्पर्श समाप्त नहीं होगा। आत्मा इनमें परिवर्तन नहीं ला सकती। आत्मा के निमित्त से इन उपादानों की तनिक भी क्षति नहीं हो सकती। तो यह प्रश्न होता है कि आत्मा और कर्म में क्या संबंध है? एक-दूसरे पर क्या उपकार है? एक-दूसरे पर क्या प्रभाव है? यह सत्तागत कुछ भी नहीं, उपादानगत कुछ भी नहीं। निमित्त की सीमा में जितना हो सकता है, उतना ही होगा। उसकी भी एक सीमा है।

संसार में असीम कुछ भी नहीं है। हर शक्ति की एक सीमा है। हम उसे अनंत भी कह सकते हैं। अपनी सीमा में आकाश अनंत है, असीम है, किंतु जहां आत्मा का अस्तित्व है, वहां आकाश नहीं है। जहां धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय का अस्तित्व है, वहां आकाश का अस्तित्व नहीं है। वह अपने क्षेत्र में है, अपने अस्तित्व में है। आकाश अपने

अस्तित्व में है, किंतु जहां दूसरे द्रव्यों का अस्तित्व है, वहां आकाश नहीं है। यह अस्तित्व की भी एक सीमा है।

पदार्थ की अस्तित्वगत एक सीमा होती है। अस्तित्व की सीमा में सब हैं। अस्तित्व कुछ भी नहीं बदलता। केवल परिधि में सारे परिवर्तन होते हैं। परिवर्तन परिधिगत होते हैं। परिधियां बदलती रहती हैं, केन्द्र नहीं बदलता। कर्म का निमित्त मिलता है तो अमूर्त मूर्त रूप में व्यवहृत होने लग जाता है। कर्म का निमित्त मिलता है तो चेतन अचेतन रूप में व्यवहृत होने लग जाता है। इसीलिए आत्मा को पुद्गल भी कहा जाता है, मूर्त भी कहा जाता है।

आत्मा अमूर्त है, चेतनामय है, अखंड चेतनावान है, यह हमारी भविष्य की अवधारणा है। यह वह धारणा है, जिस दिन सब कर्मों का वियोग हो जाएगा, कर्म परमाणुओं के साथ जो संबंध स्थापित हैं, वे सब टूट जाएंगे, भावकर्म (आस्रव) समाप्त हो जाएंगे और साथ-साथ द्रव्यकर्म (कर्मपुद्गल) भी समाप्त हो जाएंगे, उस स्थिति में आत्मा अखंड ज्योतिर्मय, अखंड चैतन्यमय और पूर्ण सूर्य के रूप में प्रकट होगा।

जहां कोई आवरण नहीं होता, अचेतन का कोई संबंध नहीं होता, केवल चेतना ही चेतना, उस दिन आत्मा अमूर्त होगा, पूर्ण अमूर्त, जहां किसी मूर्त का कोई अंश नहीं है। मूर्त ही तो अमूर्त को मूर्त बनाता है। जिस दिन वह मूर्त सर्वथा छूट जाएगा, तब शेष रहेगा अमूर्त, केवल अमूर्त। तब न कोई आकार होगा, न कोई प्रकार होगा, न कोई मूर्त होगा, कुछ भी नहीं, केवल अमूर्त।

जिस स्थिति में संसारी आत्माएं हैं, वे अमूर्त नहीं हैं। वे संसार में कब से हैं, यह हम नहीं जानते। उसका हमें कोई पता नहीं है। उस स्थिति में शुद्ध नय की दृष्टि से हम यह नहीं कह सकते कि आत्मा अमूर्त है और हम यह भी नहीं कह सकते कि आत्मा अखंड चैतन्य वाली है। वह दो का मिला-जुला रूप है। अमूर्त है तो साथ में मूर्त भी जुड़ा हुआ है। वह चेतनावान है तो साथ में उस पर अचेतन द्रव्य का आवरण भी है, इसलिए चेतना की पूर्ण सत्ता नहीं है। वहां अचेतन का भी कुछ अस्तित्व है।

आत्मा के साथ भावकर्म का योग है। एक है भावकर्म और दूसरा है द्रव्यकर्म। भावकर्म का एक शारीरिक आकार, जो कि भावकर्म का संवादी कार्य करता है, इसे हम द्रव्यकर्म या पौद्गलिक कर्म कह सकते हैं। भावकर्म और द्रव्यकर्म, भावचित्त और पौद्गलिक चित्त–इनमें पूरी संवादिता है,

विसंवादिता नहीं। द्रव्यकर्म भावकर्म का प्रतिबिंब है। चित्त का जैसा निर्माण होता है, वैसे ही पुद्गल का निर्माण होता है।

चेतना पर कर्म का इतना घना आवरण है कि ज्ञान की शक्ति आवृत हो गई। बहुत आवृत हो गई, केवल जीव का एक अंश बचा उस आवरण से, जिससे कि जीव का अस्तित्व सुरक्षित रह सके। वैसे ही कर्म का आकार बना, ठीक उसका संवादी स्थूल शरीर बना और वह एक इन्द्रिय वाला जीव बन गया। एकेन्द्रिय जीव होने का मतलब क्या है? न्यूनतम चेतना का विकास। प्रश्न होता है कि न्यूनतम चेतना का विकास एकेन्द्रिय जीव में ही क्यों होता है?

द्रव्य-कर्म और भाव-कर्म

वैज्ञानिक यही मानेंगे कि जीव के जिस प्रकार के गुणसूत्र थे, उसी प्रकार के जीव की संरचना हो गई। वैज्ञानिक व्याख्या तो यहां तक पहुंची है, किंतु कर्मशास्त्रीय व्याख्या बहुत दूर गहराई में चली जाती है। उसके अनुसार चेतना का निर्माण, चित्त या भावकर्म का निर्माण इसलिए हुआ कि उसमें राग-द्वेष बहुत प्रबल हो गए। उस राग-द्वेष की प्रबलता ने ऐसे चित्त का निर्माण किया कि चेतना सघन नींद में चली गई। इस नींद का पारिभाषिक नाम है—स्त्यानर्द्धि निद्रा। वैसी नींद जिसमें चेतना स्त्यान हो जाती है, जम जाती है, सघन हो जाती है। उस स्थिति में चेतना इतनी प्रगाढ़ निद्रा में चली गई है कि मात्र चेतना का एक छोटा-सा अंश अनावृत बचा और वह भी इसलिए कि जीव का अस्तित्व कभी मिटता नहीं है। यदि वह अंश भी आवृत हो जाए, जम जाए तो संभव है जीव अजीव बन जाए।

जीव और अजीव के बीच की भेदरेखा भी तो यही है। वह भी समाप्त हो जाए, यह कभी हो नहीं सकता। इसीलिए चेतना का थोड़ा-सा प्रकाश बचा रहता है। वह प्रकाश उस भावचित्त में बचा। उस भावचित्त ने प्रभावित किया पुद्गलों को, तो सूक्ष्म शरीर भी वैसा ही बन गया, पौद्गलिक चित्त भी वैसा ही बन गया, कर्मचित्त भी वैसा ही बन गया। उसने चेतना के अणु-अणु पर जो ज्ञान के स्रोत थे, अपना आवरण डाल दिया, सब पर आवरण डाल देने पर भावकर्म का संवादी द्रव्यकर्म (पौद्गलिक कर्म) और पौद्गलिक कर्म का (सूक्ष्म शरीर का या कर्म शरीर का) संवादी बना स्थूल शरीर। उसमें एकमात्र स्पर्शन इन्द्रिय का प्रकाश रहा। एक स्पर्शन इन्द्रिय को स्थान मिला, शेष सारी इन्द्रियां समाप्त।

आप यह न मानें कि जिसे हम एकेन्द्रिय कहते हैं, वह एक ही इन्द्रिय वाला होता है। उसमें अन्य इन्द्रियों का बोध भी होता है, किंतु उनका आकार नहीं बनता। आकार इसलिए नहीं बनता कि इन्द्रियों के पूरे विकास की क्षमता उस सूक्ष्म शरीर में नहीं है। सूक्ष्म शरीर में जब इन्द्रिय-विकास की पूरी क्षमता नहीं है, पूरा विकास नहीं है तो स्थूल शरीर उसका संवादी नहीं होता, उसमें उसके आकार नहीं बनते। आकार के बिना इन्द्रिय-बोध भी स्पष्ट नहीं होता। एकेन्द्रिय जीव में भी पांचों इन्द्रियों का अस्पष्ट बोध होता है। उन्हें स्पष्ट बोध इसलिए नहीं होता कि उन इन्द्रियों के स्थान विकसित नहीं होते। शरीर में इन्द्रियों के जो स्थान हैं, जो कोशिकाएं हैं, वे सक्रिय नहीं होतीं, विकसित नहीं होतीं, इसलिए स्पष्ट ज्ञान का अभाव रहता है।

भावकर्म या आश्रव

यह एक शृंखला है। भावचित्त का संवादी होता है पौद्गलिक चित्त और पौद्गलिक चित्त का संवादी होता है स्थूलशरीर। स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर और भावशरीर (कर्मशरीर)–इन तीनों में परस्पर संवादिता है। एक जैसा होता है, दूसरा भी वैसा ही होता है और दूसरा जैसा होता है, तीसरा भी वैसा ही होता है। हम इस सचाई को न भूलें कि सूक्ष्म जगत में जिस प्रकार के चित्त का निर्माण होता है, जिस प्रकार का भावकर्म होता है, वैसा ही पौद्गलिक कर्म होता है। आत्मा कभी पुद्गल को आकर्षित नहीं करती, क्योंकि आत्मा के पास पुद्गल को आकर्षित करने की कोई शक्ति नहीं है, किंतु एक माध्यम है उसके पास, जिसके द्वारा वह पुद्गल को आकर्षित करती है। वह माध्यम है भावकर्म या आस्रव। भावकर्म या आस्रव पांच हैं–मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। ये पांच शक्तियां हैं पुद्गलों को आकर्षित करने वाली। ये हमारे पांच चित्त हैं। एक चित्त है मिथ्यात्व का, एक चित्त है अविरति का, एक चित्त है प्रमाद का, एक चित्त है कषाय का और एक चित्त है योग का। इन पांचों चित्त का निर्माण होता है और समय-समय पर ये चित्त मंद-तीव्र होते रहते हैं। जिस प्रकार के चित्त होते हैं, उसी प्रकार के द्रव्यचित्तों, पौद्गलिक चित्तों का निर्माण होता चला जाता है और संबंध की संरचना होती चली जाती है।

जागरूक रहें

आस्रवों के बिना कर्मों का आकर्षण नहीं हो सकता और न कर्मों का एक विशेष संरचनात्मक रूप ही बन सकता है। हम पुद्गलों को आकर्षित करते हैं

और एक विशेष प्रकार का उन्हें रूप देते हैं। ये दोनों काम भावचित्त के बिना या भावकर्म के बिना नहीं हो सकते। इसीलिए हम कर्म पर बहुत चिंतित नहीं होते, किंतु भावचित्त पर ज्यादा चिंतित होते हैं, भावकर्म पर ज्यादा ध्यान देते हैं। राग-द्वेष का प्रत्येक क्षण कर्म-आकर्षण या कर्म-बंध का क्षण है। हम साधना की दृष्टि से जब विचार करते हैं, तब इस बात से चिंतित न हों कि कर्म का बहुत आकर्षण होता है या हो रहा है, किंतु जो राग-द्वेष का क्षण कर्म को आकृष्ट करता है, उसके प्रति जागरूक हों।

हम बहुत बार कहते हैं—जागरूक रहें, अप्रमत्त रहें। प्रश्न होता है किसके प्रति जागरूक रहें? किसके प्रति अप्रमत्त रहें? हम उस क्षण के प्रति जागरूक रहें, जिस क्षण में राग-द्वेष उत्पन्न होता है। राग-द्वेष का क्षण हिंसा का क्षण है। राग-द्वेष का क्षण ही असत्य का क्षण है। राग-द्वेष का क्षण ही चौर्य का क्षण है। राग-द्वेष का क्षण ही अब्रह्मचर्य का क्षण है। राग-द्वेष का क्षण ही परिग्रह का क्षण है। जितने भी दोष हैं, उन सबका क्षण है राग-द्वेष का क्षण। राग-द्वेष का क्षण ही समूची कर्म-वर्गणाओं के आकर्षण का क्षण है, इसलिए साधना के क्षेत्र में जागरूकता का अर्थ है उस राग-द्वेष के क्षण के प्रति जागरूक रहना जो कर्मों को आकर्षित करता है और अनेक आचरणों के माध्यम से करता है। उस क्षण के प्रति हम जागरूक रहें, तटस्थ रहें, सामायिक करें, समभाव में रहें। जागरूकता का अर्थ इतना ही नहीं है कि हम नींद न लें। नींद नहीं लेने का ही नाम जागरूकता हो तो एक मजदूर जो आठ-दस-घंटे कठोर श्रम करता है, वह पूर्ण जागरूक है, जागृत है। वह नींद कहां लेता है? बेचारे को नींद लेने का कोई क्षण ही प्राप्त नहीं होता। वह पूरा जागृत है और पूर्ण जागरूकता से अपने काम में लगा हुआ है, किंतु साधना की दृष्टि से जागरूक रहने का अर्थ है किसी भी क्षण में राग-द्वेष को उत्पन्न न होने देना।

ध्यान का क्षण

राग और द्वेष का अक्षण ही तटस्थता का क्षण है। राग और द्वेष का अक्षण ही ध्यान का क्षण है। इसके अतिरिक्त कोई ध्यान नहीं है। हम प्राणायाम करें या प्रेक्षा करें, शरीर को देखें या पदार्थ को देखें, अनिमेष दृष्टि रखें या आंख मूंदकर साधना करें यह ध्यान नहीं है। यह तो मात्र ध्यान का आलंबन है। ध्यान वह है कि जिसमें राग और द्वेष का कोई क्षण ही न आए। राग और द्वेष के क्षण का न आना ही यथार्थ में ध्यान है। अन्यथा सारी क्रियाएं बाह्य क्रियाएं हैं,

केवल शारीरिक क्रियाएं हैं। वे निष्प्राण क्रियाएं हैं। उनसे वह अर्थ सिद्ध नहीं होता, जो ध्यान के द्वारा होता है। वे क्रियाएं अधिक से अधिक आगे बढ़ती हैं तो प्राणशक्ति क्रियाएं बन जाती हैं, जो प्राणी को प्रभावित करने वाली या प्राणशक्ति के कुछ चमत्कार दिखाने वाली सिद्ध हो सकती हैं।

जो चमत्कार प्रचलित हैं, वे सारे के सारे प्राणशक्ति के चमत्कार हैं, प्राणिक चमत्कार हैं, किंतु जिन क्रियाओं के द्वारा मनुष्य के चरित्र में परिवर्तन होना चाहिए, आवेगों और संवेगों में परिवर्तन होना चाहिए, जिनके द्वारा क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, घृणा–इनमें परिवर्तन होना चाहिए, वह केवल ध्यान के द्वारा नहीं हो सकता। यदि हम राग-द्वेष के क्षण के प्रति जागरूक नहीं हैं, यदि हम भावकर्म के प्रति जागरूक नहीं हैं तो आने वाले उन पौद्गलिक कर्मों को हम रोक नहीं सकते और उनको रोके बिना, वे आने वाले कर्म अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकते, निमित्त बने बिना नहीं रह सकते। यदि वे निमित्त बनेंगे तो राग-द्वेष का चक्र चलना बंद नहीं होगा।

द्रव्य और भावकर्म की संधि

भावकर्म द्रव्यकर्मों को प्रभावित करते हैं और द्रव्यकर्म (पौद्गलिक कर्म) भावकर्म को। दोनों की ऐसी संधि है कि दोनों एक-दूसरे का परस्पर सहयोग करते हैं। दोनों एक-दूसरे को जीवनी-शक्ति दे रहे हैं। दोनों में एक समझौता है। भावकर्म द्रव्यकर्मों को जीवित रख रहे हैं और द्रव्यकर्म भावकर्मों को। साधना में यही करना है कि 'येन-केन प्रकारेण' हम इन दोनों की संधि को छिन्न-भिन्न कर सकें, तोड़ सकें। या हम दोनों में एक ऐसा विभेद पैदा कर दें, जिससे कि भावकर्म एक ओर हो जाए और द्रव्यकर्म एक ओर हो जाए। दोनों में ऐसी भेदवृत्ति जाग जाए, जिससे कि अनादिकाल से चली आ रही उनकी संधि में दरार पड़ जाए, हम इस बांध में ऐसा कोई छेद कर दें, जिससे बांध का पानी बह जाए और बांध पूरा खाली हो जाए।

यदि साधना के हार्द को हम समझ सकें तो इस प्रक्रिया को करना ही होगा। यह वास्तविकता है कि कर्म के मर्म को समझे बिना कोई साधना के मर्म को समझ नहीं सकता। आज मैं कर्म की चर्चा कर रहा हूं तो वह कुछ साधकों को आश्चर्यकारी लग सकता है और उनके मन में यह प्रश्न भी हो सकता है कि साधना के क्षेत्र में कर्म की चर्चा का क्या प्रयोजन है?

मैं समझता हूं कि कर्म के रहस्यों को पकड़े बिना साधना के रहस्य को

समझा ही नहीं जा सकता। साधना केवल आकाशीय उड़ान नहीं है। यह गहराई में जाने की प्रवृत्ति है, जहां जाकर हम अपने वास्तविक अस्तित्व को पहचान सकते हैं, पकड़ सकते हैं, इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि हम मूल स्रोत को पकड़ें। कर्म मूल स्रोत है, किंतु कर्मों का भी मूल स्रोत है भावकर्म। भावकर्म को समझे बिना साधना की कोई बात समझ में नहीं आ सकती।

भावकर्म के द्वारा द्रव्यकर्मों का आकर्षण होता है। भावकर्म है जैविक रासायनिक प्रक्रिया, जीव में होने वाली रासायनिक प्रक्रिया और द्रव्यकर्म सूक्ष्म शरीर की रासायनिक प्रक्रिया है। एक जैविक और एक पौद्गलिक है। दोनों में संबंध स्थापित होता है। दोनों प्रक्रियाएं एक-दूसरे से प्रभावित होती हैं। जैविक रासायनिक प्रक्रिया के साथ सूक्ष्म शरीर की रासायनिक प्रक्रिया का योग है। सूक्ष्म शरीर की रासायनिक प्रक्रिया के साथ जैविक रासायनिक प्रक्रिया का योग है। इसीलिए संबंध स्थापित होता है। यदि दोनों में संबंध न हो तो वे एक-दूसरे को प्रभावित नहीं कर सकती।

चन्द्रमा और मनुष्य का संबंध

चन्द्रमा मनुष्य को प्रभावित करता है। वैज्ञानिक खोज से यह ज्ञात हो गया है कि मनुष्य के शरीर में संभवतया सत्तर से अधिक प्रतिशत जल का भाग है। चन्द्रमा जलीय है इसीलिए चन्द्रमा का जल के साथ संबंध है। चन्द्रमा के कारण जैसे-जैसे तिथियां घटती-बढ़ती हैं, वैसे-वैसे ज्वार-भाटे का क्रम भी चलता है। यह इस बात का सूचक है कि चन्द्रमा का जल के साथ संबंध है। इसीलिए चन्द्रमा मनुष्य के मन को प्रभावित करता है। ज्योतिषियों ने भी ठीक निर्णय किया था कि मन का स्वामी चन्द्रमा है। चन्द्रमा मन को प्रभावित करता है। जिनमें कोई संबंध नहीं होता, वे एक-दूसरे को प्रभावित नहीं कर सकते। आज जो प्रभावों की खोज हुई, उससे अनेक नए तथ्य उद्घाटित हुए हैं।

काकेसस रूस का एक भाग है। वहां के वैज्ञानिक ने बताया कि काकेसस में जो भूकंप आते हैं, उनका संबंध सौर-विकिरणों से है। जब-जब ठीक समय आता है सौर-विकिरणों का, तब काकेसस में भूकंप शुरू हो जाते हैं। जब सूर्य में विस्फोट होते हैं, तब भूकंप आने शुरू हो जाते हैं। यह सारा संसार संक्रमण का संसार है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में संक्रांत होता है। असंक्रांत कोई नहीं है, अप्रभावित कोई नहीं। हम सब इतने संक्रमणों में से गुजरते हैं और इतने तत्त्वों से प्रभावित होते हैं कि जिसकी कोई सीमा नहीं है। हम सब प्रभाव-क्षेत्र में हैं। हर

बंधी हुई आत्मा, हर कर्मयुक्त आत्मा प्रभाव-क्षेत्र में होती है। वह प्रभाव-क्षेत्र से मुक्त नहीं होती। प्रभाव-क्षेत्र में रहने वाला कोई भी व्यक्ति बाहरी प्रभावों से मुक्त नहीं हो सकता, संक्रमणों से मुक्त नहीं हो सकता।

सौरमंडल से इतने विकिरण आते हैं कि हम उनकी कल्पना भी नहीं कर सकते। समूचे ज्योतिषशास्त्र का यही आधार है। मंगल के विकिरण, चन्द्र के विकिरण, बुध के विकिरण, जितने ग्रह हैं, जितने नक्षत्र हैं, उन सबसे विकिरण आते हैं और हम सब उनसे प्रभावित होते हैं। यदि विकिरणों की बात नहीं होती तो ज्योतिषशास्त्र का आधार ही समाप्त हो जाता। ज

योतिषशास्त्र अवैज्ञानिक नहीं है। यह संभव है कि कोई फलित को ठीक न बता सके। यह सब बताने वाले की अपूर्णता है, न कि ज्योतिषशास्त्र की अवैज्ञानिकता। ज्योतिषशास्त्र की वैज्ञानिकता में कोई संदेह नहीं होता, क्योंकि ग्रहों के विकिरणों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

एक व्यक्ति रमणविद्या का ज्ञाता था। एक बार वह राजा की परिषद में गया और अपना परिचय देते हुए कहा–'मैं रमणविद्या का ज्ञाता हूं। मैं भूत, भविष्य सबकुछ बता सकता हूं।' राजा ने एक क्षण सोचा, अपनी मुट्ठी बंद कर राजा ने पूछा–'अच्छा बताओ, मेरी मुट्ठी में क्या है?' उसने अपना गणित किया। ध्यान को एकाग्र किया। उसे लगा कि मुट्ठी में जो है, उसके एक सूंड है, चार पैर हैं, उसका रंग काला है। उसने कहा–'राजन्! आपकी मुट्ठी में हाथी है।'

सारी परिषद स्तब्ध रह गई। मुट्ठी में हाथी! रमणवेत्ता का फलित गलत नहीं था। मुट्ठी में जो चीज थी, उसके एक सूंड थी, चार पैर थे और रंग काला था। सबकुछ सही था, किंतु वह इस बात को भूल गया कि मुट्ठी में हाथी कैसे आ सकता है? वह यह भूल गया कि कौन-सी चीज़ कहां, कैसे, किस स्थिति में होती है। वह व्यावहारिक ज्ञान को भूल गया। राजा की मुट्ठी में मक्खी थी। मक्खी के सूंड भी होती है, चार पैर भी होते हैं और काला रंग भी होता है, किंतु वह मक्खी को भूल गया। उसने हाथी को पकड़ लिया। सूंड आदि की दृष्टि से दोनों समान हैं, किंतु मुट्ठी में समाने की दृष्टि से दोनों में बहुत बड़ा अंतर है। मक्खी मुट्ठी में समा सकती है, हाथी मुट्ठी में नहीं समा सकता है, ज्ञान की अपूर्णता से अनेक बार ऐसी भूलें होती हैं।

जहां विकिरणों की वैज्ञानिकता का प्रश्न है, जहां विकिरणों का मनुष्य पर होने वाले प्रभाव का प्रश्न है, वहां उसकी सचाई को नकारा नहीं जा सकता।

आत्मा और कर्म का प्रभाव-क्षेत्र

हम प्रभाव की दुनिया में जीते हैं। हम प्रभावित होते हैं। द्रव्यकर्म हमें प्रभावित करते हैं, आत्मा को प्रभावित करते हैं और आत्मा भी उनको प्रभावित करती है। दोनों का यह प्रभाव-क्षेत्र बन गया। उस प्रभाव-क्षेत्र में यह सारा का सारा चलता है। उस प्रभाव-क्षेत्र का नाम है बंध। बंध का मतलब है आत्मा और कर्म का प्रभाव-क्षेत्र। एक रचना हो गई। अब प्रश्न होता है कि यह कैसे होता है? यह कहां से आता है।

यह सही है कि यह बाहर से आता है। बहुत दूर से नहीं। समूचे आकाश मंडल में कर्म की वर्गणाएं व्याप्त हैं। एक सूई जितना अंश भी रिक्त नहीं है इन कर्म-वर्गणाओं से। समूचा आकाश खचाखच भरा है। हमने जिस प्रकार के भावचित्त का निर्माण किया, हमारी जिस प्रकार की रागात्मक-द्वेषात्मक अनुभूतियां हुईं, हम वहीं बैठे-बैठे अपने आसपास के आकाश-मंडल से उन पुद्गलों को खींच लेते हैं। खींच लेने के बाद वे पुद्गल हमारे प्रभाव-क्षेत्र में आ जाते हैं।

क्षणभर पहले जो आकाश में व्याप्त थे, वे अब हमारे प्रभाव-क्षेत्र में आ गए, हमारे संबंध स्थापना की स्थिति में आ गए। उनका हमारे साथ पहले संबंध स्थापित नहीं था।

पुद्गल पुद्गल के स्थान में थे और हम अपने स्थान में, आत्मा आत्मा के स्थान में थी, किंतु जैसे ही भावचित्त बना, आसपास के पुद्गल आकर्षित हुए या किए गए, वे पुद्गल हमारे आस्रव के द्वारा, भावकर्म के द्वारा, भावचित्त के द्वारा आकर्षित होकर हमारे प्रभाव-क्षेत्र में आ गए। उनके साथ हमारा संबंध स्थापित हो गया। यह है बंध।

बंध की पूरी रासायनिक संरचना के बारे में भी हमें समझना है। जैसे ही पुद्गल हमारे प्रभाव-क्षेत्र में आते हैं, उनकी एक विशिष्ट संरचना हो जाती है।

४. कर्म की रासायनिक प्रक्रिया (२)

हमारे व्यक्तित्व के दो पहलू हैं। एक है आंतरिक चेतना और दूसरी है बाहरी चेतना। एक है सूक्ष्म और दूसरा है स्थूल। एक है अंतर्वृत्ति और दूसरी है बहिर्वृत्ति। प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व इन दो भागों में विभक्त है। मनुष्य बाहरी जगत में जो कुछ भी करता है, उससे उसका अंतःकरण प्रभावित होता है, सूक्ष्म जगत प्रभावित होता है और सूक्ष्म जगत में जो घटनाएं घटित होती हैं, उनसे स्थूल जगत प्रभावित होता है, बाहरी पर्यावरण प्रभावित होता है। हम एक अंगुली भी हिलाते हैं, यह स्थूल जगत की घटना है, किंतु इससे हमारा सूक्ष्म जगत भी आंदोलित होता है। सूक्ष्म जगत में जो कुछ परिवर्तन होता है, उसका प्रतिबिंब या प्रभाव स्थूल जगत में पड़ता है। वह हमारे बाहरी वातावरण में या शरीर के परिवेश में आ जाता है, इसलिए व्यक्तित्व की व्याख्या के लिए दोनों पहलुओं को समझना बहुत जरूरी है।

प्राणी जिन कर्म परमाणुओं को ग्रहण करता है और अपने साथ संबद्ध करता है, वे कर्म-परमाणु व्यवस्थित हो जाते हैं। स्वीकरण के समय उनकी एक व्यवस्था होती है। पहले उनमें कोई व्यवस्था नहीं होती। जब तक किसी प्राणी के द्वारा वे परमाणु स्वीकृत नहीं होते, तब तक वे कर्म-प्रायोग्य पुद्गल कहलाते हैं। उन परमाणुओं में कर्म के रूप में बदलने की योग्यता होती है, किंतु वे अभी तक कर्म नहीं हैं। जब तक आकाशमंडल में वे परमाणु फैले हुए होते हैं, तब तक वे परमाणु मात्र हैं, कर्म नहीं हैं, किंतु उनमें कर्म बनने की योग्यता है। एक बात ध्यान में रहे कि हर परमाणु कर्म नहीं बनता। कर्म वही बनता है, जिस परमाणु में कर्म बनने की योग्यता होती है।

परमाणु के विभिन्न प्रकार हैं। एक हाइड्रोजन का परमाणु है, एक ऑक्सीजन का परमाणु है, एक नाइट्रोजन का परमाणु है। अनेक गैसें हैं। उनके परमाणु भिन्न-भिन्न हैं। उनकी अपनी-अपनी क्षमता है। जो कर्म वर्गणा है,

जो परमाणु कर्म के रूप में बदल सकते हैं, उनकी भी अपनी विशिष्टता है। परमाणुओं के पचासों वर्ग हैं, पचासों वर्गणाएं हैं, पचासों समूह हैं। उनकी अपनी-अपनी विशेषताएं हैं, किंतु एक पुद्गल वर्गणा ऐसी है जो कर्म के रूप में बदल सकती है। वही वर्गणा हमारी प्रवृत्ति के द्वारा, हमारी चंचलता के द्वारा आकृष्ट होती है। आकृष्ट होते ही, आकर्षण के क्षण में ही उसकी व्यवस्था शुरू हो जाती है। पहले कोई व्यवस्था नहीं होती। जो परमाणु आते हैं, उनका विभाजन प्रारंभ होता है और स्वभाव का निर्माण होने लग जाता है कि कौन से परमाणु किस स्वभाव में काम करेंगे। पहले दो व्यवस्थाएं होती हैं–एक विभाजन और दूसरी स्वभाव-निर्माण की व्यवस्था।

प्रकृति की व्यवस्था है कि उनकी प्रकृति क्या होगी? उनका कार्य क्या होगा? वे क्या करेंगे? इनके साथ-साथ दो व्यवस्थाएं और होती हैं। एक व्यवस्था होती है अनुभाव की, फल देने की क्षमता। उन परमाणुओं में जो रसाणु हैं, जो रस-शक्ति है, रस का परिपाक होता है कि ये परमाणु किस प्रकार के रस का संवेदन कराएंगे और उनसे किस प्रकार का प्रभाव होगा। यह है अनुभाव, फलदान की शक्ति।

बहुत बार यह प्रश्न होता है कि कर्म का फल मिलता है, पर देता कौन है? देने वाला कौन है? इस प्रश्न पर विभिन्न दृष्टियों से विचार किया गया। कुछ चिंतकों ने यह प्रतिपादन किया कि फल देने वाली एक सत्ता है। आदमी कर्म करता है, पर वह स्वयं उसका फल भोगना नहीं चाहता। अतः कोई न कोई नियामक अवश्य है, नियंता अवश्य है, जो कि फल देता है। यह बात स्वाभाविक-सी लगती है कि आदमी स्वयं अपने आप फल भोगना क्यों चाहेगा? वह अच्छे कर्म का फल भोगना तो अवश्य ही चाहेगा, बुरे कर्म का फल भोगना कभी नहीं चाहेगा।

यह कभी उसे इष्ट नहीं होगा कि जो उसने बुरा किया है, उसका वह फल भोगे। उस स्थिति में यह तर्क बहुत स्वाभाविक लगता है कि कोई फल देने वाला अवश्य ही होना चाहिए। इसका समाधान भी स्थूल व्यवस्था के आधार पर दिया गया कि कोई भी अपराधी अपने आप दंड भुगतना नहीं चाहता। न्यायाधीश या प्रशासक उसे दंड देता है, उसके दंड की व्यवस्था करता है। अपराध के दंड के लिए भी कोई तीसरा व्यक्ति होता है तो विश्व की इस विराट व्यवस्था के लिए कोई नियामक या नियंता न हो, कोई प्रशासक न हो तो फल देने की व्यवस्था कैसे चल सकती है?

इस संदर्भ में यह जो कहा गया कि कोई फल देने वाला होना चाहिए, यह अस्वाभाविक भी नहीं लगता, किंतु यह तर्क जब मीमांसित होता है, इस पर गहराई से विचार करते हैं तो कुछ और नए तर्क खड़े हो जाते हैं, कुछ और नए प्रश्न उभर आते हैं। वे प्रश्न सचमुच उलझाने वाले प्रश्न हैं।

यदि कोई नियंता है, नियामक है, प्रशासक है, फल देने वाला है तो फल देने की बात 'द्वयम्' हो जाएगी, उसका नंबर दूसरा होगा। उससे पहले कर्तृत्व की बात आ जाएगी कि कोई कराने वाला भी है। कर्तृत्व और उसका फलभोग दोनों जुड़े हुए प्रश्न हैं। यदि कोई कराता है तो फल भोगने वाला भी है और यदि कोई कराने वाला नहीं है तो फल भुगतने वाला भी नहीं है। यदि कोई कराने वाला है तो बहुत बड़ी एक पहेली सामने आती है कि वह एक इतनी विराट सत्ता होगी जो विराट जगत में सबकुछ कराए, करा सके, कराने की क्षमता से संपन्न हो। वह फिर ऐसा कोई कार्य कराएगी ही क्यों, जिसमें प्राणियों को अशुभ फल भोगना पड़े? मनुष्य द्वारा फिर अप्रिय व्यवहार होगा ही क्यों? उसे अप्रिय फल भुगतना ही क्यों पड़ेगा? यह एक जटिल प्रश्न है।

यह दूसरों को उलझा देने वाला प्रश्न है। यदि फल भुगताने वाली बात को हम मान भी लें कि कोई एक ऐसी शक्तिशाली सत्ता है जो फल भुगताने में माध्यम बनती है और वहां कोई न्याय न हो तो उसे शक्ति-संपन्न सत्ता कहने को जी नहीं चाहता, क्योंकि इतनी विसंगतियां, इतने अभाव और अतिभाव के कारण इतनी कठिनाइयां, इतना अन्याय, इतने अत्याचार, इतनी क्रूरताएं, इतने प्रताड़न–इन सबको यदि किसी कर्तृत्व की सत्ता के साथ जोड़ा जाए और उस शक्ति-संपन्न सत्ता के रहते हुए ये सारे घटित हों तो हम उस सत्ता को परम सत्ता कैसे कह सकते हैं?

सर्वशक्ति-संपन्न कौन?

प्रत्येक राज्य-व्यवस्था भी यह कामना करती है कि हमारे राज्य में अच्छी से अच्छी व्यवस्था हो, शोषण न हो, अत्याचार न हो। इसके लिए वह पूरी व्यवस्था करना चाहती है, पर कर नहीं पाती, क्योंकि वह सर्वशक्ति-संपन्न होने का दावा नहीं करती, इसलिए यह उसके वश की बात नहीं है। वह व्यवस्था मात्र करती है कि ऐसी अव्यवस्था न हो। अच्छी सरकार का यह लक्षण होता है कि उसके प्रशासन द्वारा अपराधों में कमी हो, बुराइयों में कमी हो और एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के प्रति जो अन्यायपूर्ण व्यवहार या

क्रूरतापूर्ण व्यवहार होता है, वह कम होता चला जाए। वह सर्वशक्ति-संपन्न न होते हुए भी इस प्रकार की व्यवस्था करती है।

यदि सर्वशक्ति-संपन्न सत्ता हो, सबकुछ करने में समर्थ हो, फिर भी वह इस प्रकार की व्यवस्था न करे कि उसके शासनकाल में, उसके साम्राज्य में, विराट साम्राज्य और विश्वव्यापी साम्राज्य में जिसका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता, अपराध भी चले, अन्याय भी चले, क्रूरता भी चले, शोषण भी चले, दमन भी चले और वह सबकुछ चले, जो मानवीय सत्ता में चलता है तो फिर यह बहुत चिंतनीय प्रश्न बन जाता है।

बादशाह ने बीरबल से पूछा–'बताओ! मेरे में और खुदा में क्या अंतर है?' बीरबल ने कहा–'जहांपनाह! अंतर बहुत बड़ा है। आप जब मुझसे नाराज होते हैं तो अपनी सल्तनत से मुझे निकाल देते हैं, देश से मुझे निर्वासित कर देते हैं, किंतु खुदा एक ऐसी हस्ती है, जो किसी को अपने देश से नहीं निकाल सकती। खुदा यदि देश-निकाला दे तो कौन कहां जाए? जबकि हम यह मान लेते हैं कि ईश्वर की सत्ता सर्वव्यापी है। इस जगत का एक कण भी ऐसा नहीं है, जहां ईश्वर की सत्ता न हो और यदि देश-निकाला दे दे तो भला कहां जाए?'

कृष्ण ने पांडवों से कहा–'मेरे राज्य से चले जाओ।' युधिष्ठिर आए और बोले–'प्रभो! आप यदि और कुछ आदेश देते तो वह हम सहर्ष मान्य कर लेते, किंतु आपके राज्य से चले जाने की बात कैसे संभव हो सकती है? आपका राज्य सर्वत्र व्याप्त है। आप हमें बताएं कि हम जाएं कहां? हमें स्थान का निर्देश दे दें।' युधिष्ठिर ने बहुत अनुरोध किया। तब कृष्ण ने कहा–'दक्षिण में चले जाओ। पांडु मथुरा में जाकर बस जाओ।' स्थान का निर्देश किया, वे उत्तर से दक्षिण में आ गए। यह तो संभव था, किंतु राज्य से चले जाओ, यह कैसे संभव हो सकता था? वासुदेव कृष्ण का राज्य बहुत बड़ा था, सर्वत्र था फिर आदमी जाए तो कहां जाए?

ईश्वरीय सत्ता का भी बहुत बड़ा प्रश्न है। उसकी सत्ता में वह सबकुछ चलता रहे जो मानवीय सत्ता में चलता है तो सर्वशक्ति-संपन्नता का कथन अयथार्थ हो जाता है। इस प्रश्न का समाधान बहुत जटिल है। मैं यह नहीं कहता कि इस प्रश्न को समाहित करने का प्रयत्न नहीं किया गया। प्रयत्न किया गया, समाधान दिया गया, किंतु वह समाधान भी असमाधानकारक बन गया। जो

समाधान प्रश्न को समाहित करने चला था, उसने अनेक नए-नए प्रश्न खड़े कर दिए। वह वास्तव में समाधानकारक नहीं बना। प्रश्न बना का बना रह गया।

डॉक्टर रोगी को स्वस्थ बनाने वाला है और वही यदि रोगी को और अधिक बीमार बनाता चला जाए, उस डॉक्टर को हम बहुत सम्मान नहीं दे सकते। मनुष्य को रोगी बनाने वाला यदि कोई विराट शक्ति-संपन्न अस्तित्व हो तो यह समझ में आने वाली बात नहीं है। जब कर्तृत्व की बात फल देने की बात से टकराती है तो नए चिंतन के लिए एक आयाम खुलता है। एक नया आयाम उद्घाटित होता है। ऐसा भी हो सकता है कि जहां कर्तृत्व भी दूसरे का न हो और फल देने की शक्ति भी दूसरे में न हो। दोनों स्वचालित हों।

शरीर संचालन की व्यवस्था

हम शरीर की व्यवस्था पर ध्यान दें। हमारे शरीर में दोनों प्रकार की व्यवस्थाएं हैं। शरीर के कुछ हिस्से ऐसे हैं, जो नाड़ी-संस्थान के द्वारा संचालित हैं। हमारी बहुत सारी क्रियाएं उन्हीं से संचालित हैं। मैं हाथ हिला रहा हूं। यह स्वाभाविक क्रिया नहीं है। यह स्वतः संचालित क्रिया नहीं है, किंतु यह नाड़ियों की उत्तेजना से होने वाली क्रिया है। मैं श्वास ले रहा हूं। यह किसी के द्वारा नियंत्रित क्रिया नहीं है। यह स्वतः संचालित क्रिया है। हमारी अनेक क्रियाएं स्वतः संचालित और अनेक क्रियाएं प्रेरणा-जनित होती हैं। दोनों प्रकार की क्रियाएं हमारे शरीर में हो रही हैं। हम भोजन करते हैं। भोजन करने के बाद हम उस क्रिया से निवृत्त हो जाते हैं। आगे की सारी क्रियाएं अपने आप होती हैं, स्वतः संचालित होती हैं। हमने खाना खाया। खाने के साथ उसको पचाने वाला रस स्वतः उसके साथ मिल जाता है। भोजन नीचे उतरा। पाचन हुआ। छना। रस की क्रिया हुई, रस बना। सारे शरीर में फैला। जो सार-सार था, उसका रक्त बना। क्रियाएं संचालित हुईं। जो असार था, वह बड़ी आंत में गया। उत्सर्ग की क्रिया संपन्न हुई। ये सारी क्रियाएं अपने-आप होती चली गईं। आपको पता ही नहीं चला। न आपने उसके लिए कोई प्रयत्न किया, फिर भी वे क्रियाएं संपन्न हो गईं। क्या आप कभी इस बात पर ध्यान देते हैं कि अब भोजन को पचाना है, रस बनाना है, मांस बनाना है। नहीं सोचते, कोई प्रयत्न नहीं करते, फिर भी ये सारे कार्य संपन्न होते हैं। जहां जो होना होता है, वह स्वतः होता चला जाता है। जो शक्ति मिलनी है, वह मिल जाती है। जो ऊर्जा में बदलना है, वह ऊर्जा में बदल जाता है।

कर्म वर्गणा की व्यवस्था

इसी प्रकार हम क्रिया करते हैं। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। उस प्रतिक्रियास्वरूप हम पुद्गलों को आकर्षित करते हैं। यह भी एक प्रकार का आहार है, आहरण है। हम आहार के अर्थ को समझें। उसे सीमित अर्थ में न लें। जो मुंह में खाते हैं, वही आहार नहीं है। हमारे शरीर के किसी भी भाग के द्वारा हमारी शारीरिक संरचना के द्वारा जो भी पुद्गल आकृष्ट होते हैं, वे सब आहार हैं। कर्म-पुद्गलों का ग्रहण भी आहार है। हम उन्हें खींचते हैं, अपनी ओर आकर्षित करते हैं। वे पुद्गल आकर हमारे साथ मिल जाते हैं, चिपक जाते हैं। चिपकने के बाद उनमें जो व्यवस्था होती है, वह स्वतः होती है। वह अपने आप होने वाली व्यवस्था है। उन गृहीत पुद्गलों का वर्गीकरण भी हो जाता है। उनका विभाजन भी हो जाता है। उनके स्वभाव का निर्माण भी हो जाता है, जैसे भोजन में खाए गए बहुत प्रकार के पदार्थों के स्वभाव का निर्णय होता है। शरीर को आवश्यकता है प्रोटीन की। भोजन में जो प्रोटीन का भाग होता है, वह प्रोटीन की पूर्ति कर देता है। चिकनाई की जरूरत होती है, वह स्निग्ध पदार्थों से पूरी हो जाती है। श्वेतक्षार की जरूरत है, वह श्वेतक्षार वाले द्रव्यों से पूरी हो जाती है। जिन अवयवों को विटामिन की जरूरत होती है, वे विटामिन भोजन के माध्यम से पहुंचते हैं और अपना काम प्रारंभ कर देते हैं।

बहुत बार अजीब सा लगता है कि बीमारी है शरीर के किसी हिस्से में, पेट में दवा लेते हैं और वह बीमार हिस्सा स्वस्थ हो जाता है। अंगूठे में दर्द है तो वह अंगूठे में ही लाभ करेगी। वहां वह पहुंच जाएगी। छोटी-सी गोली दी। सिर में दर्द है, अंगूठे में दर्द है, पीठ में दर्द है, जहां दर्द है, वहीं उस दवा की क्रिया होगी और वह बीमार अवयव स्वस्थ हो जाएगा। प्रश्न होता है कि वह दवा बीमार अवयव तक ही क्यों पहुंचती है? दूसरे अवयव तक क्यों नहीं पहुंचती? आंख में दर्द है तो दवा अंगूठे तक क्यों नहीं पहुंचती? समाधान है कि शरीर में स्वाभाविक व्यवस्था है। जिस अवयव में जिस तत्त्व की जहां कमी है, वह तत्त्व उसी दिशा में स्वतः आकृष्ट हो जाएगा। वह वहीं जाएगा। जिन कोशिकाओं में, शरीर के जिन अवयवों में प्रोटीन की कमी है, हम प्रोटीन का भोजन लेते हैं तो वह प्रोटीन उन्हीं कोशिकाओं, उन्हीं अवयवों की ओर आकृष्ट होगा, क्योंकि शरीर में आकर्षण की एक व्यवस्था है। हमारे शरीर में नहीं, सारे संसार में आकर्षण और विकर्षण की एक ऐसी व्यवस्था है कि

अपनी-अपनी अनुकूलता, अपनी-अपनी सजातीयता के प्रति सबकी गति होती है। सजातीय उसे खींच लेता है।

हमारे कर्म परमाणुओं की भी यही व्यवस्था है। जो परमाणु गृहीत होते हैं, वे अपने-अपने सजातीय परमाणुओं के द्वारा खींच लिए जाते हैं और उसी दिशा में वे सक्रिय हो जाते हैं, वे अपना काम करने लग जाते हैं। उनमें फल की शक्ति भी हो जाती है। ये परमाणु उस-उस प्रकार का फल देने में समर्थ हैं, यह फल देने की स्वतः चालित व्यवस्था होती है।

आंख की ज्योति कम होती है, तब डॉक्टर कहता है कि विटामिन 'ए' का अधिक मात्रा में सेवन करो। यह बात स्पष्ट है कि विटामिन 'ए' में आंख की ज्योति को सहारा देने की क्षमता है। चर्म-रोग होता है तो डॉक्टर विटामिन 'ए' की बात नहीं कहता। वह कहता है–विटामिन 'डी' का सेवन करो। विटामिन 'डी' में यह शक्ति है कि वह चर्मरोगों का निवारण कर सकती है। विटामिन 'ए' या 'डी' की परिणति का कोई नियामक या नियंता नहीं है। औषधि के सेवन के पश्चात मनचाहा परिणाम लाना डॉक्टर के हाथ की बात नहीं है। वह परिणाम स्वतः उद्भूत होता है।

कर्मों में विपाक की क्षमता

विश्व के प्रत्येक पदार्थ में, सब परमाणुओं में अपने-अपने प्रकार की एक विशेष सत्ता होती है। जो कर्म परमाणु हमारे द्वारा आकृष्ट होते हैं, उनमें उसी समय एक विशेष प्रकार की क्षमता निर्मित हो जाती है। उस क्षमता का नाम है–रसानुभाव यानी अनुभाग-बंध। इसका अर्थ है–फल देने की क्षमता, फल शक्ति। कर्म के सभी परमाणुओं में फलदान की समान क्षमता निर्मित नहीं होती। वह विभिन्न प्रकार की होती है। हम जानते हैं कि विश्व के सभी पदार्थों में एक ही प्रकार की क्षमता नहीं होती। होमियोपैथिक दवाएं अलग-अलग क्षमताओं वाली होती हैं। कुछ हाई-पोटेन्सी की होती हैं और कुछ लो-पोटेन्सी की। कुछ औषधियां एक लाख पोटेन्सी की होती हैं और कुछ केवल तीस या उससे भी कम पोटेन्सी की। क्षमता के निर्माण में कितना अंतर होता है।

गाय के दूध में भी चिकनाई होती है, भैंस के दूध में भी चिकनाई है, तिल्ली और सरसों के तेल में भी चिकनाई है, किंतु चिकनाई की मात्रा में बहुत अंतर है। सबमें समान चिकनाई नहीं है।

यह शक्ति और मात्रा का जो तारतम्य होता है, वह पदार्थ की विशेष संरचना के आधार पर होता है। वैसे ही कर्मों की जो फलदान की शक्ति है, उसमें तारतम्य होता है और वह तारतम्य उन कर्म-परमाणुओं की संरचना के कारण होता है। यह संरचना राग-द्वेष की तीव्रता और मंदता के आधार पर होती है।

तीव्र और मंद फल का हेतु

जिस क्षण में हम कर्म-पुद्गलों को आकर्षित करते हैं, उस क्षण में यदि राग-द्वेष तीव्र होता है तो उन कर्म-पुद्गलों की फलदान-शक्ति भी तीव्र हो जाती है और यदि राग-द्वेष मंद होता है तो फलदान-शक्ति भी मंद हो जाती है। यह तीव्रता या मंदता, यह तारतम्य हमारे कषायों, आवेगों और राग-द्वेष के आधार पर होता है, इसलिए साधना का एक बड़ा सूत्र है—जो करो, अनासक्त भाव से करो। आसक्ति को तीव्र मत होने दो। इसका तात्पर्य यह है कि आसक्ति की जितनी तीव्रता होगी, कर्म का फल उतना ही तीव्र होगा। आसक्ति की जितनी मंदता होगी, कर्म का फल उतना ही मंद होगा। अनुभाग की तीव्रता और मंदता आसक्ति की तीव्रता और मंदता पर आधारित है।

यह सच है कि साधना करने वाला भी प्रवृत्ति को सर्वथा रोक नहीं सकता और साधना न करने वाले के समक्ष प्रवृत्ति को रोकने का प्रश्न ही नहीं है। साधना करने वाले के लिए खाना भी जरूरी है, श्वास लेना भी जरूरी है, बोलना भी जरूरी है, सोचना भी जरूरी है। जीवन-संचालन की जो क्रियाएं, जो प्रवृत्तियां हैं, वे सारी जरूरी हैं। उन्हें रोका नहीं जा सकता। कोई मौन करता है तो वह आधा घंटा, दो घंटे, दस घंटे, एक दिन, दस दिन या एक महीने तक का मौन कर सकता है। बारह वर्ष भी मौन रह सकता है, किंतु आखिर बोलना ही पड़ेगा। बिना बोले काम कैसे चलेगा? बोलने की एक स्वाभाविक व्यवस्था है। उसे तोड़ा नहीं जा सकता। चलने की भी एक व्यवस्था है। वह भी स्वाभाविक है। जीवनभर एक स्थान पर बैठा नहीं रहा जा सकता।

ध्यानकाल में एक स्थान पर बैठ सकते हैं, किंतु पूरे दिन तो ध्यान नहीं किया जा सकता। कायोत्सर्ग-काल में कुछ समय तक स्थिर रहा जा सकता है, किंतु पूरे जीवन में मृत्यु-पर्यंत ऐसा नहीं हो सकता। प्रवृत्ति को छोड़ा नहीं जा सकता। चिंतन भी एक प्रवृत्ति है। उसे भी रोका नहीं जा सकता। यह ठीक है कि ध्यानकाल में हम निर्विकल्प रह सकते हैं, निर्विकार रह सकते हैं, किंतु यह

सदा-सर्वदा के लिए नहीं हो सकता। क्या चिंतन के बिना काम चल सकता है? चल नहीं सकता। चिंतन जरूरी है, गति जरूरी है, क्रिया जरूरी है। शरीर, मन और वाणी की प्रवृत्ति को रोका नहीं जा सकता।

जब हम कर्म की बात कर रहे हैं तो हमें सूक्ष्म जगत तक पहुंचना है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों के पीछे एक तत्त्व है। उस तक पहुंचने का हम अभ्यास करें। यही वास्तव में साधना है, यही उसकी सार्थकता है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति आसक्ति और अनासक्ति से जुड़ी होती है। हम यह अभ्यास करें कि प्रवृत्ति हो, किंतु उसके पीछे आसक्ति का, राग-द्वेष का भाव कम हो। प्रवृत्ति के साथ समभाव की धारा जुड़ जाए, फिर चाहे आप प्रवृत्ति करें, किंतु उस प्रवृत्ति के पीछे एक प्रहरी खड़ा मिलेगा और वह आपको सतर्क करता रहेगा। जैसे ही आपने प्रवृत्ति में दोष लगाना प्रारंभ किया, तत्काल कानों में एक ध्वनि गूंज उठेगी–समभाव, तटस्थता, सामायिक, समता। तब आपकी प्रवृत्ति में आने वाला जो दोष है, वह अपने आप नीचे उतर जाएगा, दूर हट जाएगा।

प्रवृत्ति के दोषों का प्रक्षालन, उसके दोषों का संशोधन और परिर्माजन करने के लिए हमें जिस बात का अभ्यास करना है, वह है समभाव का अभ्यास, समता का अभ्यास, सामायिक का अभ्यास। मनोविज्ञान की भाषा में इसे मार्गांतरीकरण और उदात्तीकरण कहा गया है।

प्रवृत्ति के शोधन का मार्ग

प्रवृत्ति का शमन होता है, विलयन होता है, मार्गांतरीकरण होता है, उदात्तीकरण होता है। ये चार बातें हैं। पहली बात है शमन की। जो प्रवृत्ति समाज-सम्मत नहीं है, व्यक्ति उसे करना चाहता है, किंतु सामाजिक प्राणी उस प्रवृत्ति को नहीं करता, उसका शमन करता है। वह अपनी इच्छा को रोक देता है। हर इच्छा की पूर्ति नहीं होती। कोई भी व्यक्ति अपनी प्रत्येक इच्छा पूरी नहीं कर सकता। कुछ पूरी होती हैं, कुछ अधूरी रह जाती हैं, कुछ को छोड़ देना होता है। रास्ते चलते सुंदर मकान दिखाई दिया। इच्छा हुई कि उस पर कब्जा कर लूं। कब्जा कैसे कर सकता है? नहीं कर सकता, क्योंकि सामाजिक व्यवस्था उसे वैसा करने नहीं देती। मन ललचाया कि इस आलीशान मकान में रहूं, इस पर अधिकार कर लूं, पर वैसा हो नहीं सका।

विलयन

दूसरा है–प्रवृत्ति का विलयन। विलयन भी दबाने की प्रवृत्ति है। कुछ प्रवृत्तियां ऐसी होती हैं, जो मन में उभरती हैं, किंतु एक दूसरी प्रवृत्ति की बात सामने आ जाती है, तब वह छूट जाती है। एक प्रवृत्ति दूसरे में विलीन हो जाती है, उसका विलयन हो जाता है।

मार्गांतरीकरण

तीसरा है–प्रवृत्ति का मार्गांतरीकरण। इसका अर्थ है प्रवृत्ति का रास्ता बदल देना, दिशा बदल लेना। फ्रायड की भाषा में मूल प्रवृत्ति है कामशक्ति। फ्रायड के समूचे मनोविज्ञान में केन्द्रीय शक्ति है कामशक्ति। उनका प्रतिपादन है कि इनका मार्गांतरीकरण किया जा सकता है। एक व्यक्ति किसी सुंदर स्त्री को देखता है, उसके प्रति आकृष्ट होता है, किंतु वह प्राप्त नहीं होती। इच्छा और अधिक तीव्र होती है, फिर भी वह प्राप्त नहीं होती। तब

वह अपने मन की दिशा बदल देता है। कोई कलाकार बन जाता है, कोई चित्रकार बन जाता है, कोई लेखक बन जाता है, कोई कवि बन जाता है। कोई कुछ और बन जाता है। मानसिक विश्लेषण के अनुसार एक निष्कर्ष निकाला गया कि बहुत बड़े-बड़े कलाकार, बड़े-बड़े कवि जो हुए हैं, वे सब मार्गांतरीकरण के कारण हुए हैं।

उदात्तीकरण

चौथा है–प्रवृत्ति का उदात्तीकरण। कर्मशास्त्र की भाषा में उसे क्षयोपशम कह सकते हैं। यह क्षयोपशम की क्रिया है। जो मोह है, जो आसक्ति है, जो राग-द्वेष है, उनके दोषों का परिशोधन करने की यह प्रक्रिया है, परिमार्जन करने की प्रक्रिया है, इसलिए जैन आचार्यों ने दो शब्दों का प्रयोग किया–प्रशस्त राग और अप्रशस्त राग। राग अच्छा नहीं है, बुरा है, किंतु धर्म के प्रति राग, गुरु के प्रति राग, इष्टदेव के प्रति राग–यह सब प्रशस्त राग है।

जैन आगमों में एक बहु-व्यवहृत शब्द है–धम्माणुरागरत्ते–धर्मानुरागरक्त अर्थात् धर्म के अनुराग में अनुरक्त। यह सब प्रशस्त राग है। इसका तात्पर्य है कि राग के जो दोष थे, जो तीव्रता थी, उसका परिशोधन कर दिया। आसक्ति की मात्रा को कम कर दिया। मात्रा इतनी कम कर दी कि वह राग दोषयुक्त नहीं रहा। राग का उदात्तीकरण हो गया।

यह उदात्तीकरण की प्रक्रिया क्षयोपशम की प्रक्रिया है, जिसमें कर्मों के कुछ दोषों को सर्वथा क्षीण कर दिया गया और कुछ दोषों का उपशमन कर दिया गया। इसमें एक प्रकार की शुद्धता जैसी स्थिति निर्मित हो गई। यह उदात्तीकरण है, राग का संशोधन है, आसक्ति का संशोधन है।

दमन की बात साधना की बात नहीं। इच्छाओं का दमन ही करना हो तो फिर साधना की बात व्यर्थ है। उसके लिए साधना करने की आवश्यकता नहीं है। दमन हर किसी व्यक्ति को करना ही पड़ता है। कोई भी व्यक्ति अपनी सारी आकांक्षाओं, सारी इच्छाओं को पूरा नहीं कर सकता। वह सामाजिक बंधनों से नियंत्रित है। दंड का क्षेत्र, व्यवस्था का क्षेत्र और राजनीति का क्षेत्र–यह सब दमन के क्षेत्र हैं। सर्वत्र बंधन ही बंधन है। समाज का बंधन, परिवार का बंधन, राज्य का बंधन। सर्वत्र घेरे ही घेरे हैं। दमन करने के अतिरिक्त कोई रास्ता ही नहीं है।

साधना का प्रयोजन है मार्गांतरीकरण, उदात्तीकरण। साधना का मार्ग दमन का मार्ग नहीं है। वह है उदात्तीकरण का मार्ग। या तो हम उदात्तीकरण करें या मार्ग बदल दें।

आंख का काम है देखना। आंख रूप को देखती है। रूप के प्रति या तो राग उत्पन्न होगा या द्वेष। दो ही बातें होंगी–प्रीत्यात्मक अनुभूति या अप्रीत्यात्मक अनुभूति, फिर हम क्या करें यह प्रश्न होता है। समाधान की भाषा में कहा जा सकता है कि हम मार्गांतरीकरण करें, दिशा बदल दें। बाहर को न देखें, भीतर की ओर देखने का प्रयत्न करें। प्रेक्षा करें, प्रकंपनों की प्रेक्षा करें। प्रेक्षा मार्गांतरीकरण का उपाय है। मार्ग इस प्रकार बदलें कि जो आकर्षण बाहर की ओर होता था, वह आकर्षण भीतर की ओर हो जाए। उत्सुकता बदल जाए। उत्सुकता रहती है बाहर को देखने की। घटना घटित होती है, व्यक्ति उत्सुक हो जाता है।

साधना की सबसे बड़ी बात है आकर्षण की धारा को बदल देना। जब बाहर में अनुत्सुकता होती है तब भीतर का आकर्षण बढ़ता है, उत्सुकता बढ़ती है। पंतजलि ने इसे 'प्रत्याहार' कहा है। प्रत्याहार मार्गांतरीकरण का उपाय है। इन्द्रियों की दिशाओं को बदलो। मन की दिशाओं को बदलो। वे बहिर्गामी न रहें, अंतर्मुखी बन जाएं।

साधना का मुख्य सूत्र है–मार्गांतरीकरण। गौतम ने पूछा–'भगवन्! धर्मश्रद्धा से क्या प्राप्त होता है?' भगवान ने कहा–'गौतम! धर्मश्रद्धा से अनुत्सुकता पैदा होती है।' जब धर्म के प्रति श्रद्धा घनीभूत होती है, आकर्षण होता है, उत्सुकता होती है, तब पदार्थ के प्रति अनुत्सुकता पैदा होती है। जो उत्सुकता बाहर की ओर दौड़ती थी, बाहर को सुनने, बाहर को देखने, बाहर को चखने की उत्सुकता रहती थी, सारी की सारी प्रवृत्ति बहिर्गामी हो रही थी। जैसे ही साधना का विकास हुआ, साधना के मार्ग में आए, दिशा बदल जाती है, उत्सुकता समाप्त हो जाती है। यह अनुत्सुकता भीतर की उत्सुकता बन जाती है। जब भीतर उत्सुकता जागती है, तब बाहर की उत्सुकता समाप्त हो जाती है। यह मार्गांतरीकरण की प्रक्रिया साधना के विकास की प्रक्रिया है।

उदात्तीकरण है क्षयोपशम

उदात्तीकरण क्षयोपशम की प्रक्रिया है। हम कर्मों का शोधन करें। शोधन कर प्रवृत्ति के साथ होने वाले दोष को मिटा दें। प्रवृत्ति के साथ राग और द्वेष की जो धारा जुड़ रही है और वह राग-द्वेष जो निरंतर हमारे कर्मों में फल देने की क्षमता पैदा कर रहा है, जो हमारे विचारों को प्रभावित कर रहा है, उसे हम क्षीण कर दें। उस धारा को मोड़ दें। उसे उपशांत कर दें। इस उदात्तीकरण की प्रक्रिया के द्वारा हम उस बिंदु पर पहुंच जाएं, जहां प्रवृत्ति तो है, किंतु उसके सारे दोष समाप्त हैं। जो दोष उसके साथ जुड़ते थे, वह धारा समाप्त है। यह है साधना की सार्थकता।

कर्मों में जो फलदान की शक्ति है, उसे कम करने के लिए साधना की जाती है। उसके अभ्यास से एक मार्ग मिल जाता है। वह साधना की समाप्ति नहीं है, प्रारंभ है। इस यात्रा का प्रारंभ करने वाला जो भी प्रवृत्ति करता है, वह पहले जैसी प्रवृत्ति नहीं रहती। अब उस प्रवृत्ति के साथ आसक्ति का, राग-द्वेष का वह प्रवाह नहीं जुड़ता जो पहले जुड़ता था। या तो उसका मार्ग बदल जाएगा या वह सर्वथा निरुद्ध हो जाएगा। यदि हम इस तथ्य को ठीक समझ लें तो कर्म के फलदान की शक्ति को भी समझ लेंगे, साधना की सार्थकता को समझ लेंगे।

कर्म में जो फलदान की शक्ति है, वह स्वाभाविक है, स्वयं की व्यवस्थागत है। इसमें किसी दूसरे का हस्तक्षेप नहीं है। किसी व्यवस्थापक

की अपेक्षा नहीं है। यह स्वतः संचालित व्यवस्था है। इसमें कोई विचार की आवश्यकता नहीं है कि फल कैसे देना है?

एक आदमी घृणा करता है, ईर्ष्या करता है, असहिष्णुता का बर्ताव करता है। उसको क्या फल देना है, किसी को सोचने की जरूरत नहीं है। आज का मनोविज्ञान कहता है कि कोई बुरी बात सोचता है तो उसके अल्सर हो जाता है। ईर्ष्या, घृणा आदि से अनेक बीमारियां होती हैं। कैंसर भी हो जाता है। जो मानसिक बीमारियां हैं, उनका संबंध हमारे स्नायु-संस्थान से है। उनका संबंध हमारी मानसिक क्रिया से है। कोई व्यवस्थापक नहीं है, व्यवस्था करने वाला नहीं है। जैसे ही एक हुआ, दूसरा हो जाएगा। दोनों का संबंध है। फल देने के लिए किसी नियंता की आवश्यकता नहीं। उसमें अपने आप में क्षमता है।

हम उस क्षमता को समझें। हम आसक्ति के द्वारा, राग-द्वेष के द्वारा और कषायों के द्वारा उन कर्म-परमाणुओं में ऐसी संरचना न होने दें, ऐसी फलशक्ति उत्पन्न न होने दें जिसका परिणाम बुरा हो, जो हमें भी भोगना पड़े।

५. कर्म का बंध

मन दो प्रकार का है–चेतन मन और अवचेतन मन। चेतन मन जो कुछ करता है, वह सब वर्तमान का ही नहीं होता, किंतु उसमें अवचेतन मन का हिस्सा होता है। उसका प्रभाव होता है। यह स्वीकृति उपलब्ध तथ्यों की स्वीकृति है। यदि सूक्ष्म में जाएं तो कर्मशास्त्र की वह स्वीकृति भी प्राप्त हो सकती है कि मनुष्य जो काम करता है, वह केवल वर्तमान परिवेश, वर्तमान परिस्थिति से प्रभावित होकर ही नहीं करता।

प्रभाव का जो हेतु है वह बहुत सूक्ष्म में और बहुत दूर तक चला जाता है। वह हेतु है कर्म-शरीर या पूर्व-अर्जित कर्मसमूह। उससे प्रभावित होकर ही मनुष्य काम करता है। दबी हुई इच्छाएं, दबी हुई आकांक्षाएं अवचेतन मन में चली जाती हैं और जब वे जागृत होती हैं तो चेतन मन प्रभावित होकर काम करने लग जाता है।

इस मनोविज्ञान की भाषा को हम कर्मशास्त्रीय भाषा में इस प्रकार बदल दें कि पूर्व-अर्जित कर्म जब उदय में आते हैं, अपना फल देना शुरू करते हैं, तब स्थूल मन उनसे प्रभावित होता है और वह उनके अनुसार ही व्यवहार और आचरण करने लग जाता है।

कर्म बंधन में काल-विभाग

दो काल हैं–एक क्रिया का काल, प्रवृत्ति का काल और दूसरा कर्मबंध का काल। जब कोई प्रवृत्ति होती है, उसी क्षण कर्म का बंध हो जाता है। प्रवृत्ति का फल मिल जाता है। प्रवृत्ति का फल है कर्मों का अर्जन। वह तत्काल प्राप्त हो जाता है। क्रिया के साथ-साथ फल होता है, क्योंकि प्रत्येक क्रिया परिणाम को साथ लिए चलती है। परिणाम पीछे नहीं होता, तत्काल होता है। क्रिया और परिणाम में इतना अंतराल नहीं हो सकता कि आज हम क्रिया करें और उसका परिणाम सौ वर्ष बाद या हजार वर्ष बाद हो। एक आदमी धन कमाने

की प्रवृत्ति करता है। उसका परिणाम–धन की प्राप्ति या अप्राप्ति, वह तत्काल हो जाती है। धन का अर्जन हो गया, किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि उसका पूरा उपभोग भी तत्काल हो जाता है। परिणाम तत्काल मिल जाता है, किंतु परिणाम का उपभोग लंबे समय तक होता रहता है। अर्जन उसी क्षण होता है, उपभोग होता रहता है।

कर्मबंध और सत्ताकाल

कर्म का बंध, कर्म परमाणुओं का अर्जन क्रिया का परिणाम है। वह अर्जन तत्काल हो जाता है। यह कभी नहीं होता कि क्रिया अभी हो रही है और कर्म का बंध कभी बाद में होगा। ऐसा कभी नहीं हो सकता। कर्म का बंध तत्काल हो जाता है। उसी क्षण में हो जाता है, किंतु जो अर्जित हो गया, जो संगृहीत हो गया, वह कब तक साथ रहेगा इसका स्वतंत्र नियम है। यह नहीं होता कि जिस क्षण में किया, उसी क्षण में वह आया और अपना फल देकर चला गया।

अर्जन का काल क्षणभर का है और उपभोग का काल बहुत लंबा है। प्राणी दीर्घकाल तक अर्जित कर्मों का उपभोग करता रहता है। प्राणी ने जो अर्जित किया, जिन कर्म-परमाणुओं का संचय किया, वे कर्म-परमाणु जिस क्षण से संचित होते हैं, उसी क्षण में फल देने में समर्थ नहीं होते। प्रवृत्ति या आस्रव का मुख्य फल होता है कर्मों का अर्जन। वह प्रवृत्ति काल में ही हो जाता है, किंतु जो अर्जित कर्म-पुद्गल हैं, वे कब सक्रिय होंगे, कब तक सक्रिय रहेंगे, इसका नियम अर्जन के नियम से भिन्न होता है। तत्काल सक्रियता नहीं होती।

आज बच्चा जन्मा। वह कानून की दृष्टि से संपत्ति का अधिकारी तो हो गया, किंतु उसे पूरा अधिकार तब प्राप्त होगा, जब वह नाबालिक अवस्था को पार कर जाएगा, समवयस्क बन जाएगा। जब तक वह समवयस्क नहीं हो जाता, तब तक उस संपत्ति का संरक्षण कोई गार्जियन करेगा। बच्चे को कार्यकारी स्वामित्व प्राप्त नहीं होगा। उसे जन्मजात स्वामित्व प्राप्त है, किंतु कार्यकारी स्वामित्व वयस्क होने पर ही मिलेगा।

ठीक यही नियम कर्म जगत में लागू होता है। कर्म का जो बंध हुआ है, कर्म-परमाणुओं का जो अर्जन हुआ है, वह आज ही कार्यकारी नहीं होगा। कुछ काल तक वे कर्म-परमाणु सत्ता में रहेंगे, उदय में नहीं आएंगे। वह सत्ताकाल अबाधाकाल कहलाता है। इसका तात्पर्य है कि वे कर्म-परमाणु अस्तित्व में हैं, किंतु अभी कार्यकारी नहीं हैं। वे कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं। अपना परिणाम प्रदर्शित करने की क्षमता उनमें प्रकट नहीं हुई है। वे

अस्तित्व में हैं, किंतु वे अव्यक्त रूप में पड़े हुए हैं। बीज बोया गया। वह अस्तित्व में हैं, किंतु वह अभिव्यक्त नहीं हुआ, अंकुर के रूप में प्रकट नहीं हुआ। अंकुर के फूटने में थोड़ा समय लगेगा। अंकुर फूटेगा। तब वह पौधा बनेगा, आगे बढ़ेगा, ऊपर आएगा। बीज भूमि में बोया गया, यह बंध का काल है। बंध के बाद होता है सत्ता का काल। जब तक कर्म सत्ताकाल में रहेगा, तब तक वह कार्यकारी नहीं होगा। वह अपना परिणाम नहीं दे सकेगा। सब कर्मों का अपना-अपना अस्तित्व-काल होता है। जब यह अस्तित्व-काल या सत्ताकाल या अबाधाकाल पूरा होता है तब कर्म विपाक की स्थिति में आता है और अपना फल देने लगता है। फलदान कब तक होता है, इसकी भी एक मर्यादा है, सीमा है। उस मर्यादा को कर्मशास्त्र की भाषा में कहा जाता है स्थितिकाल। यह कर्मबंध की चौथी अवस्था या व्यवस्था है।

कर्मबंध की चार अवस्थाएं

पहली अवस्था है–कर्म-परमाणुओं के आने की, उनके संग्रह की। इसे 'प्रदेश-बंध' कहा जाता है।

दूसरी अवस्था है–कर्म-परमाणुओं के स्वभाव-निर्माण की। कौन-सा कर्म किस स्वभाव का होगा, इस अवस्था को 'प्रकृति-बंध' कहा जाता है।

तीसरी अवस्था है–कर्म-परमाणुओं से रस-शक्ति के निर्माण की। कौन-से कर्म में कितनी रस-शक्ति है, इस अवस्था को 'अनुभाग बंध' कहा जाता है।

चौथी अवस्था है–कर्म-परमाणुओं के स्थिति काल की। कौन-सा कर्म आत्मा के साथ कितने समय तक रह पाएगा, इस अवस्था को 'स्थिति बंध' कहा जाता है।

ये चारों अवस्थाएं कर्मबंध के साथ ही निष्पन्न हो जाती हैं। कर्म के स्थितिकाल के अनुसार उसका सत्ताकाल होता है। जब वह पूरा हो जाता है, तब एक-एक निषेक का, परमाणु-पुंज का प्रकटीकरण होने लगता है और प्राणी फल भोगने लगता है। जब सारे परमाणु-पुंज समाप्त हो जाएंगे, कर्मस्थिति समाप्त हो जाएगी, तब कर्म अपना फल प्रदर्शित कर शेष हो जाएंगे, नष्ट हो जाएंगे, आत्मा से विलग हो जाएंगे। इसे कर्म-क्षय कहा जाता है।

ये चार अवस्थाएं हैं। इनके घटक हैं–राग और द्वेष। हमारी रागात्मक और द्वेषात्मक प्रवृत्ति के द्वारा ये घटित होते हैं। हम अपनी चंचलता के द्वारा कर्म-परमाणुओं को आकर्षित करते हैं। कषाय के द्वारा उन कर्म-परमाणुओं

को टिकाकर रखते हैं। आकृष्ट करना और टिकाकर रखना–ये दो बातें हैं। आकर्षण होता है मन, वचन और शरीर की चंचलता के द्वारा और उनका टिकाव होता है कषाय के द्वारा। वे कषाय के द्वारा बांधकर रखे जाते हैं। कषाय जितना तीव्र होगा, उतने ही दीर्घकाल तक कर्म-परमाणु आत्मा के साथ चिपके रहेंगे। कर्म-परमाणुओं को चिपकाए रखना कषाय का काम है और उन्हें आकृष्ट करना चंचलता का काम है।

कर्मबंध और स्थिति के हेतु

हमारी साधना के दो आधार-बिंदु हैं, चंचलता को रोकना और कषाय को कम करना, राग-द्वेष को कम करना। तटस्थ होना, समभाव में रहना, स्थिर रहना–ये साधना के सूत्र हैं। समूचे कर्मशास्त्र को साधना के संदर्भ में समझें तो दो बातें बहुत ही स्पष्ट हो जाती हैं कि चंचलता के द्वारा कर्म-परमाणु खींचे जाते हैं और कषाय के द्वारा वे टिके रहते हैं और अपना फल देते हैं। फल की तीव्रता और मंदता कषाय के आधार पर होती है। दीर्घकाल की स्थिति और अल्पकाल की स्थिति कषाय के आधार पर होती है। स्थिति और फलदान की शक्ति–ये दोनों कषाय पर निर्भर हैं। कषाय ही कर्म-स्थिति को घटाता-बढ़ाता है और कषाय ही फलदान की शक्ति में तीव्रता या मंदता लाता है। कर्म का आकर्षण केवल चंचलता के आधार पर होता है।

कर्म को रोकना है तो हमें उसी क्रम में चलना पड़ेगा कि पहले चंचलता कम होती चली जाए, स्थिरता की मात्रा बढ़ती चली जाए। कायोत्सर्ग इसीलिए किया जाता है कि शरीर की चंचलता कम हो, समाप्त हो। हम श्वास की प्रेक्षा करते हैं, श्वास को मंद करते हैं, श्वास को सूक्ष्म करते हैं, इसीलिए कि चंचलता कम हो जाए। काया की चंचलता कम हो। श्वास काया का ही एक हिस्सा है। वह शरीर से भिन्न नहीं है। शरीर की चंचलता को कम करने के लिए श्वास का संयम करते हैं। मन को स्थिर करने का प्रयत्न करते हैं, निर्विचार और निर्विकल्प की साधना करते हैं कि चंचलता कम हो। मौन करते हैं ताकि वाणी की चंचलता कम हो। जब वाणी की चंचलता कम होती है, मन की चंचलता और शरीर की चंचलता कम होती है तो कर्म-परमाणुओं का आना कम हो जाता है।

साधना के तट

दूसरी बात है कि काया की जो थोड़ी-बहुत प्रवृत्ति शेष रहती है, वचन की अल्पमात्रा में प्रवृत्ति शेष रहती है और मन की भी यत्किंचित् प्रवृत्ति रहती

है, उसके साथ भी आसक्ति न जुड़े, राग-द्वेष का भाव न जुड़े। तटस्थता का विकास हो, समता का विकास हो, ताकि अवशिष्ट चंचलता या प्रवृत्ति के द्वारा जो भी कर्म-परमाणु आकृष्ट हों, वे लंबे समय तक हमारे साथ न टिक सकें और अपना तीव्र अनुभाव, तीव्र प्रभाव हमारे ऊपर न डाल सकें। इससे साधना का कोई भी आयाम शेष नहीं रहता। समूची साधना इसमें समा जाती है। साधना का सार है चंचलता को रोकना और समभाव में रहना। साधना की समूची धारा इन दो तटों के बीच बहती है। ये दो ही तट हैं साधना के। कोई भी साधना की ऐसी धारा नहीं है, जो इन दो तटों को तोड़कर, इन दो तटों का अतिक्रम कर प्रवाहित होती हो। यदि कोई ऐसी धारा है तो वह मोक्ष की, स्वतंत्रता की साधना नहीं है।

कोई अन्य साधना हो सकती है। वह वीतरागता की साधना नहीं है। वैसे तो प्रत्येक प्रवृत्ति साधना है। कोई भी प्रवृत्ति साधना के बिना नहीं होती। प्रत्येक प्रवृत्ति को निष्पन्न करने के लिए साधना अपेक्षित होती है। कोई भी कार्य साधना के बिना नहीं होता। कोई भी कार्य साध्य के बिना नहीं होता। प्रत्येक प्रवृत्ति में साध्य, साधन और साधना तीनों होते हैं। आप कोई भी प्रवृत्ति करें, उसका साध्य होगा कि आप उसको क्यों करना चाहते हैं? उसका साधन होगा कि आप किन-किन साधनों से उसे निष्पन्न करना चाहते हैं? उसकी साधना भी होगी कि आपको उसकी निष्पत्ति में कैसे तपना-खपना होगा?

हम जिस संदर्भ में साधना की चर्चा कर रहे हैं, वह अन्यान्य साधनाओं से कुछ भिन्न है। हमारी समूची साधना की धारा दो तटों के बीच में ही बहे। एक तट है स्थिरता का और दूसरा तट है समता का, वीतरागता का, अकषाय भाव का, राग-द्वेष की न्यूनता का। इन दो तटों के बीच साधना की धारा बहे, यही काम्य है, फिर चाहे हम कोई भी प्रवृत्ति करें या निवृत्ति करें, काम करें या न करें, बोलें या न बोलें, सोचें या न सोचें, खाएं या न खाएं। हम कुछ भी करें, उन दोनों तटबंधों को इतना मजबूत बनाए रखें कि उनमें कहीं दरार न होने पाए, छेद न होने पाए और पानी इधर-उधर छितरे बिना तटबंधों के बीच में बहता रहे।

प्रश्न होता है कि कर्म के आकर्षण की प्रक्रिया और संश्लेष की प्रक्रिया के पीछे हेतु क्या है? ये दोनों प्रवृत्तियां दो आस्रवों के द्वारा होती हैं। एक आस्रव का नाम है योग और दूसरे आस्रव का नाम है कषाय। योग आस्रव और कषाय आस्रव ये दो आस्रव हैं, जिनके द्वारा कर्मों का आकर्षण और कर्मों का संश्लेष

होता है। चंचलता स्पष्ट है, कषाय उतना स्पष्ट नहीं है। चंचलता स्पष्ट दिखती है, कषाय भीतर छिपा रहता है। वह दिखाई नहीं देता। हमें गूढ़ में जाना होगा, रहस्य में जाना होगा। हमें कहीं-कहीं रहस्यवादी भी बनना होगा और जो छिपा हुआ है, उसके तल तक पहुंचना होगा।

मनोविज्ञान में मन

१. अदस् (Id) मन २. अहं (Ego) मन ३. अधिशास्ता (Super Ego) मन।

पहला विभाग है 'अदस्' मन। इस विभाग में आकांक्षाएं पैदा होती हैं। जितनी प्रवृत्त्यात्मक आकांक्षाएं और इच्छाएं हैं, वे सब मन में पैदा होती हैं। इसमें अचेतन का भाग अधिक है, चेतन का भाग कम। दूसरा विभाग है 'अहं' मन। समाज-व्यवस्था से जो नियंत्रण प्राप्त होता है, उससे आकांक्षाएं यहां नियंत्रित हो जाती हैं और वे कुछ परिमार्जित हो जाती हैं। उन पर अंकुश जैसा लग जाता है। मन में जो आकांक्षा या इच्छा पैदा हुई, 'अहं मन' उसे क्रियान्वित नहीं करता। तीसरा विभाग है 'अधिशास्ता' मन। यह अहं पर भी अंकुश रखता है और उसे नियंत्रित भी करता है।

चंचलता अपने आप नहीं होती। चंचलता के पीछे कोई-न-कोई आकांक्षा होती है। हम अपने आप नहीं बोलते। बोलने की जरूरत होती है, आकांक्षा उत्पन्न होती है, कोई विकल्प पैदा होता है, तब हम बोलते हैं। मैं कई बार मौन करने के विषय में सोचता हूं। यह देखकर मुझे अजीब-सा लगता है कि आदमी मौन करता है और प्रवृत्ति इतनी करता है कि शायद बोलने वाला भी नहीं करता या बोलते हुए भी नहीं करता। बड़ा विचित्र लगता है। वाणी का मौन है, किंतु संकेतों से इतनी प्रवृत्ति कर देना कि शायद बोलने वाला भी न करे। यह मौन नहीं है। मौन का मतलब केवल नहीं बोलना ही नहीं है। उसका मतलब है कि बोलने की अपेक्षा कम हो जाए। जिससे हमें बोलने की प्रेरणा मिलती है, हम बोलने के लिए बाध्य होते हैं, उन अपेक्षाओं का कम हो जाना मौन है, न कि वाणी का प्रयोग बंद कर समूचे शरीर को हिला देना, संकेतों से प्रवृत्ति करना मौन है। कुछ लोग मौन भी कर लेते हैं और 'ऊं-ऊं' आदि अव्यक्त ध्वनि से अपना काम भी निकाल लेते हैं। यह कैसा मौन?

आकांक्षा का कम होना, प्रयोजन का कम होना, इच्छाओं का कम होना, अपेक्षाओं का कम होना चंचलता का अपने आप कम होना है। चंचलता अपने आप नहीं होती। घूमने वाली चीज अपने आप नहीं घूमती। उसे घुमाने वाला

दूसरा कोई-न-कोई होता है। चक्का घूमता है, चाहे हवा से, चाहे बिजली से और चाहे अन्य किसी साधन से। वह अपने आप नहीं घूमता, किसी प्रेरणा से घूमता है। चंचलता अपने आप नहीं होती। चंचलता की तह में कुछ और होता है।

अदस् मन और अविरति

पारिभाषिक शब्दावली में चंचलता को योग कहा जाता है। यह योग आस्रव है। योग आस्रव अपने आप प्रवृत्त नहीं होता, उसके पीछे कोई अपेक्षा होती है। वह अपेक्षा है अविरति। अविरति अर्थात् छिपी हुई चाह। वह छिपी हुई ज्वाला है, आग है। चाह की आग भभक रही है। सुख को पाने की चाह और दुःख को मिटाने की चाह। प्रिय को पाने की चाह और अप्रिय को मिटाने की चाह। अनुकूल को प्राप्त करने की चाह और प्रतिकूल को समाप्त करने की चाह। सुख-सुविधा को पाने की चाह और कष्ट को मिटाने की चाह। यह जो विभिन्न प्रकार की आंतरिक चाह है, आकांक्षा है, इसे मनोविज्ञान की भाषा में 'अदस् मन' कहा जाता है।

कर्मशास्त्र की भाषा में यह अविरति आस्रव है। अविरति का अर्थ है विरति का अभाव। अभी तक चाह मिटी नहीं है, प्यास बुझी नहीं है, अतृप्ति है। कंठ अभी तक सूखा ही सूखा है। कितना ही पानी पी लिया, पर अभी तक कंठ सूखे हैं। प्यास बुझी नहीं। सारे संसार का पानी पी लिया, पर प्यास बुझी नहीं। यह अमिट चाह। अमिट चाह का जो स्रोत है, उसे अविरति आस्रव कहा गया है। इसकी मात्रा जितनी अधिक होगी, चंचलता अधिक बढ़ेगी। चंचलता यदि स्वाभाविक होती तो सब प्राणियों में समान होती। कुछ लोग बरामदे में बैठे हैं। सड़क पर बाजे बजते हैं। कुछ खड़े होकर सड़क पर देखने लग जाएंगे, कुछ शांत बैठे रहेंगे। यह अंतर क्यों? जिसमें अविरति प्रबल है, चाह प्रबल है, उत्सुकता प्रबल है, वे देखने को दौड़ेंगे, भागेंगे, प्रयत्न करेंगे, सुनना चाहेंगे। जिनमें अविरति कम है, चाह कम है, उत्सुकता कम है, वे अपने आप में शांत बैठे रहेंगे। अंतर्वृत्ति होकर बैठे रहेंगे। वे बहिर्वृत्ति नहीं रहेंगे। वे बाहर नहीं भागेंगे। यह आकर्षण का कम होना सहजभाव में अंतर्वृत्ति होना है।

मानसशास्त्र में दो प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख है–अंतर्वृत्ति और बहिर्वृत्ति। कामशक्ति जब आगे की ओर बढ़ती है, व्यक्ति बहिर्वृत्ति हो जाता है। बाहर की ओर दौड़ने लग जाता है। जब कामशक्ति की प्रत्यावृत्ति होती है, डिप्रेशन होता है तो व्यक्ति भीतर में सिमट जाता है। उसकी बाहरी

वृत्तियां समाप्त हो जाती हैं। ठीक हम इसी कर्मशास्त्रीय भाषा का प्रयोग करें कि अविरति जब तीव्र होती है, तब पुरुष बाहर की ओर भागता है। उसकी आकांक्षा इतनी बढ़ जाती है कि वह सारे संसार को अपनी मुट्ठी में बंद करने का प्रयत्न करता है और सबकुछ बाहर-ही-बाहर देखता है। उसे सबकुछ बाहर-ही-बाहर दिखता है। जब यह अविरति कम होती है, व्यक्ति अपने भीतर सिमटना शुरू हो जाता है। जब भीतर सिमटना शुरू होता है तो आकांक्षाएं कम होती हैं, चंचलता अपने आप कम हो जाती है। एक संस्कृत कवि ने कहा है–

आशा नाम मनुष्याणां, काचिदाश्चर्यशृंखला।
यया बद्धाः प्रधावन्ति, मुक्तास्तिष्ठन्ति पङ्गुवत्॥

आशा नाम की एक सांकल है। यह अद्भुत सांकल है। लोहे की सांकल से आदमी को बांध दो, वह चल नहीं पाएगा। सांकल को खोल दो, वह चलने लग जाएगा, किंतु आशारूपी सांकल से आदमी को बांध दो, वह दौड़ने लग जाएगा। सांकल को खोल दो, वह पंगु की तरह बैठ जाएगा। कितनी उलटी बात है। एक सांकल वह है जिसमें बंधा आदमी चल नहीं सकता। सांकल से मुक्त होते ही वह दौड़ने लग जाता है। एक सांकल वह है जिससे बंधा आदमी दौड़ने लगता है और मुक्त होने पर एक पैर भी नहीं चल पाता। कितनी अद्भुत बात है!

चंचलता का स्रोत है आकांक्षा

चंचलता पैदा करने वाला, सक्रियता पैदा करने वाला, भटकाने वाला जो तत्त्व है, वह है अविरति। यह एक ऐसी प्यास है, जिसे हम अभी तक बुझा नहीं पाए। इतना भोग कर भी बुझा नहीं पाए। चंचलता का यही बड़ा स्रोत है। एक प्रश्न आता है कि जब हम इतना जान गए कि चंचलता का स्रोत है आकांक्षा, इच्छा, अतृप्ति, फिर भी उसे बुझा नहीं पाते। यह क्यों? आदमी जान ले, फिर क्यों नहीं बुझा पाए? इसका भी एक कारण है। यह भ्रम है कि आदमी ने जान लिया। वह अभी तक जान नहीं पाया है। इसका कारण है मिथ्या दृष्टिकोण। हमारा दृष्टिकोण ही कुछ ऐसा बना हुआ है कि जिससे प्यास बुझती है, उससे दूर भागते हैं और जिससे प्यास नहीं बुझती है उसे इसलिए पी रहे हैं कि प्यास बुझ जाए। आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है–

मूढात्मा यत्र विश्वस्तः, ततो नान्यद् भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यद्, अभयस्थानमात्मनः॥

'मूढ़ आत्मा जिसमें विश्वास करता है, उससे अधिक कोई भयानक वस्तु संसार में नहीं है। मूढ़ आत्मा जिससे डरता है, जिससे दूर भागता है, उससे बढ़कर शरण देने वाली वस्तु संसार में नहीं है।'

खतरनाक वस्तु में विश्वास करना और खतरा मिटाने वाली वस्तु से दूर भागना, यह कब होता है? यह तब होता है, जब आत्मा मूढ़ हो, दृष्टिकोण मिथ्या हो, मोह प्रबल हो। जब राग-द्वेष की प्रबलता होती है, कषाय की प्रबलता होती है, तब ऐसा होता है। जब तक मिथ्यादृष्टि दूर नहीं होगी, तब तक हम यह समझ नहीं पाएंगे।

कर्मबंध की प्रक्रिया

कर्मबंध की प्रक्रिया में महावीर से पूछा गया–'भंते! कर्म का बंध कैसे होता है? उसकी प्रक्रिया क्या है?' भगवान ने कहा–'जब ज्ञानावरण कर्म विशिष्ट उदयावस्था में होता है, तब दर्शनावरण कर्म का उदय होता है।' जब जानने पर आवरण आता है, तब देखने पर भी आवरण आ जाता है। जब दर्शन का आवरण होता है, तब दर्शनमोह कर्म का उदय होता है।

जब दर्शनमोह का उदय होता है, तब मिथ्यात्व आता है। उसके अस्तित्व में नित्य को अनित्य, सुख को दुःख, अनित्य को नित्य और दुःख को सुख मानने की बात घटित होती है तब व्यक्ति जो दुःख के साधन हैं, उन्हें सुख के साधन तथा जो सुख के साधन हैं, उन्हें दुःख के साधन मानने लग जाता है। तब वह प्यास को बुझाने वाले साधनों को प्यास लगाने वाले तथा प्यास लगाने वाले साधनों को प्यास बुझाने वाले साधन मानने लग जाता है। सारी बात उलट जाती है। जब तक यह मिथ्यात्व का बंधन नहीं टूटता, तब तक कर्म का चक्र टूट नहीं सकता। इसे तोड़ा नहीं जा सकता।

मिथ्यादृष्टि के अस्तित्व-काल में, यह जानते हुए भी कि प्यास है और प्यास बुझाने के साधन भी हैं, हम उन्हीं साधनों को ढूंढ़ते हैं, जिनसे प्यास और अधिक बढ़ जाती है। यह इसलिए होता है कि उनकी तह में मिथ्यात्व अवस्थित है। मिथ्या दृष्टिकोण, मति का विपर्यय, बुद्धि का विपर्यास सत्य को विपरीत ग्रहण करने के लिए बाध्य करता है।

जब तक मिथ्यात्व रहेगा, तब तक आकांक्षाएं रहेंगी, प्यास बनी-की-बनी रहेगी। जब तक प्यास बनी रहेगी, तब तक प्रमाद भी होता रहेगा, भ्रांति होती रहेगी, विस्मृति होती रहेगी। विस्मृति, जैसे कि हमने एक बार जान

लिया कि धन सुख का साधन नहीं है। यह तथ्य स्मृतिपटल पर अंकित है, किंतु जब हम कार्यक्षेत्र में उतरेंगे, कर्मक्षेत्र में प्रवेश करेंगे, तब इस बात को भूल जाएंगे कि धन, संपत्ति, ऐश्वर्य सुख के साधन नहीं हैं। हम यह मानने लग जाएंगे या हमें ऐसा लगने लगेगा कि संसार में कोई सारभूत वस्तु है तो वह धन है, संपत्ति है, ऐश्वर्य है। शेष सबकुछ असार-ही-असार है, व्यर्थ है, मिथ्या है। धन है तो सबकुछ है, धन नहीं है तो कुछ भी नहीं। धन ही सार है, यही सारभूत पदार्थ है। अब प्रश्न होता है कि ऐसा क्यों होता है? इसका समाधान यह है कि हम भूल जाते हैं, विस्मृति हो जाती है, प्रमाद उभर जाता है, इसलिए ऐसा होता है।

जब तक ये चार तत्त्व–मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय अस्तित्व में रहते हैं, तब तक चंचलताओं को रोका नहीं जा सकता। चंचलता के चक्र को धीमा नहीं किया जा सकता। वह चक्र इतनी तेजी से घूमने लगता है कि उसका अनुमान करना भी कठिन हो जाता है। व्यक्ति ध्यान करने के लिए बैठता है तो कभी आकांक्षाओं का ज्वार आता है, कभी प्रमाद का अंधकार छा जाता है, कभी कषाय की आग भभक उठती है और वह ध्यान से भटक जाता है। ध्यान छूट जाता है और वह संकल्प-विकल्प के जाल में फंस जाता है। उस जाल में ऐसी समाधि लगेगी कि वास्तविक समाधि का छोर छूट जाएगा। यह इसलिए होता है कि हम शोधन करते हुए नहीं आ रहे हैं। हमारी वृत्तियों का शोधन नहीं हो पाया है।

साधना की सफलता के लिए हमें इन कर्मशास्त्रीय रहस्यों को समझना अत्यंत आवश्यक हो जाता है। हम मिथ्या दृष्टिकोण को छोड़ें, सम्यक् दृष्टिकोण को अपनाएं। अविरति को छोड़ें और विरति को ग्रहण करें। प्रमाद को छोड़कर अप्रमाद में आएं और कषाय की आग को शांत करते चले जाएं। इतना होने पर चंचलता अपने आप कम होती रहेगी।

कैसे करें मन को शांत

लोग पूछते हैं कि मन चंचल है। उसे पहले ही क्षण में शांत कैसे करें? ऐसा कोई जादू नहीं है कि पहले ही क्षण में मन शांत हो जाए। मन को शांत करने की एक प्रक्रिया है। उस प्रक्रिया में से गुजरें, मन शांत हो जाएगा। वह प्रक्रिया है मिथ्या दृष्टिकोण, अविरति, प्रमाद और कषाय को उपशांत करते जाएं, मन शांत हो जाएगा। इन चारों को क्षीण करते जाएं, क्षीण करने की साधना करें। एक दिन ऐसा आएगा कि मन शांत हो रहा है, हो गया है, वाणी

शांत हो रही है, हो गई है, शरीर शांत हो रहा है, हो गया है। हम इस प्रक्रिया को दृढ़ता से पकड़ें और उसको करते चले जाएं। उसमें से गुजरें। क्रमशः हम अपने लक्ष्य में सफल होते जाएंगे। हम तात्कालिक लाभ पाने के लिए यह न सोचें कि अभी सबकुछ हो जाए, साधना के पहले क्षण में ही सिद्धि मिल जाए। यह न कभी हुआ, न होता है और न होगा। हम प्रक्रिया करते चले जाएं। निराश न बनें।

हम श्वास प्रेक्षा या शरीर प्रेक्षा कर रहे हैं। उसका पूरा अर्थ सबकी समझ में आए या न आए, किंतु यह निश्चित है कि हम एक प्रक्रिया में से गुजर रहे हैं और उसके द्वारा उन चारों के चक्रव्यूह को तोड़ने का प्रयास कर रहे हैं। प्रश्न होता है कि हम अनुप्रेक्षा के अभ्यासकाल में चिंतन करते हैं। चिंतन करना, प्रेक्षा में मन को इधर से उधर घुमाना, चंचलता को मिटाने का उपाय कैसे हो सकता है? प्रश्न सही है। हम अनुप्रेक्षा के समय चंचलता को नहीं मिटा रहे हैं, उसके लिए प्रयत्न भी नहीं कर रहे हैं। हम एक प्रकार की चंचलता के सामने दूसरे प्रकार की चंचलता खड़ी कर रहे हैं।

महर्षि पतंजलि ने कहा है–वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्। एक पक्ष को तोड़ना है तो दूसरे प्रतिपक्ष को पैदा करो। अशुभ को तोड़ना है तो शुभ को पैदा करो। छोड़ना दोनों को है। शुभ को भी छोड़ना है और अशुभ को भी छोड़ना है। पाप को भी छोड़ना है और पुण्य को भी छोड़ना है, किंतु अशुभ को छोड़ने के लिए शुभ का संकल्प करें। बुरे को छोड़ने के लिए अच्छे का संकल्प करें। बुरी आदत छोड़ने के लिए अच्छी आदत डालें। अन्यथा बुरी आदत छूटेगी नहीं। एक बार छूट भी जाएगी तो वह पुनः पकड़ लेगी। हमने देखा, एक आदमी को तंबाकू सूंघने की आदत थी। दिन में सौ-पचास बार वह तंबाकू सूंघता था। न उसे उस तंबाकू में दुर्गंध ही आती और न उसे उस आदत के प्रति घृणा ही थी। एक दिन उसे वह बात समझ में आ गई और उसने उस आदत को छोड़ने का संकल्प कर लिया। अब वह तंबाकू को सूंघना छोड़, इत्र को सूंघने लगा। इत्र को सूंघना उसकी आदत बन गई और वह तंबाकू की आदत छूट गई।

बुरी आदत को बदलने के लिए अच्छी आदत डाली जाती है। एक प्रकार की चंचलता को मिटाने के लिए हम दूसरे प्रकार की चंचलता का सहारा ले रहे हैं। पुरानी चंचलता को मिटाने के लिए नई चंचलता को अपना रहे हैं। ऐसा करते-करते एक दिन ऐसा भी आएगा कि सारी चंचलता मिट जाएगी, समाप्त हो जाएगी।

६. समस्या का मूल : मोहकर्म

कुछ व्यक्ति नहीं जानते कि उन्हें क्या करना है? कुछ व्यक्ति जानते हैं, पर करने में समर्थ नहीं होते। कुछ व्यक्ति जानते हैं, किंतु सही-सही नहीं जानते। कुछ करते हैं, पर सही ढंग से नहीं करते। इस प्रकार अनेक समस्याएं हैं और प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी समस्या का सामना करना पड़ता है। ये समस्याएं क्यों हैं? इसका हेतु क्या है? कर्मशास्त्र में इन प्रश्नों पर विमर्श किया गया और इनका समाधान भी दिया गया।

ज्ञान की दूसरी शाखाएं, जो स्नायविक उत्तेजना तथा परिस्थिति के कारण मानवीय आचरण की व्याख्या करती हैं, शरीर से आगे नहीं जातीं। यह उनका विषय भी नहीं है। उनका विषय शरीर से प्रतिबद्ध है।

मानसशास्त्र ने मनोविश्लेषण किया और मानसिक समस्याओं के बारे में विचार भी किया, उनका समाधान भी किया, किंतु वह समाधान परिस्थिति और परिस्थिति-जनित स्नायविक उत्तेजना–इन दो में समाहित हो जाता है। वह इन दो से आगे नहीं जाता। वह अवचेतन मन तक जाता है, किंतु अवचेतन मन में भी ऐसा क्यों होता है, इसका कोई सही समाधान प्राप्त नहीं होता।

हर घटना के पीछे हेतु है कर्म

कर्मशास्त्र ने इनके मूल कारणों पर भी विचार किया है, परिस्थितियों पर भी विचार किया है। उसने परिस्थितियों को अस्वीकार नहीं किया है, क्योंकि परिस्थितियां निमित्त बनती हैं।

निमित्त को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किंतु जो घटना होती है, उसका मूल हेतु क्या है, इसके विमर्श में जब हम जाएं तो पता चलेगा कि प्रत्येक समस्या के पीछे किसी न किसी कर्म की कोई प्रेरणा है।

हम अज्ञान को लें। कोई आदमी नहीं जानता। किसी कर्मशास्त्री से पूछो तो वह कहेगा कि इसका मूल कारण है ज्ञानावरण कर्म का उदय। इस व्यक्ति

की चेतना को ज्ञान का आवरण प्रभावित कर रहा है, इसलिए इसके ज्ञान का विकास नहीं हो पा रहा है।

मानसशास्त्री का उत्तर दूसरा होगा। वह कहेगा कि इस व्यक्ति का मस्तिष्क विकसित नहीं है, इसलिए इसमें ज्ञान का विकास कम है। मानसशास्त्री शरीर के आधार पर कारण ढूंढ़ेगा और उन कारणों का विश्लेषण करेगा।

एक प्रश्न होता है कि मस्तिष्क विकसित क्यों नहीं हुआ? इसका भी कोई कारण अवश्य होना चाहिए। कारण अवश्य है। यह कारण छिपा हुआ है सूक्ष्म शरीर में, वह स्थूल शरीर में प्रकट नहीं है। उस व्यक्ति के ज्ञान के आवरण का इतना प्रबल उदय है कि ज्ञान का संवाहक अवयव बना ही नहीं या बना है तो अधूरा है। ज्ञानावरण के कारण ही मस्तिष्क विकसित नहीं हुआ है। अमनस्क जीवों (Non-Vertibrate) में पृष्ठरज्जु और मस्तिष्क नहीं होते। समनस्क जीवों (Vertibrate) के पृष्ठरज्जु और मस्तिष्क होते हैं, फिर भी उनका विकास समान नहीं होता। ज्ञानावरण-विलय के तारतम्य के आधार पर वह तरतमतायुक्त होता है।

एक व्यक्ति जानता है। उसमें ज्ञान है, पर वह करने में समर्थ नहीं है। वह अपने आपको अकर्मण्य पाता है। कर्मशास्त्र कहेगा–इसका भी कारण है। वह कारण है अंतराय कर्म का उदय। वह कर्म उस व्यक्ति की शक्ति को बाधित कर रहा है, उसे स्खलित कर रहा है। वह कर्म शक्ति का प्रतिघात कर रहा है, उसमें अवरोध उत्पन्न कर रहा है। वह उसकी कर्मजा शक्ति में सहयोग नहीं दे रहा है, बाधा पहुंचा रहा है।

दो प्रकार की क्षमता है–योग्यात्मक क्षमता और क्रियात्मक क्षमता। योग्यात्मक क्षमता आत्मा का गुण है। क्रियात्मक क्षमता आत्मा और शरीर के योग से निष्पन्न होती है। कर्मशास्त्र में योग्यात्मक क्षमता को 'लब्धिवीर्य' और क्रियात्मक क्षमता को 'करणवीर्य' कहा जाता है। जिस व्यक्ति में 'लब्धिवीर्य' नहीं होता, शक्ति का मूलतः विकास ही नहीं होता, वह कुछ कर ही नहीं पाता। वह कितना ही चाहे, कर नहीं सकता। जिस व्यक्ति में लब्धिवीर्य है, किंतु करणवीर्य नहीं है, क्रियात्मक क्षमता नहीं है तो शक्ति की उपलब्धि होने पर भी वह कुछ नहीं कर पाता। जिसमें दोनों हैं, वही व्यक्ति कुछ कर पाता है।

आत्मा : शरीर : मन

कर्मशास्त्र के इस महत्त्वपूर्ण बिंदु को समझने के लिए हमें आत्मा और शरीर, मन और शरीर दोनों के योग को ठीक से समझना होगा। मन का शरीर पर प्रभाव होता है और शरीर का मन पर प्रभाव होता है। आत्मा का शरीर और शरीर का आत्मा पर प्रभाव होता है। केवल आत्मा या केवल शरीर से वे सारे कार्य नहीं हो सकते, जो हमारे व्यक्तित्व की व्याख्या करने वाले होते हैं। केवल आत्मा से वे ही कार्य निष्पन्न होते हैं, जो आत्मा के मूलभूत कार्य हैं। वे हैं चैतन्य का पूर्ण विकास, आनंद का पूर्ण विकास, शक्ति का पूर्ण विकास अर्थात् अनंत चैतन्य, अनंत आनंद और अनंत शक्ति की प्राप्ति। वह चैतन्य जिसका एक कण भी आवृत नहीं होता, वह आनंद जिसमें कभी विकार नहीं आता, जिसमें कभी शोक की लहर नहीं आती, वह अखंड आनंद, अव्याबाध आनंद, वह शक्ति जिसमें कोई बाधा नहीं होती, कोई स्खलना नहीं होती, कोई रुकावट नहीं होती, यह केवल आत्मा में ही हो सकती है, किंतु जहां शरीर है और शरीर के द्वारा जो चैतन्य प्रकट हो रहा है, वह अखंड नहीं होगा।

शरीर के माध्यम से प्रकट होने वाला आनंद भी अव्याबाध नहीं होगा। शरीर के माध्यम से प्रकट होने वाली शक्ति भी अव्याहत नहीं होगी। माध्यम के द्वारा जो भी प्रकट होता है, वह कभी पूर्ण नहीं होता। माध्यम का अर्थ होता है बैसाखी। अपने पैरों से चलने वाला व्यक्ति जिस शक्ति का अनुभव करता है, बैसाखी के सहारे चलने वाला व्यक्ति वैसी शक्ति का कभी अनुभव नहीं कर सकता। बैसाखी का सहारा तभी लेना पड़ता है, जब पैरों में शक्ति की कमी होती है। यदि पैरों में शक्ति पूरी हो तो बैसाखी निरर्थक है। मनुष्य माध्यम का सहारा तब लेता है जब पूरक की जरूरत होती है। आंखों की शक्ति न्यून होती है, तब चश्मा लगाना पड़ता है। वह शक्ति का पूरक होता है। देखने की शक्ति न्यून न हो तो चश्मा आवश्यक नहीं होता, माध्यम की आवश्यकता नहीं होती।

अभिव्यक्ति का माध्यम

आत्मा की अभिव्यक्ति का माध्यम है शरीर। शरीर के माध्यम से ही आत्मा की शक्तियां अभिव्यक्त होती हैं। चैतन्य की अभिव्यक्ति, आनंद की अभिव्यक्ति, शक्ति की अभिव्यक्ति–ये सारी अभिव्यक्तियां शरीर के माध्यम से होती हैं।

चैतन्य की अभिव्यक्ति के साधन हैं इन्द्रियां, मन और बुद्धि। आनंद की अभिव्यक्ति का माध्यम है अनुभूति। शक्ति की अभिव्यक्ति का माध्यम है शरीर। हाथ, पैर आदि सारे अवयव शक्ति की अभिव्यक्ति के माध्यम हैं। इन्द्रियां भी शक्ति की अभिव्यक्ति के माध्यम हैं। शक्ति के बिना कुछ भी नहीं होता। चैतन्य की अभिव्यक्ति भी शक्ति के बिना नहीं हो सकती, आनंद की अभिव्यक्ति भी शक्ति के बिना नहीं हो सकती। शक्ति का माध्यम सबके साथ जुड़ा हुआ है। सभी अभिव्यक्तियों का माध्यम है शरीर। इसीलिए मन से शरीर प्रभावित होता है और शरीर से मन प्रभावित होता है। चैतन्य का विकास हो गया, किंतु इन्द्रियों का जो आकार बना है, इन्द्रियों के जो गोलक बने हैं, स्वस्थ नहीं हैं तो चैतन्य की शक्ति काम नहीं आएगी, उसका उपयोग नहीं हो पाएगा, जैसे-तैसे वह अनुपयोगी ही बनी रहेगी। आनंद का विकास है, किंतु अभिव्यक्ति का माध्यम ठीक नहीं है तो वह कार्यकारी नहीं होगा। शरीर भी ठीक होना चाहिए, उसके अनुरूप होना चाहिए और इन्द्रियों के गोलक स्वस्थ और सक्षम होने चाहिए, तभी उनमें शक्तियां अभिव्यक्त हो सकती हैं अन्यथा नहीं। बिजली का प्रवाह निरंतर गतिशील है। यदि बल्ब ठीक है तो वह अभिव्यक्त हो जाएगी, प्रकाश फैल जाएगा। यदि बल्ब ठीक नहीं है तो बिजली रहते हुए भी उसमें अभिव्यक्ति नहीं होगी, प्रकाश नहीं होगा, अंधेरा नहीं मिटेगा। माध्यम ठीक होना चाहिए, तभी अभिव्यक्ति हो सकती है।

हम यह विस्मृत न करें कि शरीर मन को प्रभावित करता है और मन शरीर को प्रभावित करता है। शरीर भी प्रभाव का निमित्त बनता है और मन भी प्रभाव का निमित्त बनता है, किंतु निमित्त का मूल स्रोत है कर्म।

कुछ मानते हैं कि परिस्थिति के कारण ऐसा होता है, किंतु उसमें हमें अपवाद भी मिलते हैं। कई बार ऐसा अनुभव होता है कि वातावरण शांत है, मन शांत है, कहीं कुछ गड़बड़ नहीं है, फिर भी मन में अचानक उदासी छा जाती है, मन चिंता से भर जाता है, वह शोकाकुल हो जाता है। कभी-कभी अचानक मन हर्ष से विभोर हो जाता है। यह सब सकारण हो तो बात समझ में आ सकती है। कोई हास्यास्पद घटना घटित हो और हंसी आ जाए या चिंता पैदा करने वाली घटना घटित हो और मन चिंता से भर जाए, यह बात समझ में आ सकती है, किंतु अकारण ही मन में हर्ष या विषाद पैदा हो, यह बात

आश्चर्य में डाल देती है। जब हर्ष, विषाद, चिंता या शोक का कोई प्रत्यक्ष हेतु नहीं दिखता, तब अचंभा होता है।

कर्मशास्त्र ने इन अहेतुक आवेगों पर भी विचार किया और समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा कि निमित्तों के मिलने पर या परिस्थितियों के होने पर हर्ष, भय, शोक आदि होते हैं, किंतु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जब भय-वेदनीय कर्म का प्रबल उदय होता है और वे कर्म-परमाणु इतनी प्रबलता से उदय में आते हैं कि व्यक्ति एकदम भयभीत हो जाता है। इसी प्रकार शोक या चिंता उत्पन्न करने वाले कर्म-परमाणुओं का प्रबल उदय होता है, तब अकस्मात् शोक या चिंता पैदा हो जाती है। जब शोकवेदनीय कर्म के परमाणु तीव्रता से उदय में आते हैं, तब बिना कारण ही मन में शोक छा जाता है। क्रोध वेदनीय के प्रबल उदय से अकारण ही व्यक्ति क्रोधित हो जाता है। इस प्रकार के क्रोध को 'अप्रतिष्ठित क्रोध' कहा गया है। अप्रतिष्ठित क्रोध का अर्थ है अकारण उत्पन्न होने वाला क्रोध। उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं है, कारण नहीं है, निमित्त नहीं है। उसका हेतु कर्म के उदय की प्रबलता मात्र है। क्रोध वेदनीय के परमाणु एक साथ इतनी प्रबलता से उदय में आ गए कि व्यक्ति बैठे-बैठे ही गुस्से में आ गया। दैनंदिन जीवन में हम ऐसी अवस्थाओं का अनुभव करते हैं।

परिस्थिति भी सापेक्ष

सबकुछ सकारण ही नहीं होता, अकारण भी बहुत कुछ होता है। अनेकांत की स्वीकृति के अनुसार प्रत्येक कार्य के पीछे बाह्य कारण की अनिवार्यता नहीं है। कहीं-कहीं कारण स्वगत भी होता है, अलग कारण नहीं भी होता है अर्थात् वहां कार्य और कारण दो नहीं होते। अचानक उभरने वाले क्रोध में कोई बाहरी कारण नहीं होता, उसका कारण स्वयं में समाहित है। क्रोध वेदनीय का उदय ही क्रोध का कारण है। अन्य कोई कारण नहीं है, कोई परिस्थिति नहीं है, कोई निमित्त नहीं है।

ऐसा भी घटित होता है। कर्मशास्त्रीय व्याख्या के संदर्भ में हम परिस्थितिवाद को सार्वभौम सिद्धांत के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। यह निमित्त का अस्वीकार नहीं है, परिस्थिति का अस्वीकार नहीं है। जैसी परिस्थिति होती है, व्यक्ति वैसा ही बन जाता है। इस बात में सचाई है, किंतु पूरी सचाई नहीं है। जब हम सापेक्षवाद के आधार पर चिंतन करते हैं तो पूरी सचाई की बात किसी एक बात में हो ही नहीं सकती। वह सब अपूर्ण सत्य है।

परिस्थितिवाद मिथ्या नहीं है। कर्मवाद में परिस्थिति का भी स्थान है, निमित्त का भी स्थान है, किंतु परिस्थिति ही सबकुछ है या परिस्थिति ही व्यक्ति को निर्मित करती है या हमारा प्रत्येक आचरण या व्यवहार परिस्थिति से ही प्रभावित होकर घटित होता है ऐसा मानना भ्रामक होगा। यदि परिस्थितिवाद की एकांततः स्वीकृति होती है तो उसके चक्र को कभी तोड़ा नहीं जा सकता, वह कभी टूट नहीं सकता। वह आगे से आगे घूमता रहता है।

एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि इस परिस्थिति के चक्र को नहीं तोड़ा जा सकता तो फिर कर्म-चक्र को कैसे तोड़ा जा सकता है? यह भी तो एक चक्र है, क्योंकि प्रत्येक घटना के पीछे यदि कर्म का हाथ है और हर घटना कर्म के द्वारा ही प्रभावित होकर घटित होती है तो फिर इस कर्म-चक्र को कैसे तोड़ा जा सकता है?

कर्म भी सापेक्ष

कर्म की स्वीकृति भी ऐकांतिक नहीं है। सबकुछ कर्म से ही घटित होता है, यह स्वीकृति उचित नहीं है। सबकुछ कर्म से नहीं होता। कुछ ऐसी भी स्थितियां हैं, जो कर्म से प्रभावित नहीं भी होतीं। व्यक्ति का पूरा व्यक्तित्व कर्म से प्रभावित नहीं होता। ऐसी अनेक घटनाएं घटित होती हैं, जो कर्म से प्रभावित नहीं होतीं।

एक व्यक्ति अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि है। उसका मिथ्यादर्शन अनादि है। वह प्रत्येक तत्त्व को मिथ्यादृष्टि से देखता है। सत्य के प्रति उसकी दृष्टि सही नहीं है। जब अनादिकाल से ऐसा हो रहा है तो वह मिथ्यात्व के चक्र को कैसे तोड़ पाएगा? किंतु आत्मा में एक ऐसी शक्ति है, जो पूर्णरूपेण कर्म से कभी प्रभावित नहीं होती। यदि कर्म का पूरा साम्राज्य भी हो जाए तो भी वह उसे कभी मिटा नहीं सकता, उसे तोड़ नहीं पाता। कर्म का साम्राज्य, मोह का साम्राज्य इसीलिए स्थापित होता है और तब तक चलता है, जब तक कि आत्मा अपनी शक्ति के प्रति जागृत न हो जाए।

किसी भी राष्ट्र में विदेशी शासन तब तक चलता है, जब तक उस देश या राष्ट्र की जनता जागृत नहीं हो जाती। दुनिया के किसी भी राष्ट्र के इतिहास में यही हुआ है। विदेशी शासकों ने तब तक शासन किया, जब तक कि वहां की जनता जाग न गई या वहां की जनता को जगाने वाला कोई व्यक्ति उपलब्ध नहीं हो गया। जिस क्षण जनता जाग जाती है या जगाने वाला व्यक्ति, प्राण

फूंकने वाला व्यक्ति प्राप्त हो जाता है, तब विदेशी शासन चल नहीं सकता, उसकी जड़ें हिल जाती हैं, उसे अपनी सत्ता समेट लेनी पड़ती है।

व्यवहार राशि और अव्यवहार राशि

काल की भी एक शक्ति है जो कर्म से प्रभावित नहीं होती। यदि सबकुछ कर्म के द्वारा निष्पन्न होता, कर्म का ही सार्वभौम साम्राज्य होता तो कभी इस चक्र को तोड़ा नहीं जा सकता। न सबकुछ परिस्थिति से होता और न सबकुछ कर्म के द्वारा होता। इस दुनिया में किसी को भी एकछत्र शासन प्राप्त नहीं है। सबके लिए अवकाश है। काललब्धि को भी अवकाश है। काललब्धि द्वारा कुछ विशिष्ट घटनाएं घटित होती हैं।

हम एक घटना को समझें। यह घटना है वनस्पति जीवों का अक्षयकोष से निकलकर विकासशील जगत में आना। प्राणी-जगत की दो राशियां हैं। एक है व्यवहार राशि और दूसरी है अव्यवहार राशि। अव्यवहार राशि वनस्पति का वह खजाना है, जो कभी समाप्त नहीं होता। उसमें अनंत-अनंत जीव रहते हैं। यह जो दृश्य जगत है, इसमें जितने भी जीव मोक्ष में जाते हैं उतने ही जीव अव्यवहार राशि से निकलकर व्यवहार राशि में आते हैं। अव्यवहार राशि सूक्ष्म जीवों की राशि है। यह अक्षय-कोष है। यह कभी समाप्त नहीं होता। अनंत काल में भी समाप्त नहीं होता।

दूसरी राशि है–व्यवहार राशि। यह स्थूल प्राणियों का जगत है। जो कोई भी जीव मुक्त होता है, वह व्यवहार राशि से मुक्त होता है। अव्यवहार राशि में पड़ा हुआ जीव कभी मुक्त नहीं होता। वहां से कोई मुक्ति की ओर नहीं जाता। मुक्त होने के लिए उसे व्यवहार राशि में आना पड़ता है। हमारे चैतन्य का जितना विकास होता है, वह व्यवहार राशि में ही होता है। अव्यवहार राशि में किसी का विकास नहीं होता। वहां केवल एक इन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय होती है। वे सब वनस्पति के जीव हैं। यह वनस्पति के जीवों का अनंत कोष है। इससे जीव निकलते हैं, पर यह कभी खाली नहीं होता। यहां केवल एक इन्द्रिय की चेतना का विकास होता है। आगे विकास नहीं होता। न मन का विकास, न अन्य इन्द्रियों का विकास और न बुद्धि का विकास। कोई विकास नहीं, केवल स्पर्शन इन्द्रिय–त्वचा का विकास। प्रगाढ़ मूर्च्छा, प्रगाढ़ निद्रा। जो चैतन्य प्राप्त है, उसका सूचक है स्पर्शन इन्द्रिय और कुछ भी नहीं।

इस अव्यवहार राशि से कुछ जीव व्यवहार राशि में आते रहते हैं। क्यों

आते हैं, यह एक प्रश्न है। यदि कर्म ही सबकुछ होता तो वे वहां से निकल ही नहीं पाते, किंतु काललब्धि, काल की शक्ति के आधार पर वे वहां से निकलकर व्यवहार राशि में आ जाते हैं। काल की शक्ति असीम होती है। उसी शक्ति के आधार पर वे वहां से निकलते हैं। यदि कर्म के आधार पर निकलते तो जैसे दस-बीस निकलते हैं, वैसे ही सौ-हजार जीव भी निकल आते। अनंत भी निकल आते, किंतु वे कर्म की शक्ति से नहीं निकलते। वे निकलते हैं काल की शक्ति से, काललब्धि से।

व्यवहार राशि के जीवों की दो श्रेणियां हैं–एक है कृष्णपक्ष और दूसरी है शुक्लपक्ष। कुछ जीव हैं कृष्णपक्ष वाले और कुछ जीव हैं शुक्लपक्ष वाले। जैसे चन्द्रमा के दो पक्ष होते हैं–कृष्ण और शुक्ल, काला और सफेद। वैसे ही हमारे जीवन के भी दो पक्ष हैं–कृष्ण और शुक्ल, काला और सफेद। कृष्णपक्ष हमारे अनिष्ट कर्मों का सूचक है, अनिष्ट वातावरण का सूचक है, तामस वृत्तियों का सूचक है। शुक्लपक्ष हमारे विकास का सूचक है, बंधनमुक्ति की ओर अग्रसर होने का सूचक है।

जो व्यक्ति कृष्णपक्ष में है, वह आध्यात्मिक विकास नहीं कर सकता। आध्यात्मिक विकास वही व्यक्ति कर सकता है, जो शुक्लपक्ष में है। उसका जो वातावरण है, उसका जो ओरा है, आभामंडल है, पर्यावरण है, वह शुक्ल हो जाता है। उस व्यक्ति के आसपास शुक्लता का वातावरण छा जाता है। वह व्यक्ति आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ता है। उसका विकास प्रारंभ हो जाता है।

एक प्रश्न उभरता है कि कोई भी जीव कृष्णपक्ष से शुक्लपक्ष में क्यों आता है? कैसे आता है? इसका कोई हेतु नहीं है। कर्म एकमात्र कारण नहीं है। कृष्णपक्ष से शुक्लपक्ष में आने का हेतु है काललब्धि। काल की शक्ति से ऐसा होता है।

पुरुषार्थ में कर्म को बदलने की क्षमता

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि कर्म का सार्वभौम साम्राज्य नहीं है। हम इस धारणा को निकाल दें कि जो कुछ होता है, वह सब कर्म से ही होता है। कर्म की ही सार्वभौमता स्वीकार करना मिथ्या दृष्टिकोण है। सच यह है कि सबकुछ कर्म से नहीं होता। जो घटनाएं कर्म से होने योग्य होती हैं, कर्म की सीमा में आती हैं, वे ही कर्म के द्वारा घटित होती हैं। सब घटनाएं कर्म के द्वारा

घटित नहीं होतीं। आज एक ऐसा स्वर चल पड़ा है कि 'भई! क्या करें, ऐसे ही कर्म किए थे, कर्म का ऐसा ही योग था।' हर घटित घटना के लिए, चाहे वह शुभ हो या अशुभ, अच्छी हो या बुरी, हम यही व्याख्या प्रस्तुत करते हैं कि कर्म के कारण ही ऐसा घटित हुआ है, कर्म का ही प्रताप है, प्रभाव है, अन्यथा ऐसा नहीं होता। यह भ्रांति है, बहुत बड़ा भ्रम है।

हम एकाधिकार किसी के हाथ में न सौंपें। प्रकृति के साम्राज्य में अधिनायकवाद नहीं है। जागतिक नियम में कोई अधिनायक नहीं होता। कोई अधिनियंता नहीं होता। वहां किसी को एकाधिकार प्राप्त नहीं है। कुछ शक्तियां काल में निहित हैं, कुछ स्वभाव में, कुछ परिस्थिति में और कुछ कर्म में। कुछ शक्तियां हमारे अपने पुरुषार्थ में निहित हैं। इस पुरुषार्थ में कर्म को बदल देने की भी शक्ति होती है। हमारी शक्ति का प्रतीक है पुरुषार्थ। हमारी क्षमता का प्रतीक है पुरुषार्थ। हम इसके द्वारा कर्म को भी बदल देते हैं। कर्मशास्त्र का यह भी एक नियम है कि कर्मों को बदला जा सकता है। एकाधिकार किसी को प्राप्त नहीं है। यहां सबका मिला-जुला अधिकार है। एकाधिकार नहीं, बंटा हुआ है सारा अधिकार।

यदि कर्म ही सबकुछ होता, कर्म को ही एकाधिकार प्राप्त होता तो कोई भी प्राणी अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि में नहीं आता, अविकसित प्राणियों की श्रेणी से विकसित प्राणियों की श्रेणी में नहीं आता। यदि कर्म ही सबकुछ होता तो प्राणी साधना की अयोग्य स्थिति से या अपनी अविकसित चैतन्य की भूमिका से आध्यात्मिक चेतना की विकसित भूमिका में नहीं आता। यदि कर्म ही सबकुछ होता तो प्राणी बंधन को तोड़कर कभी मुक्त नहीं होता।

कर्म ही सबकुछ नहीं है। कर्म के अतिरिक्त भी अनेक तथ्य हैं, जो अपनी-अपनी सीमा में कार्यकारी होते हैं। अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि में आना, अविकास से विकास की ओर बढ़ना, चैतन्य की अविकसित भूमिका से ऊर्ध्वारोहण कर विकसित चैतन्य की भूमिका को प्राप्त करना, बंधन को तोड़कर मुक्ति की ओर अग्रसर होना, आवरण से अनावरण की ओर बढ़ना, परतंत्रता की बेड़ियों को तोड़कर स्वतंत्रता को प्राप्त करना यह तभी संभव है, जब काललब्धि का पूरा परिपाक हो जाता है। अन्यथा प्रश्न ज्यों का त्यों खड़ा रह जाता है कि जब सौ व्यक्ति मुक्त हो सकते हैं तो सब मुक्त क्यों नहीं हो सकते? सब मुक्त हो सकते हैं। मुक्त होने का सबको अधिकार है, किंतु सब

मुक्त नहीं हो सकते। जिनकी काललब्धि पक चुकी है, वे ही मुक्त हो पाते हैं। शेष काललब्धि के परिपाक की प्रतीक्षा करते रहते हैं। इसमें सबकुछ पुरुषार्थ से होता है, ऐसा भी नहीं। सबकुछ कर्म से होता है, ऐसा भी नहीं। कर्म का एकछत्र साम्राज्य नहीं है। इसीलिए कर्म के व्यूह को तोड़ा जा सकता है। मोह का भी एकछत्र साम्राज्य नहीं है। इसीलिए मोह के चक्रव्यूह को भी तोड़ा जा सकता है।

सेनापति है मोहकर्म

हमारे जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करता है मोहकर्म। एक अज्ञान और एक मोह–ये प्रभावक तथ्य हैं जीव के। ज्ञानावरण कर्म के कारण हम सही जान नहीं पाते। अंतराय कर्म के कारण हम शक्ति का उपयोग नहीं कर पाते और दर्शनावरण कर्म के कारण सही नहीं देख पाते। मोह कर्म के कारण जानते हुए भी, देखते हुए भी, शक्ति और सामर्थ्य का उपयोग करते हुए भी सही-सही आचरण नहीं कर पाते।

दृष्टि में कोई विकार उत्पन्न करता है तो वह मोहकर्म करता है। आचरण की विकृति मोहकर्म के कारण होती है। मोहकर्म केन्द्रीय कर्म है। आगम सूत्रों में इसे सेनापति की संज्ञा दी गई है। जैसे सेनापति के मर जाने पर सेना भाग जाती है, वैसे ही मोहकर्म के नष्ट हो जाने पर शेष सारे कर्म टूट जाते हैं।

मोह को सहयोग देने वाले दो तथ्य हैं। एक ममकार और दूसरा है अहंकार। ये दो सेनानी हैं। अनात्मीय वस्तुओं में आत्मीयता का अभिनिवेश ममकार है। जो आत्मीय नहीं है, उसमें आत्मीयता का भाव रखना ममकार है, जैसे–शरीर मेरा, पिता मेरा, माता मेरी, भाई मेरा, बहन मेरी, पत्नी मेरी, पुत्र मेरा। सबसे पहले ममकार होता है शरीर के प्रति। यह सबसे निकट का है, फिर पिता, माता आदि के प्रति ममकार होता है।

यह दूसरे नंबर में है। तीसरे में घर मेरा, नौकर मेरा, धन मेरा, हाथी मेरा, ऊंट मेरा, घोड़ा मेरा। इनमें ममकार होता है, फिर यह ममकार बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ जाता है, इसकी सीमा इतनी विस्तृत हो जाती है कि इसमें हजारों-हजारों वस्तुएं आ जाती हैं। सीमा के विस्तार का कहीं अंत नहीं आता।

कर्म आदि कारणों से प्राप्त अवस्थाओं को 'मैं' मान लेना अहंकार है। जो 'मैं' नहीं है, आत्मा नहीं है, उसे आत्मा मान लेना अहंकार है। जैसे अनात्मीय को आत्मीय मान लेना 'ममकार' है वैसे ही अनात्मा को आत्मा मान लेना

'अहंकार' है। जैसे–मैं धनी हूं। अब धन कौन और मैं कौन? जो आत्मीय नहीं, उसे आत्मीय मान लिया। ये सारी अवस्थाएं वैभाविक हैं, अनेक कारणों से उत्पन्न हैं। हम कभी कहते हैं–'मैं रोगी हूं' और कभी कहते हैं–'मैं स्वस्थ हूं।'

यह रोगी होना भी 'मैं' नहीं है और स्वस्थ होना भी 'मैं' नहीं है। प्रसन्न होना भी 'मैं' नहीं है और नाराज होना भी 'मैं' नहीं है। मैं धनी हूं, मैं निर्धन हूं, मैं प्रसन्न हूं, मैं अप्रसन्न हूं, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, मैं बड़ा हूं, मैं छोटा हूं–ये सब अहंकार हैं।

आत्मा न बड़ा है और न छोटा, न रोगी है और न स्वस्थ, न प्रसन्न है और न अप्रसन्न, न सुखी और न दुःखी, फिर भी अहंकार के कारण ये सब आरोपण चलते हैं। दृष्टिकोण और आचरण दोनों में विकृति के बीज अंकुरित होते रहते हैं।

७. आवेग : उप-आवेग

मानसशास्त्र के अनुसार आवेग छह हैं–भय, क्रोध, हर्ष, शोक, प्रेम और घृणा। आवेगों का जीवन में बहुत बड़ा प्रभाव है। सारे मानवीय आचरणों की व्याख्या आवेगों के आधार पर की जाती है। किस प्रकार के आवेग में किस प्रकार की स्थिति बनती है, यह स्पष्ट है। एक व्यक्ति का मुक्का उठा और हमने समझ लिया कि वह गुस्से में है। आवेग के आते ही एक प्रकार की स्थिति बनती है, अनुभूति होती है। उसका प्रभाव स्नायु-तंत्र पर पड़ता है, पेशियों पर होता है। एक प्रकार की उत्तेजना पैदा हो जाती है। उत्तेजना के अनुरूप सक्रियता आ जाती है। पेशियां उसी के अनुसार काम करने लग जाती हैं। आवेग का प्रभाव हमारे स्नायु-तंत्र, पेशियों, रक्त और रक्त के प्रवाह पर, फेफड़ों, हृदय की गति, श्वास और ग्रंथियों पर होता है।

आवेग से शारीरिक परिवर्तन

भय का आवेग आते ही स्नायविक तरंग उठती है। वह मस्तिष्क तक उस संदेश को ले जाती है। उत्तेजना पैदा हो जाती है। वह पाचन-संस्थान को भी प्रभावित करती है। पाचन अस्त-व्यस्त हो जाता है। उत्तेजना मांसपेशियों तक पहुंचती है। वे सक्रिय हो जाती हैं। एड्रीनल ग्रंथि का स्राव अधिक होता है, उसके कारण व्यक्ति में कुछ साहसिक कार्य करने की क्षमता जागृत होती है। वह साहसिक बनकर प्रहार करने की स्थिति में आ जाता है। यह सारा शारीरिक परिवर्तन आवेग के कारण होता है, फिर बाहर से उसके लक्षण भी दिखाई देने लग जाते हैं, जिसके आधार पर हम समझ सकते हैं कि व्यक्ति भयभीत है, क्रोधी है। आवेगों के कारण शारीरिक क्रियाओं में रासायनिक परिवर्तन, शारीरिक लक्षणों में परिवर्तन और अनुभूति में परिवर्तन होता है। इन सारी बातों के साथ एक बात और जोड़ दें कर्मशास्त्र की। आवेगों के कारण बहुत सारी बातें होती हैं। इसके साथ एक बात पहले और एक

बात पीछे जोड़ दें। पहले यह जोड़ें कि भय परिस्थिति से उत्पन्न नहीं है, परिस्थिति से उद्‌भूत है। उत्पन्न होना अलग बात है और उद्‌भूत होना अलग बात है। परिस्थिति से भय उद्‌भूत हुआ, जागृत हुआ, जो सोया हुआ था, वह जाग उठा, किंतु वह उत्पन्न हुआ है मोह के कारण। वेदनीय मोह के कारण भय उत्पन्न होता है। उस व्यक्ति में ऐसे परमाणु संचित हैं, जो किसी निमित्त का सहारा पाकर जागृत हो जाते हैं। यह पहले जोड़ने वाली बात है। एक बात बाद में जोड़ें। जो डरता है, जो भयभीत है, वह भय के कारण केवल शारीरिक या मानसिक परिवर्तन ही नहीं करता, किंतु दूसरे परमाणुओं का संग्रह भी करने लग जाता है और इतने परमाणु संग्रहीत कर लेता है जो मोह को और अधिक पोषण देते हैं।

आवेग के प्रकार

कर्मशास्त्र में मोहनीय कर्म के चार आवेग माने गए हैं–क्रोध, मान, माया और लोभ। इन्हें 'कषाय-चतुष्टयी' कहा जाता है। ये चार मुख्य आवेग हैं। कुछ उप-आवेग भी हैं। उनकी संख्या सात या नौ है। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और वेद–ये सात और वेद को स्त्रीवेद, पुरुषवेद तथा नपुंसकवेद में विभक्त करें तो उप-आवेग नौ हो जाते हैं। इन्हें 'नो कषाय' कहा जाता है। ये पूरे कषाय नहीं हैं। कषायों के कारण होने वाले 'नो कषाय' हैं, मूल आवेगों के कारण होने वाले उप-आवेग हैं।

ईर्ष्या करना, अनादर आदि-आदि आवेग हैं या नहीं–यह प्रश्न होता है। ये कर्मशास्त्र में भी आवेग के रूप में स्वीकृत नहीं हैं। मानसशास्त्र में भी ये आवेग नहीं माने गए हैं। मानसशास्त्रीय परिभाषा के अनुसार ईर्ष्या आदि मूल आवेग नहीं हैं। ये सम्मिश्रण हैं, मिश्रित आवेग हैं। इनमें अनेक आवेगों का एक साथ मिश्रण हो जाता है। ये मूल नहीं हैं। कर्मशास्त्रीय परिभाषा के अनुसार भी ये मिश्रित हैं, मूल नहीं हैं। उसके अनुसार मूल आवेग चार और उप-आवेग सात या नौ हैं।

उप-आवेग क्रोध, मान, माया और लोभ जैसे तीव्र नहीं हैं। इनमें भी बहुत तारतम्य है। यह मोह का परिवार ही हमारी दृष्टि को प्रभावित करता है, हमारे चरित्र को प्रभावित करता है। जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि। जैसा दृष्टिकोण, वैसा आचार। आचार और दृष्टिकोण का गहरा संबंध है। दृष्टिकोण विकृत होता है तो आचार विकृत होता है। दृष्टिकोण सम्यक् होता है तो आचार

सम्यक् होता है। उसके सम्यक् होने की अधिक संभावना होती है। ऐसा तो नहीं है कि दृष्टिकोण के सम्यक् होने के साथ ही साथ सारा का सारा आचार सम्यक् हो जाए। आचार का क्रमिक विकास होता है। पहले दृष्टिकोण सम्यक् होगा, फिर आचार सम्यक् होगा।

जो भौतिक जीवन जीना पसंद करते हैं, वे केवल बौद्धिक विकास की चिंता करते हैं और वे बौद्धिक विकास को ही सर्वोपरि मानते हैं। जो आध्यात्मिक जीवन पसंद करते हैं, वे आध्यात्मिक चेतना के विकास की चिंता करते हैं। वे बौद्धिक विकास को आवश्यक मानते हुए भी सर्वोपरि नहीं मानते। जब तक आध्यात्मिक चेतना का विकास नहीं होता, जीवन का परम साध्य उपलब्ध नहीं होता, उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता।

हम देखते हैं, कुछ बड़े-बड़े विद्वान हैं, पर वे बहुत ही अशांत हैं। वे प्रताड़ित और धधकता हुआ-सा जीवन जीते हैं। वे ज्ञानी हैं। ज्ञान होने पर भी उनका मन शांत नहीं है। उनके पास समस्याओं का समाधान नहीं है। यह क्यों? इसका एकमात्र हेतु है कि उनमें विद्या का विकास तो हो गया, किंतु आध्यात्मिक चेतना का विकास नहीं हुआ। उनमें केवल बौद्धिक चेतना विकसित है। जब केवल बौद्धिक चेतना का विकास होता है और आध्यात्मिक चेतना का विकास नहीं होता तो समझ लेना चाहिए कि वह जीवन के लिए बहुत बड़ा खतरा है। यह संकट और भय का सबसे बड़ा बिंदु है।

बौद्धिक चेतना के विकास का संबंध है मस्तिष्क से। मस्तिष्क की शक्तियां प्रखर होती हैं, तब बौद्धिक क्षमताएं जाग जाती हैं। कर्मशास्त्र की भाषा में बौद्धिकता का विकास ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होता है। ज्ञान का आवरण जितना हटता है, उतनी ही बौद्धिक क्षमताएं विकसित होती हैं। आध्यात्मिक चेतना का विकास होता है मोहकर्म के विलय से।

कर्मशास्त्र की भाषा में कहा जाता है कि जब मोहकर्म उपशांत होता है, क्षीण होता है तब आध्यात्मिक चेतना का विकास होता है। आध्यात्मिक विकास की पूरी गाथा मोह के विलय से जुड़ी हुई है। मोह प्रबल है तो आध्यात्मिक चेतना का विकास नहीं हो सकता, चाहे फिर वह कितना ही बड़ा विद्वान बन जाए, वैज्ञानिक बन जाए या और कुछ बन जाए।

बड़े-बड़े बौद्धिक लोग भी आत्महत्या कर अपनी प्रखर बौद्धिक जीवन-लीला को समाप्त कर देते हैं। उनमें अंतर्द्वंद होता है। वे उसको समाहित नहीं

कर पाते। जो मानसिक समस्याएं एक सामान्य मनुष्य में होती हैं, वे सारी की सारी एक बड़े से बड़े बौद्धिक व्यक्ति में भी हो सकती हैं। वे समस्याएं उसको इसलिए प्रताड़ित करती हैं, इसलिए आत्महत्या करने को बाध्य करती हैं कि उनमें बौद्धिक चेतना का तो पूर्णरूपेण विकास होता है, किंतु आध्यात्मिक चेतना सुषुप्त है, विकसित नहीं है, जागृत नहीं है। जब तक आध्यात्मिक चेतना का जागरण नहीं हो जाता, तब तक समस्याओं के व्यूह को नहीं तोड़ा जा सकता। उनके प्रवाह को नहीं रोका जा सकता।

बौद्धिक और आध्यात्मिक, इन दोनों के विकास का हमारे जीवन में एक पूरा वृत्त बनता है। दोनों का समन्वय होना चाहिए। इन दोनों की समन्विति ही जीवन का सर्वोच्च विकास है। आध्यात्मिक चेतना के विकास के लिए मोह को समझना जरूरी है।

आवेग की तरतमता

मोह का मूल है राग और द्वेष। राग और द्वेष के द्वारा एक चक्र घूम रहा है। वह चक्र है आवेग और उप-आवेग का। राग और द्वेष है इसीलिए क्रोध, मान, माया और लोभ–ये चार मूल आवेग उत्पन्न होते हैं। राग और द्वेष हैं इसीलिए हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा (घृणा), काम-वासना–ये सारे उप-आवेग उत्पन्न होते हैं। इन सबके मूल में राग और द्वेष हैं। आवेगों की पृष्ठभूमि में ये दो अनुभूतियां काम करती हैं। जब तक ये अनुभूतियां हैं, तब तक आवेग और उप-आवेग की उत्पत्ति को नहीं रोका जा सकता। यह चक्र घूमता रहता है। कभी कोई उप-आवेग उत्पन्न हो जाता है तो कभी कोई आवेग। यह सच है कि परिस्थितियां भी इनकी उत्पत्ति में निमित्त बनती हैं, वातावरण भी निमित्त बनता है।

आवेगों की तरतमता समूचे आध्यात्मिक चेतना के विकास का बोधचक्र है। कषाय-चतुष्टयी–क्रोध, मान, माया और लोभ के तारतम्य का पहला प्रकार है अनंतानुबंध। अनंतानुबंधी अनंत अनुबंध करता है। इतनी संतति पैदा करता है कि जिसका अंत नहीं होता है। संतति के बाद संतति। यह क्रम टूटता ही नहीं या मुश्किल से टूटता है। जिस आवेग में संतति की निरंतरता होती है या जिसमें संतति को पैदा करने की अटूट क्षमता होती है, वह अनंतानुबंधी होता है। कभी ऐसा भी होता है कि एक घटना घटती है। उसका असर होता है और बात समाप्त हो जाती है। कभी ऐसा भी होता है कि घटना घटित हुई, मन में

विचार आया और उस विचार का सिलसिला इतना लंबा हो गया कि उस मूल विचार से अनेक छोटे-बड़े विचार उत्पन्न होते गए। एक के बाद एक विचार आते रहे। उनकी शृंखला नहीं टूटी। वह पहला विचार इतनी बड़ी संतति पैदा करता जाता है कि वह कभी समाप्त ही नहीं होता। वह अनंतानुबंधी है।

बहुत सारे कीटाणु ऐसे होते हैं, जिनकी संतति इतनी बढ़ जाती है कि जाल फैल जाता है। वह जाल बहुत बड़ा होता है। वे कीटाणु संतति पैदा करते ही चले जाते हैं। कहीं रुकते ही नहीं। इसी प्रकार जिस आवेग की संतति आगे बढ़ती चली जाती है, वह तीव्रतम आवेग हमारे दृष्टिकोण को प्रभावित करता है। जब तक यह आवेग होता है, तब तक दृष्टिकोण सम्यक् नहीं होता, क्योंकि मूर्च्छा इतनी सघन होती है कि एक मूर्च्छा दूसरी मूर्च्छा को, दूसरी मूर्च्छा तीसरी मूर्च्छा को और तीसरी मूर्च्छा चौथी मूर्च्छा को उत्पन्न करती चली जाती है। इसका कहीं अंत नहीं आता। सम्यक् देखने का हमें अवसर ही नहीं मिलता। एक के बाद दूसरी गलती, गलतियों को दोहराते चले जाते हैं और दृष्टि में भ्रम छाया का छाया रहता है। यह प्रखरतम आवेग हमारी दृष्टि को विकृत करता है।

यह ग्रंथिपात का क्रम है। मनोविज्ञान की भाषा में कहा जाता है कि जब आवेग प्रबल होता है तब ग्रंथिपात होता है। यह आवेग आने के बाद जाता नहीं। जब क्रोध अनंतानुबंधी की कोटि का होता है तब वह सहजता से नहीं जाता। वह चट्टान की दरार जैसा होता है। चट्टान में दरार पड़ गई, वह फिर मिटती नहीं। अमिट बन जाती है। एक रेखा बालू पर खींची जाती है और एक रेखा पानी पर खींची जाती है। पानी की रेखा तत्काल मिट जाती है, मिट्टी की रेखा कठिनाई से मिटती है, फिर भी वह चट्टान की दरार की भांति कठिन नहीं होती। आवेग की भी ये चार स्थितियां, अवस्थाएं होती हैं–तीव्रतम, तीव्रतर, मंद और मंदतर। कर्मशास्त्र की भाषा में इनके चार नाम हैं–

- तीव्रतम अनंतानुबंधी
- तीव्रतर अप्रत्याख्यानी
- मंद प्रत्याख्यानी
- मंदतर संज्वलन

आवेग का प्रथम प्रकार

प्रथम कोटि का आवेग दृढ़तम होता है। उस स्थिति में राग-द्वेष की गांठ

इतनी कठोर होती है कि सम्यक् दृष्टि प्राप्त नहीं होती, सत्य को सत्य के रूप में स्वीकार करने की तैयारी नहीं होती। उसके उदय से भौतिक जीवन इतना मूर्च्छामय, इतना प्रगाढ़ निद्रामय हो जाता है कि व्यक्ति सत्य को देखने का प्रयत्न ही नहीं करता, जागृति के बिंदु पर पहुंचने का प्रयत्न ही नहीं कर पाता।

जीवन में केवल मूर्च्छा व्याप्त रहती है। दृष्टि मूर्च्छित रहती है। यथार्थ हाथ नहीं लगता। निंदियाई आंखों से आदमी ठीक देख नहीं पाता, नशे में आदमी देख नहीं पाता, उसे यथार्थ का बोध नहीं होता, क्योंकि वह मत्त है, सुप्त है।

जब तक आवेग की यह अवस्था बनी रहती है, राग-द्वेष की ग्रंथि तीव्र होती है, तब तक सत्य का दर्शन नहीं होता। सम्यक् दर्शन उसे प्राप्त नहीं होता। वह मिथ्यादृष्टि होता है। उसका दर्शन मिथ्या होता है। तत्त्व का विपर्यय होता है। जीवन में सारा विपर्यय-ही-विपर्यय होता है।

इस तीव्र आवेग की ऐसी रासायनिक प्रक्रिया होती है कि व्यक्ति के चिंतन-मनन को विकृत कर देती है। चिंतन-मनन विपर्यस्त हो जाता है। जब उस आवेग की तीव्रता कम होती है, उसका परिशोधन होता है, उसका तनुभाव होता है, वह क्षीण होता है, तब दूसरी अवस्था (अप्रत्याख्यान) प्राप्त होती है।

अनंतानुबंधी अवस्था का विलय होते ही दृष्टिकोण सम्यक् हो जाता है। यह साधना की पहली भूमिका है। यह आध्यात्मिक चेतना के विकास की पहली भूमिका है। कर्मशास्त्र की भाषा में इस भूमिका का नाम है–सम्यग्दृष्टि गुणस्थान। यह सत्य को जानने की भूमिका है। यहां अतत्त्व की बुद्धि नहीं रहती। असत्य में सत्य का भाव नहीं रहता। व्यक्ति जो जैसा है, उसे वैसा जानने लग जाता है। उसकी दृष्टि सम्यक् हो जाती है। सत्य उपलब्ध हो जाता है।

आवेग का दूसरा प्रकार

आवेग की दूसरी अवस्था विद्यमान रहती है तब आध्यात्मिक चेतना के विकास के लिए जिस प्यास को बुझाना चाहिए, जो प्यास बुझ जानी चाहिए, जो अनंत आकांक्षा है, अनंत प्यास है, वह बुझती नहीं। बोध यथार्थ हो जाता है कि यह प्यास है और ऐसी प्यास है, जो बुझती नहीं। कितना ही पीओ, वह नहीं बुझेगी। जितना पीते हैं, उतनी ही वह प्यास प्रज्वलित होती रहती है। बुझाने का मार्ग प्राप्त नहीं है, क्योंकि आवेग की दूसरी अवस्था विद्यमान है। वह पथ प्राप्त नहीं करने देती। उससे प्रभावित होकर व्यक्ति प्यास बुझाने के मार्ग को स्वीकार ही नहीं करता।

आवेग की यह ग्रंथि, उसे वैसा करने नहीं देती। उस ग्रंथि का ऐसा स्राव होता है, जो उस प्यास को बुझाने के रास्ते पर मनुष्य को चलने ही नहीं देता। चेतना ऐसी बन जाती है कि व्यक्ति जानते हुए भी कर नहीं पाता। कई बार हम लोगों को यह कहते हुए सुनते हैं कि वह मार्ग बहुत अच्छा है, पर हम चल नहीं सकते। ध्यान बहुत अच्छा है, पर हम उसे कर नहीं पाते। निकम्मा कौन बैठे? काम बहुत है। व्यस्तता बहुत है। इच्छा ही नहीं होती कि ध्यान किया जाए। कभी इच्छा नहीं होती कि साधना की जाए, थोड़ी-सी निवृत्ति की जाए। यद्यपि ध्यान भी एक प्रवृत्ति है, साधना भी एक प्रवृत्ति है, फिर भी उसमें मन नहीं लगता।

मन उसी प्रवृत्ति में लगता है, जिसको हम रात-दिन करते आ रहे हैं। वह भी सकारण होता है। इसका मूल कारण है दूसरे आवेग की विद्यमानता। जैसे-जैसे आध्यात्मिक चेतना का क्रम बढ़ता है, दूसरा आवेग घुलता जाता है, उसका शोधन होता जाता है, तब व्यक्ति में विरति की ओर बढ़ने की भावना होती है। इस आवेग का नाम है अप्रत्याख्यान।

पहला आवेग टूटता है तब भेदज्ञान की उपलब्धि होती है। 'मैं शरीर से भिन्न हूं, मैं शरीर नहीं हूं', यह बोध स्पष्ट हो जाता है। मैं शरीर हूं–यह अस्मिता है। अस्मिता एक क्लेश है। भेदज्ञान होते ही अस्मिता मिट जाती है, क्लेश मिट जाता है। इसके मिटते ही दूसरा संस्कार निर्मित हो जाता है। 'मैं शरीर नहीं हूं, मैं शरीर से भिन्न हूं'–यह भी एक संस्कार है। यह प्रतिप्रसव है, अर्थात् उस संस्कार को मिटाने वाला संस्कार है। शरीर के साथ अभेदानुभूति, अहमेव देहोऽस्मि का जो भाव है, मैं शरीर हूं, मैं देह हूं, यह जो भाव है, यह मिथ्या दृष्टिकोण है। वह समाप्त हो जाता है। उसे समाप्त करने के लिए दूसरे संस्कार का निर्माण करना होता है। 'मैं शरीर नहीं हूं'–यह प्रतिप्रसव है, प्रतिपक्ष का संस्कार है।

जैसे ही आवेग की दूसरी अवस्था (अप्रत्याख्यानावरण) उपशांत या क्षीण होती है, तब उस रास्ते पर चलने की भावना निर्मित हो जाती है। तब मन में भावना होती है कि विरति का, त्याग का रास्ता अच्छा है, प्यास बुझाने वाला है, इस पर अवश्य चलना चाहिए। कर्मशास्त्र की भाषा में देशविरति गुणस्थान उपलब्ध हो जाता है। यह आध्यात्मिक विकास की पांचवीं भूमिका है।

आवेग का तीसरा प्रकार

आध्यात्मिक विकास के क्रम में जब हम आगे बढ़ते हैं, अभ्यास करते-करते जैसे मोह का वलय टूटता जाता है, उसका प्रभाव मंद होता जाता है, तब तीसरी ग्रंथि खुलती है। इस ग्रंथि का नाम है प्रत्याख्यानावरण। यह आवेग की तीसरी अवस्था है। इसके टूटने से विरति के प्रति व्यक्ति पूर्ण समर्पित हो जाता है। जो चलना प्रारंभ किया था, अब उसके लिए पूर्ण समर्पित हो जाता है। यह आध्यात्मिक विकास की छठी भूमिका है। इस भूमिका में व्यक्ति साधु बन जाता है, संन्यासी बन जाता है। पांचवीं भूमिका गृहस्थ साधकों की है और छठी भूमिका मुनि साधकों की है। दोनों साधना के इच्छुक हैं, दोनों साधना-पथ के पथिक हैं। दोनों ने चलना शुरू किया है। वे उस यात्रा के लिए समर्पित हो चुके हैं।

एक व्यक्ति गृहस्थ जीवन में साधना करता है और एक व्यक्ति मुनि जीवन में साधना करता है। गृहस्थ जीवन से मुनि जीवन में आ जाना कोई आकस्मिक घटना नहीं है, एक छलांग नहीं है। कहीं-कहीं, कभी-कभी आकस्मिक घटना भी घटित होती है, छलांग भी लगती है। हमारे विकास के क्रम में भी छलांगें होती हैं। विकास के एक क्रम में चलते-चलते ऐसी छलांग आती है कि व्यक्ति को नई उपलब्धि प्राप्त हो जाती है, नया प्रजनन हो जाता है, नया घटित हो जाता है। यह छलांग है, किंतु गृहस्थ जीवन से मुनि जीवन में आ जाना कोई छलांग नहीं है। इसमें निश्चित क्रम की व्यवस्था है। कोई गृहस्थ होकर साधना का प्रारंभ करता है और कोई मुनि बनकर साधना की यात्रा पर चलता है। इसके पीछे भी मोह के आवेगों का सिद्धांत काम करता है। जिस व्यक्ति के मोह का कुछ विलय हुआ है एक निश्चित मात्रा में, तो उस व्यक्ति के मन में साधना का भाव जागृत होता है। जिस व्यक्ति के मोह का अधिक विलय हुआ है, उस व्यक्ति के मन में साधना के प्रति समर्पित हो जाने की बात प्राप्त होती है।

भगवान महावीर ने साधु जीवन की जो व्यवस्था की, वह नई व्यवस्था थी। उन्होंने यह व्यवस्था दी कि जैन शासन में जो भी प्रव्रजित होगा, वह जीवनभर के लिए मुनि बनेगा, कुछ समय के लिए नहीं। उसे यावज्जीवन मुनिव्रत को पालने की प्रतिज्ञा करनी होगी। बौद्धों में दूसरी व्यवस्था है।

बौद्ध शासन में भिक्षु बनने वाले के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह

यावज्जीवन भिक्षु ही बना रहे। वह दो वर्ष, पांच वर्ष, बीस वर्ष तक अर्थात सावधिक भिक्षु रह सकता है। यह तथ्य मनोवैज्ञानिक-सा लगता है। बुद्ध ने ऐसा स्तर बतला दिया कि आज साधना के लिए चले, भिक्षु बने, जब तक संभव हुआ, तब तक भिक्षु बने रहे, जब इच्छा हुई, तब पुनः लौट आए।

महावीर ने जो यावज्जीवन की व्यवस्था की, वह मनोवैज्ञानिक भूमिका से भी परे की बात है। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथ्य है। उन्होंने इस व्यवस्था की पृष्ठभूमि में कहा कि जो साधना के प्रति पूर्ण समर्पित नहीं होता, वह भिक्षु कैसे हो सकता है? जिसका यह संकल्प ही नहीं कि मैं जीवनभर मुनि बना रहूंगा, वह लक्ष्य के प्रति पूर्णतः समर्पित कैसे हो सकता है? जिस व्यक्ति की पृष्ठभूमि में मोह-विलय की इतनी प्रेरणा नहीं कि वह साधना के प्रति सदा के लिए समर्पित हो जाए, वह गृहस्थ-साधु हो सकता है, किंतु गृहत्यागी अनगार साधु कैसे हो सकता है?

इस मोह-विलय के तारतम्य के आधार पर, इस कर्म की प्रेरणा की वास्तविकता के आधार पर महावीर ने यह अनिवार्य बात जोड़ी कि कोई मुनि बनेगा तो वह आजीवन के लिए बनेगा, अल्पकाल के लिए नहीं, क्योंकि जब प्रत्याख्यानावरण का विलय नहीं है तो मुनित्व आ नहीं सकता।

मुनित्व और श्रावकत्व की हमारी व्यावहारिक कल्पना है। सम्यक् दर्शन की भी एक व्यावहारिक कल्पना है। जहां संघ और समाज होता है, संगठन होता है, वहां व्यवहार भी चलता है, किंतु व्यवहार व्यवहार होता है, उसमें वास्तविकता बहुत कम होती है। निश्चय वास्तविक होता है। निश्चय सत्य की उपलब्धि निश्चय के द्वारा होती है। निश्चय को हम छोड़ दें और केवल व्यवहार पर चलें तो जो सत्य उपलब्ध होना चाहिए, वह उपलब्ध नहीं होता।

अनेकांत दर्शन के दो पक्ष हैं व्यवहार और निश्चय। अनेकांत का पंछी निश्चय और व्यवहार इन दोनों पंखों को फड़फड़ाकर उड़ता है। एक पंख से वह उड़ नहीं पाता। एक पंख उसका काटा नहीं जा सकता, न व्यवहार को काटा जा सकता है और न निश्चय को काटा जा सकता है।

कषाय विलय और गुणों का विकास

जब हम व्यवहार की भाषा में चलते हैं तब जीव आदि नौ पदार्थों को जानना सम्यक् दर्शन माना जाता है। श्रावक के व्रतों को स्वीकार कर लिया, यह हो गया पांचवां गुणस्थान अर्थात् श्रावकत्व-देशविरति की प्राप्ति। पांच

महाव्रतों को स्वीकार कर लिया, छठा गुणस्थान आ गया, सर्वविरति की अवस्था प्राप्त हो गई। यह है व्यवहार की भाषा का स्वीकार।

जब हम कर्मशास्त्रीय भाषा में सोचते हैं, निश्चय की भाषा में सोचते हैं, तब हमें कहना होगा कि आवेग चतुष्टय (क्रोध, मान, माया, लोभ) की तीव्रतम अवस्था (अनंतानुबंधी) का विलय होने पर सम्यक् दर्शन उपलब्ध होता है। जिस व्यक्ति में आवेग की दूसरी अवस्था (अप्रत्याख्यानावरण) का क्षयोपशम नहीं होता, तब तक यथार्थ में व्यक्ति देशविरति श्रावक नहीं बन सकता, चाहे फिर वह कितनी ही बार त्याग को दोहराता रहे। जिस व्यक्ति में आवेग की तीसरी अवस्था (प्रत्याख्यानावरण) का क्षयोपशम नहीं होता, तब तक वह मुनि नहीं बन सकता, फिर चाहे वह कितनी ही बार दीक्षित क्यों न हो जाए। जब तक व्यक्ति के आवेग की चौथी अवस्था (संज्वलन) का क्षय या उपशम नहीं होता, तब तक व्यक्ति वीतराग नहीं बन सकता, वह चारित्र की उत्कृष्ट कोटि यथाख्यात को नहीं पा सकता।

हम अंतरंग और बहिरंग दोनों पर ध्यान दें। केवल बहिरंग साधना पर्याप्त नहीं है। जब तक कषाय का विलय नहीं होगा, अंतरंग का स्पर्श नहीं होगा, तब तक आध्यात्मिक चेतना उपलब्ध नहीं होगी। बहिरंग साधना से व्यवहार की पूर्ति तो हो सकेगी, किंतु आध्यात्मिक चेतना का विकास नहीं हो पाएगा।

कर्मशास्त्र के रहस्यों को समझे बिना हम आध्यात्मिक विकास के सूक्ष्म रहस्यों को नहीं समझ सकते। उन सूक्ष्म रहस्यों को समझे बिना आध्यात्मिक चेतना के अंतरंग पथ को नहीं पकड़ सकते, इसलिए हमें कर्मशास्त्र की गहराइयों में उतरकर उसके रहस्यों को पकड़ना होगा। वीतराग की ओर बढ़ने के लिए जो एक बाधा बनी रहती है, वह है आकांक्षा। व्यक्ति कभी पूजा का आकांक्षी हो जाता है, कभी उसकी इच्छा प्रिय वस्तुओं को भोगने की ओर अग्रसर होती है, कभी वह अनुकूलता चाहता है, मनोज्ञता चाहता है, अमनोज्ञता से बचना चाहता है। यह सब आशंसा से उत्पन्न होता है। जो व्यक्ति जहावाई तहाकारी नहीं होता, जैसा कहता है, वैसा करने वाला नहीं होता, कहता कुछ है और करता कुछ है, यह स्थिति जब तक समाप्त नहीं होती, तब तक अध्यात्म की उच्च भूमिका प्राप्त नहीं होती। जो कह दिया, वैसा ही करना है, यह चेतना जब पूर्णतः जागृत नहीं होती तब कभी-कभी चलते-चलते शिथिलता आ जाती है। कभी वह शिथिलता वातावरण से उत्पन्न होती है और कभी अन्यान्य कारणों से।

आवेश की समाप्ति : वीतरागता की प्राप्ति

जब ये चारों आवेग नष्ट हो जाते हैं, इनकी चारों अवस्थाएं क्षीण हो जाती हैं, तब वीतरागता की स्थिति आती है, तब चारित्र यथाख्यात बन जाता है। उस अवस्था में किसी भी परिस्थिति में लक्ष्य के प्रति शैथिल्य नहीं आता। तब कहने और करने में, करने और कहने में तनिक भी अंतर नहीं रह जाता। कोई भी शक्ति उसमें अंतर नहीं ला सकती। चाहे मनुष्यकृत कष्ट प्राप्त हों, तिर्यंचकृत कष्ट प्राप्त हों या दैवी उपसर्ग प्राप्त हों, चाहे मरने का प्रसंग आए या जीने का, चाहे आकर्षक पदार्थों का अंबार लगा हो या नीरस पदार्थ पड़े हों, व्यक्ति की चेतना में कोई अंतर नहीं आता। वह आत्मा के साथ एकात्मक हो जाता है, एकरूप हो जाता है। वह यथाख्यात चारित्र इतना अप्रकंप होता है कि वहां छिपाव की बात सर्वथा समाप्त हो जाती है। छद्मरहित अवस्था होती है। भीतर से एक प्रकार की नग्नता जैसी अवस्था हो जाती है। कोई छिपाव या आवरण नहीं रहता।

मोह विलय से ही आध्यात्मिक विकास

यह हमारी आध्यात्मिक चेतना का विकास-क्रम है। यह सारा का सारा मोह के विलय के आधार पर होता है। मोह जितना प्रबल होता है, हमारी मूर्च्छा उतनी ही प्रबल हो जाती है। हमारी मूर्च्छा जितनी प्रबल होती है, उतना ही हमारा आचार विकृत होता चला जाता है और हमारा दृष्टिकोण भी मिथ्या होता चला जाता है। एक मार्ग है मोह की प्रबलता का और दूसरा मार्ग है, मोह की दुर्बलता का या मोह के विलय का। पहले मार्ग से चलते हैं तो आध्यात्मिक चेतना मूर्च्छित होती चली जाती है और दूसरे मार्ग से चलते हैं तो आध्यात्मिक चेतना विकसित होती चली जाती है।

हम किस प्रकार मोह को क्षीण करें, यह साधना का केन्द्र-बिंदु है। मोह को शांत करें, राग-द्वेष को कम करें और इस प्रकार जीवन जीएं कि कषाय कम होता चला जाए, राग-द्वेष कम होता रहे, यह जैसे कर्मशास्त्रीय मीमांसा है, वैसे ही अध्यात्मशास्त्रीय मीमांसा है। जैसे अध्यात्मशास्त्रीय मीमांसा है, वैसे ही स्वास्थ्यशास्त्रीय मीमांसा है, मानसशास्त्रीय मीमांसा है। इन आवेगों का केवल हमारी आध्यात्मिक चेतना पर ही प्रभाव नहीं होता, किंतु हमारे मन, मन की शांति और स्वास्थ्य पर भी प्रभाव होता है। आज की मनोवैज्ञानिक खोजों ने विषय को बहुत उजागर कर दिया कि आवेगों का व्यक्ति के मन पर कितना असर होता है और आवेगों के कारण कितने प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। यह

विषय पहले भी अज्ञात नहीं था। प्राचीन आचार्यों ने यह स्पष्टता से प्रतिपादित किया है कि आवेगों से रोग उत्पन्न होते हैं। वात, पित्त और कफ की विषमता से ही बीमारियां होती हैं। आवेगों के द्वारा वात, पित्त और कफ विकृत होते हैं और तब रोग सरलता से आक्रमण कर देते हैं।

प्राचीन आयुर्वेद के ग्रंथों में इन विषयों की विशद जानकारी प्राप्त होती है, किंतु वर्तमान में जो मानसशास्त्रीय खोजें हुई हैं, उनसे इस विषय पर चामत्कारिक प्रकाश पड़ता है। मनस-चिकित्साशास्त्र कुछ अद्‌भुत बातें प्रस्तुत करता है। हम मानते हैं कि बीमारियां शरीर में पैदा होती हैं। डॉक्टर कहते हैं कि कीटाणुओं के द्वारा बीमारियां उत्पन्न होती हैं, किंतु मनस-चिकित्साशास्त्र कुछ और ही कहता है। उसका कहना है कि सत्तर-अस्सी प्रतिशत बीमारियां मानसिक आवेगों के कारण होती हैं। क्रोध, ईर्ष्या, भय, लालच–ये बीमारी के उत्पादक हैं।

बहुत सारी बीमारियां ग्रंथियों के स्राव के कारण बढ़ती हैं। अवांछनीय रासायनिक प्रक्रिया होती है। इस दृष्टि से भी ये आवेग घातक हैं। ये आवेग कर्म की परंपरा को तो आगे बढ़ाते ही हैं, किंतु शरीर के लिए भी लाभदायक नहीं हैं। हमें कर्मशास्त्र को केवल जानना ही नहीं है, उसके रहस्यों को जानकर उनसे लाभ उठाना है। वह है आवेग का नियंत्रण। आवेगों पर हमारा नियंत्रण होना चाहिए। कर्मशास्त्र की भाषा में आवेग-नियंत्रण की तीन पद्धतियां हैं– उपशमन, क्षयोपशमन और क्षयीकरण।

उपशमन

मनोविज्ञान की भाषा में इसे दमन की पद्धति कहा गया है। एक व्यक्ति आवेगों का दमन करता चला जाता है। मन में जो भी इच्छा उत्पन्न हुई, जो भी आवेग आया, उसे रोक लिया, शांत कर दिया, दबा दिया। वह दबाता चला जाता है और दमन करते-करते अध्यात्म-विकास की ग्यारहवीं भूमिका तक जा सकता है। यह भी ऊंची भूमिका है। इसका नाम है–उपशांत मोह। इसे ग्यारहवां गुणस्थान कहा जाता है। इस भूमिका में मोह उपशांत हो जाता है। इतना उपशांत कि व्यक्ति वीतराग हो जाता है।

यह दमन का रास्ता है, विलय का नहीं, इसलिए कुछ समय पश्चात् ऐसी स्थिति बनती है कि दबा हुआ कषाय उभरता है और उससे ऐसा झटका लगता है कि ग्यारहवीं भूमिका में गया हुआ साधक नीचे लुढ़क जाता है और फिर

वह उन्हीं आवेगों से आक्रांत हो जाता है। दमन की पद्धति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किंतु यह व्यक्ति को लक्ष्य तक नहीं पहुंचा पाती।

क्षयोपशमन

यह दूसरी पद्धति है। मनोविज्ञान की भाषा में इसे उदात्तीकरण की पद्धति कहा गया है। इसे मार्गांतरीकरण भी कहा जाता है। इसका अर्थ है रास्ता बदल देना, उदात्त कर देना, परिष्कृत कर देना, परिमार्जन कर देना। क्षयोपशमन का अर्थ है कुछ दोषों का उपशमन हुआ और कुछ क्षीण हुए। इसमें उपशमन और क्षय साथ-साथ चलते हैं।

क्षयीकरण

यह तीसरी पद्धति है। इसका अर्थ है पूर्ण क्षीण कर देना, समाप्त कर देना, विलय कर देना। इसमें उपशमन नहीं होता। जो भी आया, उसे नष्ट कर दिया। यह नष्ट करते हुए चलने की पद्धति है। यह है सर्वथा आगे बढ़ जाने की पद्धति। ऐसा करने वाला व्यक्ति पूर्णतः आगे ही बढ़ता चला जाता है। उसकी आध्यात्मिक चेतना की भूमिका प्रशस्त होती चली जाती है। आवेगों का उपशमन होता है, आवेगों का क्षयोपशमन और आवेगों का क्षयीकरण होता है। मानसविज्ञान की दृष्टि से भी यह सम्मत तथ्य है कि आवेगों पर नियंत्रण होना चाहिए।

अनियंत्रित आवेग व्यक्ति को ही नहीं, समाज को भी हानि पहुंचाते हैं। क्रोध उत्पन्न होता है। उसे रोकना जरूरी है, किंतु प्रश्न यह आता है कि उसे कैसे रोकें? यहां कर्मशास्त्र का अध्यात्मशास्त्रीय पक्ष आ जाता है। यह उसका साधना पक्ष है। अध्यात्मशास्त्र और कर्मशास्त्र जुड़े हुए हैं। इन्हें कभी अलग नहीं किया जा सकता। हमने यह जान लिया कि यह संसार का चक्र आवेग के द्वारा चल रहा है। आवेगों के द्वारा मानसिक अशांति का चक्र चल रहा है। आवेगों के द्वारा बहुत सारी बीमारियां उत्पन्न होती हैं, परंतु एक प्रश्न आता है कि हम इन आवेगों से कैसे बचें?

कर्मशास्त्र इस प्रश्न का समाधान नहीं देता। क्या घटित होता है, यह कर्मशास्त्र के द्वारा उपलब्ध हो गया। अब उन आवेगों के उपशमन के लिए, उनके क्षयीकरण के लिए हमें क्या करना चाहिए, यह बोध अध्यात्मशास्त्र से प्राप्त होगा। इस बिंदु पर कर्मशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र मिल जाते हैं। मोह का विलय कैसे करें, आवेगों का विलय कैसे करें, इसकी चर्चा हम अध्यात्मशास्त्रीय बिंदु के द्वारा करेंगे।

८. आवेग-चिकित्सा

कुशल चिकित्सक वह होता है, जो रोग, रोग के हेतु, आरोग्य और आरोग्य के हेतु–इन चारों को जानकर रोग की चिकित्सा करता है। कुशल साधक वह होता है, जो कर्म, कर्म के बीज, कर्म-मुक्ति और कर्म-मुक्ति के हेतु को जानता है। कुशल साधक वह होता है, जो बंध, बंध के हेतु, बंध-मुक्ति और बंध-मुक्ति के हेतु को जानता है और इन सबको भलीभांति जानकर कर्म की चिकित्सा करता है।

कर्म को जानना उसके लिए इसलिए जरूरी है कि उसको जाने बिना आध्यात्मिक विकास नहीं होता। उसकी आध्यात्मिक चेतना के विकास में जो बाधक है, वह है कर्म। यदि वह अपने बाधक तत्त्व को नहीं जानता तो अपनी बाधा मिटा नहीं सकता। आध्यात्मिक चेतना का विकास कर नहीं सकता, इसलिए कर्म को जानना जरूरी है। दूसरे शब्दों में, बंध को जानना जरूरी है। बंध या कर्म को जानना ही पर्याप्त नहीं है। उसके हेतु को जाने बिना कुछ नहीं होता। यदि कर्म या बंध के हेतु को नहीं जाना जाता तो कर्म या बंध को समाप्त नहीं किया जा सकता।

कर्म का बीज है राग-द्वेष। जब तक राग और द्वेष को नहीं जाना जाता, तब तक राग और द्वेष से होने वाले जीव के परिणामों को, जीव की विविध परिणतियों को नहीं जाना जा सकता। कर्म की चिकित्सा नहीं हो सकती, इसलिए कर्म को जानना जरूरी है, कर्म-बीज को जानना भी जरूरी है। दोनों को जान लिया, किंतु यदि कर्म-मुक्ति और कर्म-मुक्ति के हेतु को नहीं जाना तो कर्म की चिकित्सा नहीं हो सकती।

कर्म-मुक्ति का हेतु है संवर और निर्जरा। जब ध्यान के द्वारा संवर (निरोध) की स्थिति उपलब्ध होती है और तपस्या के द्वारा निर्जरा हो जाती है, तब कर्म की ठीक चिकित्सा होती है, इसलिए कुशल साधक को कर्म,

कर्म के हेतु, कर्म-मुक्ति और कर्म-मुक्ति के हेतु–इन चारों को जानना बहुत आवश्यक है। इनको जाने बिना वह अपनी साधना में विकास नहीं कर सकता।

आवेश और कर्म का आश्रवण

हमारे आवेग कर्मों का आस्रव निरंतर करते रहते हैं, कर्मों के आने के द्वारों को खोलते रहते हैं। उन द्वारों को कैसे बंद किया जाए? आवेगों को कैसे शांत किया जाए? यदि मोह के आवेग शांत होते हैं, मोह की आवृत्तियां शांत होती हैं, कम होती हैं तो दबाव अपने आप कम होने लग जाता है। साधक के सामने यह ज्वलंत प्रश्न है कि उन आवेगों और मोह की आवृत्तियों को शांत कैसे करे? आवेगों को शांत करने का प्रश्न केवल साधकों के सामने ही नहीं है चिकित्सकों के सामने भी है, क्योंकि आवेगों को शांत किए बिना जीवन भी स्वस्थ नहीं रह सकता। आवेग बुरी आदतों के उत्पादक हैं। स्वस्थ जीवन के लिए उन्हें शांत करना आवश्यक होता है। चिकित्सकों ने भी अपनी सीमा में आवेग-शांति के उपाय खोजे हैं। जितने आवेग हैं, उन सबके केन्द्र हमारे मस्तिष्क में हैं। जिनके माध्यम से ये आवेग अभिव्यक्त होते हैं, वे सब केन्द्र हमारे मस्तिष्क में हैं। उन केन्द्रों को समाप्त करने से आवेग शांत हो जाते हैं। क्रोध का एक केन्द्र है, एक बिंदु है। उस बिंदु को समाप्त कर देने पर क्रोध आना बंद हो जाता है। मद्रास में 'ब्रेन इन्स्टीट्यूट' है। यह भारत का बहुत बड़ा केन्द्र है। यहां के डॉक्टरों ने कुछ ऑपरेशन किए। उन्होंने कुछ खोजें कीं। उन्होंने बताया कि मदिरा पीने की आदत ऑपरेशन के द्वारा छुड़ाई जा सकती है। मस्तिष्क में एक केन्द्र है, जो मादक वस्तुओं के प्रति आकृष्ट होता है। उसकी उत्तेजना को समाप्त कर दिया जाए तो फिर मादक वस्तुओं के सेवन की आदत समाप्त हो जाती है, भावना समाप्त हो जाती है। उन्होंने ऐसे ऑपरेशन किए हैं और उनमें सफल हुए हैं। उनका यह निष्कर्ष है कि अनेक आवेग, अनेक उत्तेजनाएं, चिड़चिड़ा स्वभाव, कलह करने की वृत्ति–इन सबको मस्तिष्क के अमुक-अमुक केन्द्रों के ऑपरेशन के द्वारा ठीक किया जा सकता है। उनको मिटाया जा सकता है।

हमारे मस्तिष्क में कई प्रकार की तरंगें पैदा होती हैं–अल्फा, बीटा, गामा आदि-आदि। ये तरंगें हमारे में विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों को उत्पन्न करती हैं। कई प्रकार की अन्य तरंगें भी हैं, जिनका विकास यौगिक पद्धति के द्वारा किया जा सकता है। उनका अध्ययन और परीक्षण भी किया जा सकता है।

आज की चिकित्सा-पद्धति ने इतना विकास कर लिया कि वह ऑपरेशन के द्वारा या बिजली के झटके देकर, विभिन्न आवेगों और आदतों को मिटाने में सक्षम है। आवेग के केन्द्र को समाप्त कर देने पर वह जीवनभर फिर कभी सक्रिय नहीं हो सकता। काम-वासना का आवेग, कषाय का आवेग, भय का आवेग आदि सभी आवेगों को समाप्त करने में आज का चिकित्सा-विज्ञान सक्षम है।

चिकित्सा की सीमा है हमारा दृश्य शरीर औदारिक शरीर। शरीर का मुख्य भाग है मस्तिष्क। इसके माध्यम से चिकित्सक इस परीक्षण में लगे हुए हैं कि किस प्रकार बिना ऑपरेशन आवेगों के केन्द्रों को सुधार कर मनुष्य को आवेगों के प्रहारों से बचाया जा सकता है। यह शरीरशास्त्रीय और चिकित्साशास्त्रीय खोजों का निष्कर्ष है।

अब हम अध्यात्मशास्त्रीय निष्कर्षों पर भी विचार करें। क्या बिना ऑपरेशन के भी इन आवेगों को शांत किया जा सकता है? मस्तिष्क के विशेष केन्द्र-बिंदुओं और विशेष स्नायुओं को काटे बिना ही क्या उत्तेजनाओं, वासनाओं और आदतों को शांत किया जा सकता है? इन प्रश्नों पर प्राचीन काल से अध्यात्म के साधकों ने, अध्यात्म के तत्त्ववेत्ताओं ने जो अनुसंधान किए हैं, जो परीक्षण और प्रयोग किए हैं, उन पर हमें एक दृष्टि डाल देनी चाहिए।

अध्यात्म-तत्त्ववेत्ताओं ने कहा कि यह सब आत्मिक प्रक्रिया के द्वारा भी हो सकता है। आत्मिक प्रक्रिया में सबसे पहली बात है, स्वरूपानुसंधान अर्थात् अपने स्वरूप का संधान। हम एक बात को न भूलें कि हमारे सामने एक ही प्रकाश-किरण है और वह है हमारा स्वतंत्र अस्तित्व। हमारा स्वतंत्र स्वभाव है, अस्तित्व है और उसको कभी मिटाया नहीं जा सकता। उस स्वभाव को कभी भी दबाया नहीं जा सकता। उस स्वभाव को कभी भी पूर्णतः आच्छन्न नहीं किया जा सकता। चाहे हजार बार कर्मों का आक्रमण हो, हजार बार कर्म के पुद्गलों की रासायनिक प्रक्रियाएं आवृत्तियां करती रहें, फिर भी उसे पूर्णतः विकृत नहीं किया जा सकता, न पूर्णतः शक्तिहीन किया जा सकता है। यही हमारे लिए प्रकाश की पहली रश्मि है। यदि यह नहीं होती तो हम कुछ भी करने में समर्थ नहीं हो पाते, किंतु हमारे पास वह स्वतंत्रता है, जिसके द्वारा ही परिवर्तन की सारी बातें संभव हो सकती हैं।

भेदज्ञान

सबसे पहली बात है अपने स्वरूप का संधान। जिस व्यक्ति में यह सम्यग्दृष्टि जाग जाती है, अपने स्वरूप के संधान की बात चेतना पर उतर आती है, वह व्यक्ति आवेगों में परिवर्तन करने में सक्षम हो जाता है। स्वरूप के संधान का अर्थ है भेदज्ञान की प्राप्ति। आध्यात्मिक भूमिका में परिवर्तन का यह पहला बिंदु है। जब यह भेदज्ञान जाग जाता है, वहां से परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। हम बदलना शुरू कर देते हैं। इससे इतना आंतरिक परिवर्तन, इतना रूपांतरण आ जाता है, व्यक्ति इतना रूपांतरित हो जाता है कि पहले का व्यक्ति और भेदज्ञान या सम्यग्दृष्टि प्राप्त होने के बाद का व्यक्ति, एक ही व्यक्ति नहीं रह जाता। उसके व्यक्तित्व का आमूलचूल परिवर्तन हो जाता है। जीवन और विश्व के प्रति दृष्टिकोण बदल जाता है। जीवन को देखने का कोण बदल जाता है। पहले जिस दृष्टि से पदार्थ को देखता था, उसी दृष्टि से अब पदार्थ को नहीं देखता। जिस दृष्टि से अपने को पहले देखता था, उसी दृष्टि से अब अपने को नहीं देखता। अपने को और पदार्थ को देखने का दृष्टिकोण–दोनों बदल जाते हैं।

दृष्टिकोण के परिवर्तन से आवेगों पर करारी चोट होती है, तीव्र प्रहार होता है। जिस दृष्टिकोण के आधार पर आवेगों को पोषण मिल रहा था, उस दृष्टिकोण के बदल जाने पर आवेगों को वह पोषण मिलना बंद हो गया, जीवन-रस प्राप्त होना बंद हो गया। आवेगों को सिंचन मिलता है अहंकार के द्वारा, ममकार के द्वारा। जब तक अहंकार और ममकार हैं, तब तक आवेग पुष्ट होते रहेंगे, बढ़ते रहेंगे, फलते-फूलते रहेंगे। जैसे ही दृष्टिकोण बदलता है, अहंकार और ममकार की गांठ टूट जाती है, आवेगों को जीवन-रस, पोषण-रस मिलना बंद हो जाता है। उनका आधार ही समाप्त हो जाता है, इसलिए आवेगों की चिकित्सा का पहला सूत्र है–दृष्टिकोण का परिवर्तन, सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति।

विपाक की प्रेक्षा

परिवर्तन का दूसरा सूत्र है विपाक की प्रेक्षा अर्थात् विपाक को देखना। यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण बात है। हम विपाक की प्रेक्षा नहीं करते, उसे नहीं देखते। इसीलिए उच्छृंखल प्रवृत्तियां चलती हैं। यदि हम प्रवृत्ति के विपाक पर ध्यान दें और यह देखने का प्रयत्न करें कि इसका विपाक क्या होगा, क्या विपाक हो रहा है तो उच्छृंखल प्रवृत्तियां या आवेग नहीं चल सकते। चाहे कोई

भी व्यक्ति हो, वह जो कुछ करता है और यदि विमर्श करता चलता है कि मेरे आचरण का, मेरे कार्य का क्या परिणाम होगा, क्या विपाक होगा तो वह बहुत ही विवेक और संतुलन के साथ काम करेगा। यदि वह परिणाम और विपाक से आंख मूंदकर कार्य करता चला जाता है तो उससे वे काम भी हो जाते हैं जो अनिष्टकर या हानिकर होते हैं। विश्व में जितने भी अवांछनीय कार्य हुए हैं, होते हैं, वे परिणाम की ओर से आंख मूंद लेने के कारण ही हुए हैं, होते हैं। विपाक-प्रेक्षा की चेतना जागृत न होने के कारण ही वे होते हैं।

प्रेक्षा की चेतना जागृत हो तो अवांछनीय कार्य, अनिष्ट प्रवृत्ति नहीं हो सकती। विपाक की प्रेक्षा ध्यान का एक अंश है। जैन दर्शन में धर्म्यध्यान के चार प्रकार बतलाए गए हैं–आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय। इनमें तीसरा है विपाक विचय। विपाक का विचय यानी विपाक प्रेक्षा, विपाक दर्शन। बहुत गहरे में जाकर हम देखते हैं कि अभी किस कर्म का विपाक हो रहा है। बीमारी में किस कर्म का विपाक हो रहा है? क्रोध आया, यह किस कर्म का विपाक है, उसे हम देखते हैं, विपाक का अनुचिंतन करते हैं, विपाक का विचय करते हैं, वहां हमारे मानस की स्थिति बदल जाती है, वह बिल्कुल रूपांतरित हो जाती है।

कर्म और उसके विपाक

कर्म आठ हैं और आठ कर्मों के अनेक विपाक हैं। इन्द्रिय ज्ञान की शक्ति तथा मन के ज्ञान की शक्ति को आवृत करना ज्ञानावरण कर्म का विपाक है। ज्ञानावरण कर्म जब विपाक में आता है, तब वह हमारी ज्ञान की शक्तियों को आच्छन्न कर देता है।

दर्शनावरण कर्म का विपाक होता है तब हमारी देखने की शक्ति आवृत हो जाती है। नींद आती है, गहरी नींद आती है, इतनी गहरी नींद कि जिस नींद में आदमी दिन में की हुई कल्पनाओं को क्रियान्वित कर डालता है।

इतनी प्रगाढ़ निद्रा कि आदमी नींद में ही मीलों चला जाता है, काम कर डालता है, किसी को पीट डालता है, कुछ तोड़ डालता है, फिर घर में आकर बिस्तर पर लेट जाता है। इतना होने पर भी उसकी नींद नहीं टूटती। ऐसी नींद में एक विशिष्ट प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है और उस शक्ति से प्रेरित होकर व्यक्ति असंभव कार्य भी कर डालता है। ऐसा दर्शनावरण कर्म के विपाक से होता है।

मोह कर्म का विपाक होता है, तब राग-द्वेष का चक्र चलने लगता है, विभिन्न प्रकार के आवेग उत्पन्न होते हैं, विभिन्न प्रकार की वासनाएं उभरती हैं, भय जागता है तथा अन्यान्य आवेग भी कार्यरत हो जाते हैं।

कर्मों के विपाक का यह चक्र अविश्रांत गति से घूमता रहता है। कभी कोई विपाक जागता है और कभी कोई। इसकी निरंतरता टूटती नहीं। क्या हम इन विपाकों को निरस्त कर सकते हैं? नहीं, इन्हें निरस्त नहीं किया जा सकता, किंतु इनको हम रोक सकते हैं।

एक प्रक्रिया है कर्म को न बांधने की, कर्म के बीज को समाप्त करने की। कर्म का बंधन न हो, इसमें हम जागरूक रहें, अप्रमत रहें। यह भी साधना की एक प्रक्रिया है।

साधना की एक प्रक्रिया यह भी है कि जो विपाक आने वाले हैं, उनके प्रति हम पहले से ही जागरूक हो जाएं। उन विपाकों को हम बदल दें अथवा हम उन विपाकों को आने ही न दें। कर्मों को हमने बांध दिया। कर्म बंध गए। हमारे ही अज्ञानवश, प्रमादवश, हमारी ही भूलों के कारण वे कर्म आकर चिपक गए। वे परिणाम देने वाले हैं। उनका विपाक-काल है। हम जागरूक हो जाएं। हम जाग जाएं।

हमारी प्रमाद की नींद टूट जाए। हमारी चेतना की कुछ रश्मियां आलोकित हो जाएं। यह असंभव नहीं है, बहुत संभव है। असाध्य कार्य नहीं है, साध्य कार्य है। हम उन कार्यों को बीच में ही बदल दें, उनकी शक्ति में ऐसा परिवर्तन ला दें कि उनका विपाक न हो सके। यह बहुत ही महत्त्व की बात है। इस पर हमारा ध्यान केन्द्रित होना चाहिए।

विपाक में आने के कारण

विपाक होता है कारणों से। निमित्तों के बिना विपाक नहीं हो सकता। प्रज्ञापना सूत्र में इसका सुंदर विवेचन प्राप्त है। विपाक के लिए पांच शर्तें हैं–द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव। जब ये पांचों बातें पूरी होती हैं, तब कर्म का विपाक हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता। इसी आधार पर कर्म की चार प्रकृतियां मानी गई हैं–क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी, भावविपाकी और भवविपाकी। यदि इन चारों को हम ठीक से समझ लें और कर्मशास्त्र के रहस्यों को गहराई में जाकर पकड़ लें तो बहुत कुछ परिवर्तन ला सकते हैं। यदि कर्म के हेतुओं और बंधे हुए कर्मों में कोई भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता तो साधना

का कोई अर्थ नहीं हो सकता, वह अर्थशून्य हो जाती है। फिर हमारे लिए साधना का प्रयोजन ही क्या? हम क्यों इतना पुरुषार्थ करें? क्यों प्रेक्षा करें? क्यों आंखें मूंदकर घंटों तक ध्यान करें? यदि हम कुछ बदल न सकें तो ये सारे प्रयत्न व्यर्थ हैं, शून्य हैं, किंतु ऐसा नहीं है। साधना के द्वारा हम बदल सकते हैं। यह हमारी बहुत बड़ी क्षमता है कि हम साधना के माध्यम से उन विपाकों में परिवर्तन ला सकते हैं, किंतु यह तभी संभव हो सकता है, जब हम कर्मशास्त्र की गहराई में जाकर कर्मों की प्रकृतियों और स्वभावों को ठीक-ठीक समझ लें और यह उपाय भी जान लें कि उनमें कैसे परिवर्तन लाया जा सकता है।

पुद्गल का एक परिणाम है वेदनीय कर्म। वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियां हैं–सातवेदनीय और असातवेदनीय। सुख का भी वेदन होता है और दुःख का भी वेदन होता है। प्रीत्यात्मक अनुभूति भी होती है और अप्रीत्यात्मक अनुभूति भी होती है। असातवेदनीय का उदय क्यों होता है? उसके उदय के अनेक कारण हैं। एक कारण है पुद्गल। पुद्गल का ऐसा कोई स्पर्श हुआ, कोई ऐसी चोट लगी कि पैर में दर्द हो गया। असातवेदनीय का उदय हो गया। मन उसमें ही जाता है, साधना में नहीं जाता। मन की सारी ऊर्जा पैर की ओर ही बहने लग जाती है। साधना का वह स्पर्श भी नहीं कर पाती। असातवेदनीय के उदय का एक कारण है पुद्गल का परिणाम, जैसे–बहुत खा लिया, भूख से अधिक भोजन कर लिया। अजीर्ण हो गया, पेट में दर्द प्रारंभ हो गया। अब सारा मन उसी ओर भागता है, विपाक की ओर जाता है, साधना की ओर नहीं जाता। पुद्गल के परिणाम के कारण, जो असातवेदनीय का विपाक होता है, उसे हम बदल सकते हैं, इसलिए यह कहा जाता है कि अधिक मत खाओ। भोजन की मात्रा का ज्ञान करो। साधना के क्षेत्र में भी भोजन पर ध्यान देने की बात महत्त्वपूर्ण बन जाती है। साधना करने वाले व्यक्ति को यह जानना चाहिए कि कब खाएं? क्यों खाएं? कितना खाएं और कैसे खाएं? दही खूब खा लिया और ध्यान के लिए बैठ गया। ध्यान में नींद सताने लगी। यह दर्शनावरणीय कर्म का विपाक है। इसमें दर्शनावरणीय कर्म के विपाक का कारण बना हमारा भोजन, इसलिए ऐसा भोजन न किया जाए, जो असातवेदनीय या दर्शनावरणीय कर्म के विपाक का निमित्त बने। बहुत तेज मिर्च-मसाले खा लिए, तामसिक भोजन किया और साधना में बैठ गए। मन में उत्तेजनाएं उभरने लगीं, विकृतियां पैदा होने लगीं,

ध्यान से मन हट गया तो हमने भोजन की परिणति के द्वारा विपाकों को निमंत्रित कर दिया, इसलिए यह आवश्यक है कि हम विपाकों के निमित्तों पर भी ध्यान दें। उपादान का महत्त्व है तो निमित्त का भी कम महत्त्व नहीं है। अपने स्थान पर वे बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं, इसलिए हम कैसे बैठें? क्या खाएं, कैसे खाएं, कितना खाएं, किस वातावरण में रहें–ये सारी बातें बहुत ही महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं।

कुछ बातें हमारे वश की होती हैं और कुछ हमारे नियंत्रण से बाहर की होती हैं। जैसे–वर्षा का मौसम है। आकाश बादल से आच्छन्न है। ऐसे वातावरण में दर्शनावरणीय कर्म के उदय को मौका मिल जाता है। नींद आने लगती है। यह हमारी भूल का परिणाम नहीं है। हमने अधिक खाया, अवांछनीय भोजन किया और नींद ने आ घेरा। यह हमारी भूल का परिणाम है। हमने अपनी भूल के कारण कर्म के विपाक को निमित्त प्रदान कर दिया। दोनों प्रकार से विपाक का उदय होता है। एक प्राकृतिक वातावरण या अन्य कारण से तथा दूसरा हमारी भूल या प्रमाद के कारण से। निमित्त मिलते ही विपाक उदय में आ जाएगा। उस स्थिति में हम क्या करें? उस स्थिति में हम कष्ट-सहिष्णु बनने का अभ्यास करें। साधना के लिए आवेगों को कम करने के लिए कष्ट-सहिष्णुता का अभ्यास अत्यंत आवश्यक है। जो कष्ट-सहिष्णु नहीं होता, कठिनाइयों को नहीं झेल सकता, वह न साधना ही कर सकता है और न कर्म के चक्रव्यूह को ही तोड़ सकता है।

धर्म के लक्षण

भगवान महावीर ने धर्म के दो लक्षण बताए। उन्होंने कहा कि धर्म का पहला लक्षण है अहिंसा, राग-द्वेष का न होना। धर्म का दूसरा लक्षण है परीषह-सहन करना, कष्टों को सहने की क्षमता। जीवन में द्वंद्व आते हैं। कभी सुख आता है और कभी दुःख। कभी अनुकूलता रहती है और कभी प्रतिकूलता। कभी प्रियता की संवेदना होती है और कभी अप्रियता की। कभी प्रशंसा होती है और कभी निंदा। ये जो सारे द्वंद्व आते हैं, इनको सहन करने वाली तितिक्षा की चेतना जब तक जागृत नहीं होती, तब तक न साधना होती है और न आवेग ही कम होते हैं। ऐसी स्थिति में कर्म के व्यूह को भी नहीं तोड़ा जा सकता, इसलिए हमारी दोनों प्रकार की शक्तियां जागृत होनी चाहिए। एक है अ-राग की शक्ति और एक है अ-द्वेष की शक्ति अर्थात् अराग-चेतना और अद्वेष-चेतना। वीतरागता के साथ-साथ तितिक्षा की चेतना भी जागृत होनी चाहिए। यदि तितिक्षा नहीं है तो राग भी आ सकता है और द्वेष भी आ सकता है। अनुकूलता में राग आएगा।

राग को सहने की भी शक्ति होनी चाहिए। अनुकूलता को सहन करने की शक्ति होनी चाहिए। मन के अनुकूल कोई घटना घटित होती है, उसे यदि हम सहन नहीं कर सकते तो मन में राग पैदा हो जाएगा, आवेग पैदा हो जाएगा। बहुत हर्ष होना, अध्यात्म की दृष्टि से ही अवांछनीय नहीं है, स्वास्थ्य की दृष्टि से भी अवांछनीय है। कभी-कभी यह अकालमृत्यु का कारण भी बन जाता है।

एक आदमी बहुत गरीब था। लाटरी में उसे दो लाख रुपये मिले। किसी ने आकर कहा–'भाई! तुम तो निहाल हो गए। तुम्हारे नाम की लाटरी में दो लाख रुपये उठे हैं।' उसने कहा–'दो लाख!' यह कहते ही वह धड़ाम से नीचे गिरा और इस लोक से चल बसा।

अनुकूलता और प्रतिकूलता को सहन करने के लिए तितिक्षा की चेतना जागृत होनी चाहिए। कोई व्यक्ति बड़ी-से-बड़ी स्थिति में है। उसको बड़ी-से-बड़ी उपलब्धि है। सारे अनुकूल संयोग हैं। अकस्मात् सब छिन जाते हैं, सत्ता छिन जाती है, अधिकार छिन जाते हैं, संपदा नष्ट हो जाती है, परिवार बिखर जाता है। उस स्थिति में प्रतिकूलता को सहने की चेतना यदि जागृत नहीं होती तो व्यक्ति दिग्भ्रांत हो जाता है। जिसकी यह चेतना जागृत होती है, उसके लिए अनुकूलता या प्रतिकूलता में कोई अंतर नहीं आता।

तितिक्षा की परम चेतना

जैन आगमों में नमि राजर्षि का एक उदाहरण आता है। व्यवहार की दुनिया में वह शायद मान्य न हो, किंतु वह उस चेतना का प्रतीक है, वह उस चेतना का दिग्दर्शक है, जिस चेतना के बिंदु पर पहुंचकर व्यक्ति की तितिक्षा की चेतना इतनी जागृत हो जाती है कि उसके लिए कोई भी प्रकंपन शेष नहीं रहता। न राग का प्रकंपन होता है और न द्वेष का प्रकंपन होता है।

नमि राजर्षि से कहा गया कि आपका अंतःपुर जल रहा है। उसमें आग लग गई है। लपटें आकाश को छू रही हैं। आपका प्रासाद जल रहा है, आपका नगर जल रहा है। नमि राजर्षि ने कहा–'मैं सुख से जी रहा हूं, सुख से रह रहा हूं। किसका अंतःपुर! किसका प्रासाद! किसका नगर! मेरा कुछ भी नहीं है। मिथिला के जलने पर भी मेरा तो कुछ भी नहीं जल रहा है।'

यह कितना अव्यावहारिक कथन लगता है। कितनी करुणाहीन बात लगती है। कोई करुणावान व्यक्ति क्या ऐसा कह सकता है? परम कोटि का क्रूर व्यक्ति ही ऐसी बात कह सकता है, किंतु हम बहुत बार भूमिका-भेद को

समझे बिना भयंकर भूल कर बैठते हैं वह भी हमारी भयंकर भूल होगी यदि हम नमि राजर्षि की स्थिति को क्रूरता से परिपूर्ण मानें। यह उस तितिक्षा की, उस परम चेतना की स्थिति है, जहां पहुंचकर साधक अनुकूलता और प्रतिकूलता के प्रकंपनों से परे हो जाता है। वह चेतना इतनी अप्रकंप हो जाती है कि जहां केवल चेतना ही होती है और कुछ भी नहीं होता।

राग और द्वेष न हों, इसलिए चेतना में तितिक्षा का विकास होना चाहिए। यदि द्वंद्वों को सहन करने की चेतना का विकास नहीं होता है तो राग-द्वेष अवश्य होते हैं। उन्हें रोका नहीं जा सकता। इस प्रकार वीतराग चेतना और तितिक्षा की चेतना–दोनों प्रकार की चेतनाओं का विकास करके ही हम कर्म-विपाकों में परिवर्तन ला सकते हैं। यदि तितिक्षा की चेतना विकसित होती है तो मोहनीय कर्म का विपाक नहीं हो सकता, आवेग नहीं हो सकता। आवेग तभी होता है, जब तितिक्षा की चेतना विकसित नहीं होती, अहंकार और ममकारशून्य चेतना विकसित नहीं होती, इसलिए आवेग आते हैं। हम प्रतिपक्ष की चेतना को विकसित करें। क्रोध है तो मैत्री की चेतना को विकसित करें। मैत्री के संस्कार को सुदृढ़ बनाएं। मैत्री के संस्कार दृढ़ होंगे तो क्रोध का आवेग अपने आप कम होता चला जाएगा। प्रतिपक्ष की भावना साधना का बहुत बड़ा सूत्र है।

प्रतिपक्ष भावना

दशवैकालिक सूत्र में चार आवेगों की प्रतिपक्ष भावना का सुंदर निरूपण प्राप्त है। यदि क्रोध के आवेग को मिटाना है, कम करना है तो उपशम के संस्कार को पुष्ट करना होगा। क्रोध का प्रतिपक्ष है उपशम। उपशम का संस्कार जितना पुष्ट होगा, क्रोध का आवेग उतना ही क्षीण होता चला जाएगा। मान के आवेग को नष्ट करना है तो मृदुता को पुष्ट करो। मान का प्रतिपक्ष है मृदुता। माया के आवेग को नष्ट करना है तो ऋजुता के संस्कार को पुष्ट करो। ऋजुता और मैत्री में कोई अंतर नहीं है। मैत्री ऋजुता का ही प्रतिफलन है। जब ऋजुता है तो किसी के साथ शत्रुता हो ही नहीं सकती। शत्रुता से पूर्व कुटिलता आती है। शत्रुता कुटिलतापूर्वक ही होती है। बिना कुटिलता के शत्रुता नहीं होती। जब छिपाने की बात, ठगने की बात आएगी तभी किसी के साथ अमैत्री का भाव होगा। जहां छिपाने जैसा कुछ भी नहीं है, सरलता ही सरलता है, पारदर्शी स्फटिक-सा जीवन है, वहां शत्रुता हो ही नहीं सकती। माया का प्रतिपक्ष है ऋजुता। लोभ के आवेग को नष्ट करना है तो संतोष को विकसित करें, उसे पुष्ट करें।

आवेगों को मिटाने के लिए प्रतिपक्ष के संस्कारों को पुष्ट करना है। जब तक प्रतिपक्ष का संस्कार पुष्ट नहीं होता, आवेगों का तनुभाव नहीं किया जा सकता, उन्हें पतला नहीं किया जा सकता, क्षीण नहीं किया जा सकता। जब तक आवेग क्षीण नहीं होते, उन्हें तोड़ा नहीं जा सकता। उन्हें इतना क्षीण कर देना होता है कि एक ही झटके में वे टूट जाएं।

क्रोध, मान, माया और लोभ–ये चार आवेग हैं। इनकी प्रतिपक्षी भावनाओं को पुष्ट करने से ये आवेग शांत हो जाते हैं। उनका विपाक बंद हो जाता है। भय, कामवासना, घृणा आदि आवेगों के लिए प्रतिपक्ष की भावना जरूरी है। साधना में प्रतिपक्ष भावना का बहुत बड़ा महत्त्व है। इसके बिना आवेगों से छुटकारा नहीं मिलता। हमारी अभय की भावना जितनी पुष्ट होगी, भय का आवेग उतना क्षीण हो जाएगा। चेतना की भावना, चैतन्य का अनुसंधान जितना पुष्ट होगा, कामवासना उतनी ही क्षीण हो जाएगी। एकत्व का विकास होगा तो घृणा अपने आप मिट जाएगी।

हम प्रतिपक्ष को पुष्ट करें। यह हमारा कर्तव्य है, पुरुषार्थ है, संकल्प है। जैसे कर्म के अनिष्ट विपाक में कुछ निमित्त होते हैं, वैसे ही कर्म के इष्ट विपाक में भी कुछ निमित्त होते हैं। किसी के ज्ञानावरण कर्म का विपाक है। वह चाहता है कि ज्ञानावरण का विपाक कम हो। इसके लिए भी कुछ साधन हैं। आचार्य मलयगिरि ने प्रज्ञापना की टीका में अनेक उपाय निर्दिष्ट किए हैं। ब्राह्मी आदि बूटियां हैं, जिनके सेवन से ज्ञान-विकास में सहायता मिलती है।

एकाग्रता में पदार्थों का सहयोग

मन की एकाग्रता में भी कुछ पदार्थ सहयोगी हैं, कुछ निमित्त बनते हैं। आप ध्यान करने बैठते हैं। उस समय यदि आपके हाथ में पारे की गोली होती है तो आपको एकाग्र होने में सुगमता हो सकती है। ध्यान-काल लंबा हो सकता है। साधना की कुछेक प्रक्रियाओं में रुद्राक्ष का भी प्रयोग होता है। उसका भी एक अर्थ, प्रयोजन है। जैसे मन पदार्थ को प्रभावित करता है, वैसे ही पदार्थ भी मन को प्रभावित करता है। इष्ट और अनिष्ट–दोनों प्रकार के कर्म-विपाकों में पुद्गलों का योग रहता है। पौद्गलिक परिणतियां उन विपाकों को बढ़ा भी सकती हैं और कम भी कर सकती हैं।

एक आदमी मदिरा पीता है। मदिरा मोहकर्म के विपाक में निमित्त बनती है। मूर्च्छा आ जाती है। क्या ऐसा पदार्थ नहीं है, जिसके सेवन से हमारी जागृति

बढ़ जाए, मोहकर्म का विपाक कम हो जाए? ऐसे पदार्थ हैं। ऐसा हो भी सकता है। यदि एक वस्तु के सेवन से कामवासना को उत्तेजना मिलती है तो क्या ऐसी वस्तु नहीं हो सकती, जिसके सेवन से कामवासना शांत हो जाए? ऐसे पदार्थ हैं। पदार्थों का अभाव नहीं है। अभाव हमारी जानकारी का हो सकता है। जब परीक्षा का समय आता है, तब अनुभवी माता-पिता अपने बच्चों को ऐसी औषधियों का सेवन करवाते हैं, जिनसे बच्चों की बुद्धि, स्मरण-शक्ति तीव्र होती है और वह उनकी परीक्षा में सहयोगी बन जाती है।

ध्यान-काल में शक्ति का व्यय होता है। मस्तिष्क की शक्ति बहुत खर्च होती है। हमारे मस्तिष्क की विद्युत को बहुत काम करना पड़ता है। अधिक ऊष्मा पैदा हो जाती है। व्यय अधिक होता है। मैंने एक होमियोपैथिक चिकित्सक से पूछा कि शक्ति-संतुलन को बनाए रखने के लिए क्या अमुक पदार्थ का सेवन उचित होगा? उसने कहा–बहुत ही उचित रहेगा। जो शक्ति खर्च होती है, वह इस पदार्थ से मिल जाएगी। शक्ति का संतुलन बना रहेगा। ध्यान में सहयोग मिलेगा।

सरदारशहर के सेठ सुमेरमलजी दूगड़ के सुपुत्र भंवरलालजी एक कुशल चिकित्सक थे। वे बहुत ही अनुभवी थे। मुझसे एक दिन कहा–'आपको मस्तिष्क की शक्ति का अधिक व्यय करना पड़ता है। लिखना, पढ़ना और चिंतन-मनन अधिक करना पड़ता है। इन कार्यों में मस्तिष्क की शक्ति का बहुत व्यय होता है। आप अभी से यह ध्यान रखें कि शक्ति का संतुलन बना रहे, जितना व्यय हो, वह पूरा होता रहे। अन्यथा कठिनाइयां पैदा हो सकती हैं।' उन्होंने कुछ उपाय भी सुझाए। उन्होंने कहा कि आप सूखे आंवलों का सेवन करें, काली मिर्च का सेवन करें। कभी-कभी मुक्ता का सेवन करते रहें, जिससे कि जो मस्तिष्कीय शक्ति खर्च होती है, वह पूरी होती रहे।

मैंने समय-समय पर इनका उपयोग किया और बहुत लाभ उठाया। पुद्गल जैसे कर्म के विपाक में निमित्त बनते हैं, वैसे ही कर्म के क्षयोपशम में भी निमित्त बनते हैं। कर्म का विपाक भी निमित्तों के बिना नहीं हो सकता। हम निमित्तों की बात को न भूलें।

आवेगों के उपशमन में जैसे हमारी परिणतियों को बदलने की जरूरत है, वैसे ही निमित्तों को जानने और उनको बदलने के प्रयोग की भी जरूरत है।

९. स्वतंत्र या परतंत्र?

द्रव्य का अपना-अपना स्वभाव होता है। स्वभाव कभी भी निर्मूल नहीं होता, उसे कभी निरस्त नहीं किया जा सकता। विभाव स्वभाव को कुछ विकृत भी कर सकता है, आवृत भी कर सकता है, किंतु निरस्त नहीं कर सकता, शून्य नहीं कर सकता।

आवेग चैतन्य का स्वभाव नहीं है। वह चैतन्य के साथ उत्पन्न मूढ़ता है। वह मोह है, विकृति है, किंतु स्वभाव नहीं है। इसीलिए यह संभावना शेष रहती है कि आवेग को निरस्त किया जा सकता है। उस योग को दूर किया जा सकता है जो आकर जुड़ गया है। उसे काटा जा सकता है। उसे काटने के अनेक उपाय हैं, अनेक साधन हैं। उन सब साधनों में महत्त्वपूर्ण साधन है–चैतन्य का अनुभव, संवर, शुद्ध उपयोग। जब हम चैतन्य के अनुभव में होते हैं, तब संवर की स्थिति होती है, हमारा संवर होता है। जब चैतन्य का अनुभव होता है तब कोई आवेग हो नहीं सकता। आवेग तब होता है जब हमारा चैतन्य का अनुभव लुप्त हो जाता है। जब चैतन्य पर मूर्च्छा छा जाती है, जब चैतन्य पर ढक्कन आ जाता है तब आवेग को उभरने का अवसर मिलता है। जब चैतन्य की अनुभूति होती है तब आवेग आ ही नहीं सकता।

साधना का चरम शिखर

हमारी साधना का सूत्र है चैतन्य का सतत अनुभव। जब चैतन्य के अनुभव की स्थिति निरंतर बनी रहती है, तब हमारा संवर पुष्ट होता रहता है। संवर के आते ही द्वार बंद हो जाएगा। चैतन्य का अनुभव होते ही सब द्वार बंद हो जाएंगे। कोई द्वार खुला नहीं रहेगा। सब द्वार बंद, सब खिड़कियां बंद। उस समय न आवेग आ सकता है, न उत्तेजना आ सकती है और न वासना आ सकती है। कुछ भी नहीं आ सकता। सब विच्छिन्न हो जाते हैं। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा कि साधना का चरम शिखर है 'अयोग'। वहां सब

योग समाप्त हो जाते हैं। यह 'अयोग' शब्द बड़ा जटिल है। सभी आचार्यों ने शब्द चुना 'योग'। उन्होंने कहा–'योग की साधना करो।' भगवान महावीर ने कहा–'नहीं, अयोग की साधना करो। योगों को समाप्त करो, संबंधों को तोड़ो।' इससे क्या होगा? इससे सबकुछ घटित हो जाएगा, क्योंकि पाना कुछ भी नहीं है। बाहर से लेना कुछ भी नहीं है। हम सब अपने आप में परिपूर्ण हैं। कुछ भी उपादेय नहीं है। बाहर ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो अपने लिए हितकर हो। बाहर जितनी वस्तुएं हैं, उन्हें छोड़ना ही हितकर है। सब संबंधों को तोड़ना, अयोग करना ही हितकर है। अंतिम शिखर है अयोग।

जब सम्यक्त्व संवर हो जाता है, व्रत संवर हो जाता है, अप्रमाद संवर हो जाता है, अकषाय संवर हो जाता है, तब अंतिम शिखर आता है अयोग संवर। जहां हमने सारे संबंध काट डाले, वहां अयोग हो जाता है। वहां पूर्ण विकास हो जाता है, परमात्मा की पूर्ण स्थिति उपलब्ध हो जाती है। योग संवर के घटित होते ही, जो पौद्गलिक संबंध आत्मा के साथ हैं, वे सब एक साथ विच्छिन्न हो जाते हैं। जब चैतन्य का अनुभव प्राप्त होता है तब योग टूटने शुरू होते हैं। मूढ़ता का गहन वलय टूटने लग जाता है। कर्मों के जितने संबंध हमने स्थापित किए हैं, वे सारे के सारे चैतन्य की विस्मृति के कारण हुए हैं।

जब-जब चैतन्य की विस्मृति होती है, तब-तब कोई न कोई पुद्गल हमारे साथ जुड़ जाता है और अपना प्रभाव जमा लेता है। हम जब अपने चैतन्य के अनुभव में होते हैं, जब हम अपना होश संभालते हैं तब उन पुद्गलों का प्रभाव मंद होने लग जाता है, वह लुप्त होने लग जाता है। पुद्गल धीरे-धीरे खिसकने लग जाते हैं, दूर होने लग जाते हैं। उस समय हमारा अस्तित्व उजागर होता है।

हम स्वतंत्र हैं या परतंत्र

बहुत बार ये प्रश्न सामने आते हैं कि हम स्वतंत्र हैं या परतंत्र? हम कर्म करने में स्वतंत्र हैं या परतंत्र? हम कर्म का फल भोगने में स्वतंत्र हैं या परतंत्र?

स्वतंत्रता और परतंत्रता का निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। दोनों सापेक्ष कथन हैं। हम स्वतंत्र भी हैं और परतंत्र भी हैं। हम चैतन्यवान हैं। हमारा स्वभाव सभी द्रव्यों से विलक्षण है। अन्य किसी भी द्रव्य का स्वभाव चैतन्य नहीं है। हमारा स्वभाव चैतन्य है, इसलिए हम स्वतंत्र हैं, किंतु चैतन्य का अनुभव जब-जब विस्मृत होता है, इस चैतन्य की आग पर जब-जब कोई

राख आ जाती है, जब-जब यह जलती हुई आग उस राख से ढक जाती है, तब-तब हम परतंत्र हो जाते हैं।

स्वतंत्रता और परतंत्रता का उत्तर सापेक्ष दृष्टि से ही दिया जा सकता है। इसका निरपेक्ष उत्तर नहीं हो सकता। हमने कोई क्रिया की, कर्म किया। निश्चित है कि क्रिया की प्रतिक्रिया होगी। ऐसी एक भी क्रिया नहीं है, जिसकी प्रतिक्रिया न हो। हर क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। क्रिया करने में आदमी स्वतंत्र है, किंतु प्रतिक्रिया में वह परतंत्र है। कडेण मूढो पुणो तं करेई–जो किया है, उससे मोह पैदा होता है। व्यक्ति मूढ़ हो जाता है और वह फिर उसे दोहराता है। एक बार आदमी कोई काम कर लेता है, दूसरी बार उस काम को दोहराना जरूरी हो जाता है, क्योंकि उसका संस्कार बन जाता है। उस संस्कार के आधार पर दूसरी बार वैसी परिस्थिति आने पर वैसा करने की प्रेरणा मिलती है। वह हमारी मानसिक आदत बन जाती है, फिर उसको दोहराने का मन होता है। व्यक्ति मूढ़ बनकर उस क्रिया को दोहराता जाता है, करता जाता है। तब हम परतंत्र हो गए।

हमने कुछ किया, एक संस्कार निर्मित हो गया, एक आदत बन गई, फिर वह करना ही पड़ेगा। यह परतंत्रता की बात है। हम परतंत्र हैं, पर स्वतंत्र भी हैं। हमारी चैतन्य-शक्ति, हमारी संकल्प-शक्ति इतनी प्रबल है कि वह यदि जाग जाए कि यह काम करना ही नहीं है, इतना दृढ़ संकल्प हो जाए तो फिर संस्कार कितना ही प्रबल हो, हम उसे एक झटके में ही तोड़ डाल सकते हैं।

स्वतंत्रता और परतंत्रता दोनों को सापेक्ष दृष्टि से ही समझा जा सकता है। एक आदमी नारियल, खजूर या ताड़ के वृक्ष पर चढ़ गया। चढ़ने में वह स्वतंत्र है। वह अपनी इच्छा से ऊपर चढ़ गया। अब उतरने में वह स्वतंत्र नहीं है। क्यों? चढ़ने की एक क्रिया है। अब चढ़ गया तो उतरना भी पड़ेगा। चढ़ने में वह स्वतंत्र है, पर उतरने में परतंत्र है। अब उसे उतरना इसलिए पड़ेगा कि वह चढ़ गया। चढ़ने का परिणाम है उतरना। उतरना कोई स्वतंत्र क्रिया नहीं है।

मोहम्मद साहब के एक शिष्य का नाम था अली। उसने एक बार पूछा–'हम काम करने में स्वतंत्र हैं या परतंत्र?' मोहम्मद साहब ने कहा–'अपने बायें पैर को उठाओ।' उसने अपना बायां पैर ऊपर उठा लिया, फिर मोहम्मद साहब ने कहा–'अच्छा, अब अपने दायें पैर को उठाओ।' अली असमंजस में पड़ गया। बायां पैर पहले से ही उठाया हुआ है। अब दायां पैर ऊपर कैसे उठाया

जाए? उसने कहा–'साहब! यह कैसे संभव हो सकता है कि मैं दायां पैर भी ऊपर उठा लूं?' मोहम्मद साहब ने कहा–'एक पैर उठाने में तुम स्वतंत्र हो, दूसरा पैर उठाने में स्वतंत्र नहीं हो, परतंत्र हो।'

स्वतंत्रता और परतंत्रता दोनों सापेक्ष हैं। उन्हें निरपेक्ष समझना भूल है। आदमी अपने कर्तृत्व में स्वतंत्र है, पर परिणाम भोगने में परतंत्र है। कर्तृत्वकाल में हम स्वतंत्र हैं, पर परिणामकाल में हमें परतंत्र होना पड़ता है। विकास करने में हम स्वतंत्र हैं। हमारा जितना विकास होता है, उसमें हमारा स्वतंत्र कर्तृत्व बोलता है। उसमें हम स्वतंत्र हैं। किसी भी कर्म के द्वारा हमारा विकास नहीं होता। कर्म के द्वारा हमारे विकास का अवरोध होता है। आप सोचेंगे कि शुभ नामकर्म के द्वारा अच्छा फल मिलता है, अच्छा नाम होता है, पदार्थों की उपलब्धि होती है, यश मिलता है, किंतु यह कोई आत्मा का विकास नहीं है। ये सब पौद्गलिक जगत में घटित होने वाली घटनाएं हैं। इनसे आत्मा का विकास नहीं होता। आत्मा का स्वभाव है चैतन्य। आत्मा का स्वभाव है आनंद। आत्मा का स्वभाव है शक्ति। चैतन्य का विकास, आनंद का विकास, शक्ति का विकास, किसी भी कर्म के उदय से नहीं होता। कर्म इन सब प्रकार के विकासों को रोकता है, बाधा डालता है, अवरोध उत्पन्न करता है। कोई भी पुद्गल विकास का मूल हेतु नहीं बनता।

स्वतंत्रता का प्रमाण

हमारे चैतन्य का विकास, हमारे आनंद और शक्ति का विकास इसलिए होता है कि हम स्वतंत्र हैं। हमारे स्वतंत्र होने का स्वयंभू प्रमाण है कि हमारा विकास होता है। यदि हम स्वतंत्र नहीं होते तो यह विकास कभी नहीं होता। कर्मों के उदय से बाधाएं उपस्थित होती रहती हैं। हमारा विकास कभी नहीं होता। विकास इसलिए होता है कि हमारी स्वतंत्र सत्ता है, हमारा स्वतंत्र उपादान है। मिट्टी घड़ा बनती है। यह कोई कुंभकार की अंगुलियों का चमत्कार नहीं है। मिट्टी में घड़ा बनने का उपादान है। उसमें उपादान है, तभी घड़ा बनता है। इस निर्मिति में दूसरे-दूसरे अनेक निमित्त भी सहायक हो सकते हैं, परंतु मिट्टी का घड़े के रूप में परिवर्तित होने का मूल है उपादान। उपादान को उत्पन्न नहीं किया जा सकता। दूसरे-दूसरे साधन सहायक-सामग्री बन सकते हैं, परंतु वे सब मिलकर भी उपादान को उत्पन्न नहीं कर सकते। उपादान को उत्पन्न करने की शक्ति किसी में नहीं है।

उपादान वही होता है, जो द्रव्य का घटक होता है। कर्म में यह शक्ति नहीं है कि वह आत्मा में ज्ञान के पर्यायों को उत्पन्न कर सके, चैतन्य के पर्यायों को उत्पन्न कर सके, आनंद के पर्यायों को उत्पन्न कर सके, शक्ति के पर्यायों को उत्पन्न कर सके। कर्म ये कभी नहीं कर सकते, क्योंकि ये सब कर्म के स्वभाव नहीं हैं। चैतन्य, आनंद और शक्ति, ये आत्मा के उपादान हैं, इसलिए आत्मा ही उनका घटक है। आत्मा में ही यह शक्ति है कि वह अपने पर्यायों को उत्पन्न कर सकता है। इसीलिए उसका स्वतंत्र कर्तृत्व है, अबाधित कर्तृत्व है। यह हमारे स्वतंत्र कर्तृत्व का पक्ष है।

परतंत्रता का आदि बिंदु

एक दूसरा पक्ष और है। आत्मा के साथ राग-द्वेष का परिणाम जुड़ा हुआ है। राग-द्वेष की धारा प्रवाहित है, इसलिए आत्मा के साथ परमाणुओं का संयोग होता है। वे परमाणु जुड़ते हैं, आत्मा को प्रभावित करते हैं। वे आत्मा के कार्य को प्रभावित करते हैं, आत्मा के कर्तृत्व को प्रभावित करते हैं। यह इसलिए होता है कि आत्मा के साथ शरीर का योग है। प्रभाव का आदि-बिंदु है शरीर। हमारी परतंत्रता का आदि-बिंदु है शरीर। आत्मा के साथ शरीर है, इसलिए हम परतंत्र हैं। हम स्वतंत्र कहां हैं? शरीर है इसलिए भोजन चाहिए। आत्मा को कभी भोजन की आवश्यकता ही नहीं है। उसे कभी भूख नहीं लगती। चैतन्य को कभी भूख नहीं लगती है। भूख लगती है पुद्गल को, शरीर को। शरीर है इसलिए भूख है। भूख है, इसलिए भोजन है। भूख है, इसलिए प्रवृत्ति का चक्र चलता है। यदि भूख न हो तो आदमी की सारी प्रवृत्तियां सिमट जाएं। भूख है, इसलिए आदमी को बहुत कुछ करना पड़ता है, न जाने क्या-क्या करना पड़ता है? आदमी रोटी के लिए, पेट की आग को बुझाने के लिए बहुत कुछ करता है, सबकुछ करता है।

शरीर है, इसलिए कामवासना है। शरीर का सारा चक्र काम के द्वारा संचालित है। एक प्राणी दूसरे प्राणी को पैदा करता है। यह पैदा करने वाली शक्ति है काम। आहार की वृत्ति है, कामवासना की वृत्ति है, यह हमारी परतंत्रता है। इन सारी परतंत्रताओं में राग-द्वेष का चक्र चल रहा है।

शुद्ध चैतन्य है, इसलिए हम स्वतंत्र हैं।

राग-द्वेष युक्त चैतन्य है, इसलिए हम परतंत्र हैं।

दो पक्ष हैं। एक पक्ष है–स्वतंत्रता का और दूसरा पक्ष है–परतंत्रता का। चैतन्य की ज्योति सर्वथा लुप्त नहीं होती, इसलिए हमारी स्वतंत्रता की धारा भी सदा प्रवाहित रहती है। हम शरीर, कर्म और राग-द्वेष से बंधे हुए हैं, इसलिए हमारी परतंत्रता की धारा भी सतत प्रवाहित रहती है। हमारा व्यक्तित्व स्वतंत्रता और परतंत्रता का संगम है। उसे किसी एक ही पक्ष में नहीं बांटा जा सकता। उसे निखालिस सोना नहीं बनाया जा सकता। सूर्य कितना ही प्रकाशवान हो, किंतु दिन और रात का भेद नहीं मिटाया जा सकता। कितने ही बादल छा जाएं, अंधकार छा जाए, वे सब सूर्य को ढक दें, पर दिन-दिन रहेगा और रात-रात। दिन और रात का भेद समाप्त नहीं किया जा सकता। स्वतंत्रता चलती है तो परतंत्रता भी चलेगी। परतंत्रता चलती है तो स्वतंत्रता भी चलेगी। स्वतंत्रता का घटक है शुद्ध चैतन्य और परतंत्रता का घटक है राग द्वेषयुक्त चैतन्य।

कर्म सर्वेसर्वा नहीं

प्रश्न होता है कि क्या जो कुछ भी घटित होता है, वह सब कर्म से नियंत्रित ही है? उसी का परिणाम-मात्र है? यदि ऐसा है तो फिर किसी को दोष नहीं दिया जा सकता। कोई झूठ बोलता है, कोई चोरी करता है, कोई डाका डालता है तो यह सब करने वाले का दोष नहीं है, क्योंकि यह सब पूर्ववर्ती कर्म का परिणाम है। इसमें किसी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। किसी पर चोट की और उसे यह समझाया कि भाई! यह तुम्हारे पूर्वार्जित कर्म का ही परिणाम है, कर्म का ही योग है ऐसा कह कर चोट करने वाला बच सकता है। वह दोषी नहीं हो सकता। पूर्ववर्ती कर्म ही तो उससे ये सारी क्रियाएं करवा रहे हैं तो फिर वह क्या करे? यह सारा भ्रम है। हर अपराधी अपने अपराध को छिपाने का प्रयत्न करता है, उससे बच निकलने का प्रयास करता है। वह अपने आपको निर्दोष मानता है। वह कह सकता है–'मैंने कुछ भी नहीं किया। सबकुछ कर्म करवाता है। जैसा कर्म है, वैसा करना ही पड़ता है।'

यह धारणा सही नहीं है कि जो कुछ घटित होता है, वह सब कर्म से ही होता है। व्यक्ति की अपनी स्वतंत्र सत्ता भी है। ऐसी अनेक घटनाएं घटित होती हैं, जो पहले के कर्मों से नियंत्रित नहीं होतीं।

स्थानांग सूत्र में रोग की उत्पत्ति के नौ कारण बतलाए गए हैं–

१. निरंतर बैठे रहना।

२. अहितकर भोजन करना, अति भोजन करना।

३. अति निद्रा।

४. अति जागरण।

५. मल का निरोध करना।

६. प्रस्रवण का निरोध करना।

७. पंथगमन।

८. भोजन की प्रतिकूलता।

९. कामविकार।

इन कारणों से रोग की उत्पत्ति हो सकती है, किंतु इनमें एक भी कारण ऐसा नहीं है जिसे हम पूर्व कर्मकृत कह सकें। अधिक आहार से रोग पैदा होता है, अधिक नींद लेने से रोग पैदा होता है और अधिक जागरण से भी रोग पैदा होता है। आहार, नींद और जागरण–ये हमारे क्रियापक्ष हैं। ये किसी कर्म के उदय से नहीं है। कोई भी कर्म इनमें काम नहीं करता। हमारा व्यवहार ही इनमें काम करता है। इन सब घटनाओं से यह प्रमाणित होता है कि पूर्व कर्म ही इनका घटक नहीं है। उत्तरवर्ती क्षण का कारण पूर्ववर्ती क्षण ही नहीं होता। वही उसका उत्तरदायी नहीं होता। उसका अपना स्वतंत्र भी कुछ है।

अकालमृत्यु के कारण

अकालमृत्यु के सात कारण बतलाए गए हैं–

१. राग-स्नेह और भय आदि की तीव्रता।

२. शस्त्र-प्रयोग।

३. आहार की न्यूनाधिकता।

४. आंख, कान आदि की तीव्रतम वेदना।

५. पराघात–गड्ढ़े आदि में गिरना।

६. सांप आदि का स्पर्श।

७ आन-अपान का निरोध।

अकालमृत्यु के ये सात कारण हैं। मृत्यु का समय नहीं है, किंतु अकाल में ही मृत्यु की घटना घटित हो जाती है। इन कारणों में एक कारण है स्पर्श। कोई जा रहा है। रास्ते में सांप ने काट लिया। वह मर गया। एक आदमी शांत बैठा

है। ऊपर से भारी चीज उस पर आकर गिरी और वह मर गया। भारी पत्थर ऊपर से अचानक गिरा और दो-चार व्यक्ति उसके नीचे दबकर मर गए। यह सब अकालमृत्यु है। यह किसी न किसी निमित्त से घटित होती है, किंतु इसमें कोई कर्म कारण नहीं बनता। आकाश में दो विमान टकरा गए। पांच सौ आदमियों की तत्काल मृत्यु हो गई। विमानों की टक्कर किसी कर्म के योग से नहीं हुई। आकस्मिक घटना घटी और पांच सौ आदमी मृत्यु की गोद में सो गए। ऐसी आकस्मिक घटनाओं की व्याख्या हम कर्म के आधार पर नहीं कर सकते।

प्रतिप्रश्न होता है कि क्या रोग का होना किसी भी कर्म से संबंधित नहीं है? अकालमृत्यु का होना क्या किसी भी कर्म से संबंधित नहीं है? संबंधित है। इसे हमें समझना है। ये घटनाएं कर्म के सहारे घटित नहीं होतीं। रोग होना एक घटना है। रोग हुआ। एक घटना घटित हुई। उसका कारण है अमनोज्ञ भोजन। दूषित आटा मिला, विषमिश्रित पदार्थ मिला, रोग हो गया। बीमारी हो गई। इसे हम संयोग कहेंगे। रोग होना असातवेदनीय कर्म का उदय है। अहितकर भोजन करने से वह उदय में आ गया, विपाक में आ गया, किंतु जो अहितकर भोजन खाया, वह असातवेदनीय कर्म के उदय से नहीं खाया।

इसे हम और स्पष्टता से समझें। यदि अहितकर भोजन असातवेदनीय कर्म के उदय से खाया गया हो तो हम कह सकते हैं कि कर्म के कारण यह परिणाम भोगना पड़ा, किंतु संयोगवश अहितकर भोजन खाने में आ गया। उसे हम कर्म का परिणाम नहीं मान सकते। अहितकर भोजन करना और अहितकर भोजन करने से रोग होना, इन दोनों में बहुत बड़ा अंतर है। अहितकर भोजन की घटना कर्म के कारण नहीं हुई, किंतु उस घटना के घटित होने के कारण कर्म का विपाक हो गया। विमान की दुर्घटना आयुष्यकर्म के कारण घटित नहीं हुई, किंतु विमान की दुर्घटना हुई, इसलिए आयुष्य कर्म की उदीरणा हो गई। आयुष्यकर्म की उदीरणा होना और विमान का दुर्घटनाग्रस्त होना दो बातें हैं। इनका परस्पर संबंध नहीं है। विमान की दुर्घटना हुई, इसलिए आयुष्य समाप्त हो गया, यह संबंध हो सकता है, किंतु उससे पहले इस घटना के साथ आयुष्यकर्म का संबंध नहीं है।

कर्म-भोग में निमित्त

प्रश्न होता है कि क्या ऐसा हो सकता है? क्या सैकड़ों आदमियों का आयुष्य एक साथ समाप्त हो सकता है? हां, ऐसा हो सकता है। आयुष्य कर्म

के दो प्रकार हैं–सोपक्रम आयुष्य और निरुपक्रम आयुष्य। कुछेक कारणों से आयुष्य कर्म में परिवर्तन हो सकता है, वह है सोपक्रम आयुष्य। जहां कोई भी निमित्त काम नहीं देता, वह है निरुपक्रम आयुष्य। यह आयुष्य कर्म इतना शक्तिशाली होता है कि निमित्त का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसमें इतनी तीव्र ऊर्जा और शक्ति होती है कि सारे निमित्त नीचे रह जाते हैं, वह ऊपर तैरता रहता है। इसमें कोई परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। आयुष्य का जितना कालमान होता है, उसके पूरा होने पर ही प्राणी की मृत्यु होती है, पहले-पीछे नहीं। इसमें किसी भी निमित्त से उस प्राणी की समय से पहले मृत्यु संभव नहीं होती। ऐसी घटनाएं घटित होती हैं, ऐसे निमित्त मिलते हैं कि एक साथ हजारों मनुष्य मर जाते हैं। यह सब सोपक्रम आयुष्य का खेल है। निमित्त से कर्म विपाक में आ जाता है।

असातवेदनीय कर्म का बंध हुआ। उसका परिणाम यह है कि वह व्यक्ति को प्रतिकूल संवेदन कराएगा। उसके विपाक से प्रतिकूल संवेदन होगा। प्रतिकूल संवेदन किस रूप में होगा, यह सब निमित्तों पर आधारित है। किस काल, देश, क्षेत्र में होगा, यह अनेक बातों पर आधारित है। दो आदमी हैं। एक मद्रास का है और दूसरा राजस्थान का। मद्रास के आसपास रहने वाले व्यक्तियों में एक बीमारी पाई जाती है। अनेक व्यक्तियों के पैरों में शोथ आ जाती है। वे हाथी के पैर जैसे हो जाते हैं। राजस्थान में ऐसा नहीं है। राजस्थान में लू चलती है। यहां के लोगों के घुटनों में दर्द रहता है।

शीतप्रधान देश में शीतजन्य बीमारियां अधिक होती हैं और उष्णप्रधान देश में उष्णताजन्य बीमारियां अधिक होती हैं। सारी घटनाओं में द्रव्य, क्षेत्र और काल का प्रभाव रहता है। सभी प्रदेशों के आदमियों को असातवेदनीय कर्म को भुगतना पड़ता है। प्रत्येक मनुष्य का भौगोलिक और द्रव्यगत कारण भिन्न-भिन्न होता है। उसी के अनुसार कर्मों का विपाक भुगतना होता है। जहां भौगोलिक भिन्नता और द्रव्यगत भिन्नता आती है, वहां असातवेदनीय कर्म के भोगने में भी भिन्नता आ जाती है। लू लगने की बीमारी यदि असातवेदनीय कर्म के कारण ही हो तो यह क्यों होता है कि राजस्थान के आदमी को ही लू लगे और मद्रास वाले को न लगे। कर्म के क्षेत्र में यह पक्षपात नहीं होना चाहिए, फिर जैसे कुछ लोग ईश्वर पर पक्षपात का आरोप लगाते हैं कि ईश्वर ने एक को ऐसा बना दिया और एक को वैसा, वही पक्षपात का आरोप कर्म पर लगाया

जाएगा, किंतु यह पक्षपात नहीं है। यह अंतर आता है भौगोलिकता के कारण।

जहां गर्मी का प्रकोप होता है तथा अन्यान्य कुछ कारण और मिलते हैं, वहां लू लगती है। जहां गर्मी नहीं है, अन्यान्य कारण नहीं है, वहां लू नहीं लगती है। लू लगना या न लगना कर्म के अधीन नहीं है, किंतु लू लगती है, इसके कारण असातवेदनीय कर्म का उदय हो जाता है। सर्दी में ब्रोंकाइटिस आदि बीमारियां होती हैं। उनके कारण असातवेदनीय कर्म का उदय होता है। ठंडे देश का आदमी गोरा होगा, उष्ण देश का आदमी काला और कुछ देशों के आदमी उजले होंगे। गोरा, काला, उजला होना नामकर्म के कारण नहीं है, किंतु इसमें भौगोलिकता और प्रादेशिकता निमित्त है।

बहुत सारी घटनाएं ऐसी हैं, जिनके कारण कर्म का विपाक होता है, किंतु कर्म के विपाक के कारण ये घटनाएं घटित नहीं होतीं। दो शब्द हैं–कर्म और नो-कर्म। नो-कर्म वह है, जो कर्म तो नहीं है, किंतु कर्म का सहायक है। भौगोलिकता, वातावरण, पर्यावरण, परिस्थितियां–ये सारे नो-कर्म हैं। ये कर्म नहीं, कर्म के उदय में सहायक तत्त्व हैं।

हम यह तथ्य हृदयंगम कर लें कि प्रत्येक घटना कर्म से ही घटित नहीं होती, इसलिए हम पूर्णरूप से परतंत्र नहीं हैं। यदि प्रत्येक क्रिया कर्म से ही घटित होती, विमान की दुर्घटना हो, वह भी कर्म से, दो मोटरों की टकराहट हो, वह भी कर्म से, अतृप्ति हो, वह भी कर्म से, सारे प्राकृतिक प्रकोप हों, वे भी कर्म से। यदि ऐसा होता है तो कर्म का वैसा ही साम्राज्य हो जाएगा जैसा ईश्वर का साम्राज्य माना जाता है। उसका भी सर्वशक्तिसंपन्न साम्राज्य हो जाएगा। कर्म ही सबकुछ हो जाएगा, फिर हम चाहे ईश्वर को माने या कर्म को, कोई अंतर नहीं होगा। केवल नाम का अंतर होगा।

किन्हीं लोगों ने सर्वशक्तिसंपन्न सत्ता को ईश्वर कह दिया और किन्हीं ने सर्वशक्तिसंपन्न सत्ता को कर्म कह दिया। सर्वशक्तिसंपन्न सत्ता में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। कर्म सर्वशक्तिसंपन्न सत्ता नहीं है। उसकी अपनी सीमा है। वह आत्मा पर प्रभाव डालता है, किंतु उसी आत्मा पर प्रभाव डालता है, जिसमें राग-द्वेष है। राग-द्वेष रहित चेतना पर कर्म का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रभाव वह अपनी सीमा में ही डालता है। दूसरे क्षेत्रों में वह अपना प्रभाव नहीं डाल सकता। कर्म की सार्वभौम सत्ता नहीं है। सीमित ही उसकी सत्ता है और सीमित ही उसका प्रभाव है, इसलिए हम स्वतंत्र भी हैं। स्वतंत्र हैं इसीलिए

आवेगों को शांत करने की हमारी मनोवृत्ति है, कामना है। हम आवेगों को शांत कर सकते हैं, इसीलिए हमारी साधना है। यदि हम आवेगों को शांत नहीं कर सकते तो साधना व्यर्थ है।

यदि हम यह मानते ही चले जाएं कि जैसा कर्म में लिखा है, वही होगा, साधना लिखी है तो साधना हो जाएगी, अधिक बोलना लिखा होगा तो अधिक बोलेंगे, झगड़ा लिखा होगा तो झगड़ा करेंगे तब तो कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। जैसा लिखा है, वैसा होगा, किंतु यह भ्रांति है।

साधना का मूल सूत्र यही है कि कर्म ही सबकुछ नहीं है। साधना का मूल प्रयोजन है कि आत्मा अपने स्वरूप में आ जाए, जाग जाए, जागरण की एक चिनगारी भी मिल जाए। बस, इतना पर्याप्त है। यह मार्ग मिल जाए तो फिर साधक बिना रोक-टोक आगे बढ़ सकता है, आत्मा को पूर्ण अनावृत करने में सक्षम हो सकता है।

१०. कर्मवाद के अंकुश

कर्म का केन्द्रबिंदु है मूर्च्छा। साधना का केन्द्रबिंदु है जागृति। आदमी मूर्च्छित है। कितने काल से मूर्च्छित है, इसका पता भी नहीं लगाया जा सकता। उसकी मूढ़ता अनादिकाल से है। इस घोर तमिस्रा का आदि-बिंदु अज्ञात है। प्रकाश की कोई रेखा फूटे, यह साधना के द्वारा ही संभव है। कोई काललब्धि ऐसी हो सकती है कि व्यक्ति को जागरण मिल जाए या ऐसा कोई निमित्त मिल सकता है, जिससे जागृति का कोई बिंदु प्रस्फुटित हो जाए, कोई प्रकाश की किरण फूट जाए। मूर्च्छा और जागृति–दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं। मूर्च्छा जागृति नहीं है और जागृति मूर्च्छा नहीं है।

अध्यात्म-शास्त्र का सूत्र है जागृति और कर्मशास्त्र का सूत्र है मूर्च्छा। मूर्च्छा को तोड़ना और जागृत होना–ये दो बातें हमारे सामने हैं। जैसे-जैसे मूर्च्छा टूटती है, वैसे-वैसे जागृति बढ़ती है। मूर्च्छा आस्रव है और जागृति संवर है। एक आस्रव है। वह उसे लाता है, जो नहीं चाहिए। आस्रव द्वार है। इससे सबकुछ आता है। वह आता है जो वांछनीय नहीं है, जिसकी कोई अपेक्षा नहीं है, किंतु द्वार खुला है, इसलिए आ रहा है। उसे रोका नहीं जा सकता। संवर का अर्थ है द्वार का बंद हो जाना। आस्रव का अर्थ है राग-द्वेषात्मक परिणति। जीव का जो राग-द्वेषात्मक परिणाम होता है, वह आस्रव बन जाता है। जब चैतन्य का अनुभव जागृत होता है, वह स्वयं संवर बन जाता है। संवर है चैतन्य का अनुभव।

मूर्च्छा एक बिंदु है तमोमय, अंधकारमय। जब मूर्च्छा सघन होती है, तब जागृति अंधकारमय हो जाती है। वह बिंदु लुप्त हो जाता है। जब जागृति का बिंदु उभरता है, थोड़ा-सा प्रकाश आता है तब मूर्च्छा का सघन बिंदु धुंधलाने लगता है। राग-द्वेष की तीव्र ग्रंथि का भेद होता है। यह पहली बार होता है अपूर्वकरण के द्वारा। अपूर्वकरण अर्थात् चित्त की ऐसी निर्मलता, जो पहले

कभी प्राप्त नहीं हुई थी। जो पहले कभी प्राप्त नहीं होता, वह अपूर्व होता है। जो एक बार प्राप्त हो गया, वह अपूर्व नहीं होता। जो घटना पहली बार घटित होती है, वह अपूर्व होती है। यहां राग-द्वेष की गांठ पहली बार टूटने लगती है। जागृति का एक बिंदु उभरता है। जो सघनतम अंधकार था, वह टूटता है। जैसे-जैसे हमारे चैतन्य का अनुभव आगे बढ़ता है, प्रकाश फैलता है, वैसे-वैसे मूर्च्छा का बिंदु कमजोर होता जाता है।

जब चैतन्य का अनुभव स्पष्ट होता है, तब सम्यक्त्व संवर बन जाता है। चैतन्य का अनुभव और स्पष्ट होता है, तब आकांक्षाएं समाप्त होने लगती हैं। अमिट प्यास भी बुझने लगती है, तब व्रत संवर होता है। चैतन्य का अनुभव और अधिक स्पष्ट होता है, तब प्रमाद समाप्त होने लगता है, अप्रमाद संवर की स्थिति निर्मित होने लगती है। चैतन्य का अनुभव और अधिक स्पष्ट होता है, कषाय भी समाप्त हो जाता है, तब अकषाय संवर की स्थिति बनती है। पूर्ण प्रकाश की स्थिति, वीतरागता की स्थिति आ जाती है। राग-द्वेषात्मक परिणाम के द्वारा जो आस्रव हो रहा था, वह समाप्त हो जाता है और चैतन्य का पूर्ण अनुभव जागृत हो जाता है।

कैसे करें संवर?

सैद्धांतिक भाषा में कहा जाता है कि मोह के उपशांत या क्षीण होने पर संवर होता है, पर संवर कैसे होता है? उसकी प्रक्रिया क्या है? इस पर हमें गहराई से विचार करना चाहिए। संवर साधना के द्वारा ही हो सकता है। साधना के अनुभवों के द्वारा ही यह ज्ञात हो सकता है कि संवर कैसे हो सकता है? मैं कहूं कि संवर करें, आस्रव रुक जाएगा, मूर्च्छा का सघन वलय टूट जाएगा। बात तो बहुत सीधी-सी लगती है, पर संवर कैसे हो, यह प्रश्न इतना सीधा नहीं है।

साधना के क्षेत्र में चार शब्द प्रचलित हैं–संयम, चारित्र, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान। संयम करें। इन्द्रियों का संयम करें, मन का संयम करें, वासनाओं का संयम करें। चारित्र अर्थात् आचरण। हम शुद्ध आचरण करें। संयम संवर की प्रक्रिया है। चारित्र संवर की प्रक्रिया है। प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान भी संवर की प्रक्रिया है। अतीत का प्रतिक्रमण और भविष्य का प्रत्याख्यान होता है।

तीन क्षण हैं–एक है अतीत का क्षण, एक है वर्तमान का क्षण और एक है भविष्य का क्षण। बीता हुआ क्षण अतीत है, आने वाला क्षण भविष्य है और

इन दोनों के बीच का क्षण वर्तमान है। संवर वर्तमान के क्षण में होता है। जिसने अतीत का प्रतिक्रमण और भविष्य का प्रत्याख्यान किया तो प्रत्युत्पन्न क्षण, जो क्षण उत्पन्न हो रहा है, उस क्षण में अपने आप संवर हो जाएगा।

जो आस्रव चल रहा है, उसका प्रतिक्रमण करें। उस आस्रव से आप अपने स्वभाव में लौट आएं। अपने चैतन्य के अनुभव को छोड़कर आप राग-द्वेष के अनुभव में चले गए थे, अब राग-द्वेष के अनुभव को छोड़कर पुनः चैतन्य के अनुभव में आ जाएं, संवर हो जाएगा। राग-द्वेष के अनुभव से वापस लौट आना एक प्रतिक्रमण है। आप संकल्प करें कि आप राग-द्वेष के क्षण में नहीं जाएंगे। जब यह संकल्प दृढ़ हो जाता है, तब राग-द्वेष के अनुभव से आप लौट आते हैं। पुनः आप उस अनुभव में नहीं जाएंगे। दोनों ओर से राग-द्वेष का अनुभव समाप्त हो जाएगा। यह बीच का क्षण, वर्तमान का क्षण, अतीत और भविष्य के बीच का क्षण, चैतन्य के अनुभव का क्षण हो जाएगा, संवर हो जाएगा।

असंयम के द्वारा आस्रव के द्वार खुलते हैं। मन का असंयम, इन्द्रियों का असंयम, शरीर का असंयम होता है तब आश्रव के द्वार खुलते हैं। अनियंत्रित स्थिति में खुलना स्वाभाविक है, उच्छृंखलता स्वाभाविक है। जब उच्छृंखलता होती है, खुलना होता है तब किसी का भी आना स्वाभाविक बन जाता है। उस समय संवर नहीं हो सकता। हमने संयम किया। संयम का कार्य है, जो आ रहा था, उसे रोक दिया। प्रश्न है कि असंयम क्यों होता है? हमने कुछ विजातीय द्रव्य का संचय कर रखा है। वह अपने साथियों को निमंत्रित करता है। हमने अपने ही राग-द्वेष के कारण असंयम को पाला और असंयम ने मोह का संग्रह किया, मूर्च्छा का संचय किया, कषाय को प्रबल बनाया।

वही मूर्च्छा और वही मोह दूसरे-दूसरे कर्म परमाणुओं के लिए स्वागत का द्वार खुला रख रहा है। आओ, आओ, एकत्र हो जाओ। यह जो मूर्च्छा, मोह, असंयम का प्रयत्न चल रहा है, उसके कारण इतने कर्म-परमाणु आए हैं कि हमारी आत्मा के, हमारी अखंड चेतना के एक-एक कण पर, एक-एक प्रदेश पर अनंत-अनंत परमाणु चिपके बैठे हैं। एक-दो नहीं, अनंत-अनंत परमाणु। अब इन्हें निकालें तो भी कैसे? इन्होंने अपना पूरा अधिकार, अपनी पूरी सत्ता जमा ली है। ये सहजतया वहां से हटना नहीं चाहते। जिसका अधिकार था, वह चैतन्य सो गया। उसका अधिकार छिन गया। जिसका कोई

अधिकार नहीं था, उसने ऐसा अधिकार जमा लिया कि मानो चैतन्य तो है ही नहीं, सबकुछ पुद्गल ही पुद्गल है। जड़ता ही जड़ता है, इसलिए हमें यह संदेह भी हो जाता है कि आत्मा है या नहीं? आत्मा की वास्तविक सत्ता है या नहीं? चैतन्य का कोई स्वतंत्र अस्तित्व है या नहीं? किंतु भौतिकता है या नहीं, यह संदेह किसी को नहीं होता, क्योंकि पुद्गल का, भौतिकता का इतना प्रबल साम्राज्य जम गया है कि उनकी प्रबलता में जो एकमात्र अपौद्गलिक पदार्थ था, वह दब गया। एकमात्र चेतन तत्त्व था, जो जड़ नहीं था, अचेतन नहीं था, वह लुप्त-सा हो गया।

विश्व में एक मत ही चल पड़ा कि चैतन्यवाद की कोई स्वतंत्र सत्ता ही नहीं है। सबकुछ जड़ ही जड़ है, जड़वाद ही चल रहा है। इस प्रकार जड़वाद की सार्वभौम सत्ता स्थापित हो गई। ऐसा क्यों हुआ? इसका मूल कारण रहा है असंयम और आस्रव। असंयम ने आस्रव को बल दिया। उपचय होता गया। खजाना भरने लगा। भर गया। जब तक भरे हुए खजाने को रिक्त नहीं किया जाता और नवागंतुक के मार्ग को रोका नहीं जाता, तब तक अपने स्वभाव के अनुभव की बात सफल नहीं हो सकती। संवर कैसे होगा? चैतन्य का अनुभव कैसे होगा? अपने अस्तित्व का अनुभव कैसे होगा? चैतन्य का अनुभव, अस्तित्व का अनुभव, संवर–ये सब एक ही हैं। संवर का अर्थ ही है अपने चैतन्य का अनुभव, अपने अस्तित्व का बोध। यह तब तक संभव नहीं, जब तक चय को रिक्त नहीं किया जाता और द्वार को बंद नहीं किया जाता। चय को रिक्त करने का कार्य चारित्र का है। हमने राग-द्वेष के परिणमन तथा मन, वाणी और शरीर की चंचलता के द्वारा ही विजातीय पदार्थों को अपनी ओर खींचा है, उन्हें आकर्षित किया है और उनका संग्रह किया है। जब तक मन, वाणी और शरीर की चंचलता समाप्त नहीं हो जाती, तब तक जो उपचित है, उसे रिक्त नहीं किया जा सकता, खाली नहीं किया जा सकता, क्योंकि कुछ खाली होगा तो नया संग्रह उसका स्थान ले लेगा। यह क्रम अबाधगति से चलता रहेगा।

संवर का द्वार है समता

इस स्थिति में पहला काम यह होगा कि हम अपने आचरण को समतामय बनाएं। भगवान महावीर ने समता पर सर्वाधिक बल दिया। हम समझते हैं कि जीव मात्र पर समभाव रखना ही समता है, यही धर्म है। यह एक बात है। यह

धर्म है ही, किंतु इसका और गूढ़ अर्थ है। समता का मूल तात्पर्य है अराग का क्षण, अद्वेष का क्षण। हमारे जीवन में ऐसे क्षण बीतें, जिनमें न राग और न द्वेष हो, वीतरागता का क्षण हो, यह वीतरागता का क्षण ही वास्तव में समता है। जब वीतराग भाव होगा, तब सब प्राणियों के प्रति, सब जीवों के प्रति अपने आप समता का भाव होगा। उसमें विषमता रहेगी ही नहीं। किसी भी पदार्थ के प्रति, चाहे फिर वह चेतन हो या अचेतन, उच्चावचभाव समाप्त हो जाता है। न घृणा हो सकती है, न अहंकार हो सकता है, न बड़प्पन का भाव हो सकता है और न छुटपन का भाव हो सकता है। कुछ भी नहीं हो सकता वीतरागता के क्षण में।

वही आचरण सबसे बड़ा है, जो समतापूर्ण हो। समता ही महान आचरण है। जिस आचरण में समता नहीं है अर्थात् तटस्थता नहीं है, मध्यस्थता नहीं है, निष्पक्षता नहीं है, राग-द्वेष की प्रचुरता है, वह महान आचरण नहीं हो सकता। वह सामान्य होगा, सामान्य व्यक्ति का आचरण होगा। महान आचरण वही होगा, जो पूर्ण तटस्थ, मध्यस्थभाव से परिपूर्ण और राग-द्वेष की परिणतियों से शून्य है। उसका न इधर झुकाव है और न उधर झुकाव है। दोनों पलड़े सम हैं। यह है समता का आचरण। जब समता का आचरण होता है, तब विजातीय तत्त्व उखड़ने लगते हैं। जो तत्त्व विषमता के कारण बद्धमूल हो रहे थे, उनकी जड़ें हिल उठती हैं, उनकी सत्ता खिसकने लगती है। वे एक-एक कर वहां से हटने लगते हैं। भरा हुआ खजाना खाली होने लगता है। एक ओर से यह रिक्त करने का कार्य चलता है तब दूसरी ओर से यह कार्य भी आवश्यक हो जाता है कि रिक्त स्थान में नए सदस्य आकर न बैठ जाएं। जो रिक्त हुआ है, बड़े कड़े परिश्रम से जो खाली हुआ है, वह फिर भर न जाए। पुराने जा रहे हैं, नए न आ जाएं।

हमारे चारित्र का निर्माण समता के तत्त्वों से हुआ। भरा हुआ रिक्त होने लगा। अब हमने सीमाओं की घेराबंदी करनी प्रारंभ की, अपना संयम करना प्रारंभ किया। मन को रोका, इन्द्रियों को रोका, शरीर और वाणी की चंचलता को भी रोका। जबरदस्त घेराबंदी की, संयम किया। अब नए अंदर नहीं आ सकते। पुराने भागते गए, भागते गए। इस स्थिति में हमारा संयम सधा, हमारा चारित्र बढ़ा और संवर निष्पन्न हो गया। यह संवर की प्रक्रिया है।

तत्त्व की व्याख्या मात्र से संवर नहीं होता। वह होता है साधना के द्वारा।

वह होता है अभ्यास के द्वारा। आप जानते जाएं, रटते जाएं कि कर्म की अमुक प्रकृतियों के क्षयोपशम के द्वारा संवर हो जाएगा, कभी संवर नहीं होगा। संवर तब होगा जब प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान तथा संयम और चारित्र–ये चारों तत्त्व हमारी साधना के अंग बनेंगे। जब संवर होता है, तब मूर्च्छा का सघन वलय अपने आप टूटने लगता है और एक दिन पूर्ण जागरण की स्थिति उपलब्ध हो जाती है। उस अवस्था में केवल जागरण ही जागरण रहता है।

कर्मशास्त्र को व्याख्यायित करने और उसे समझने का यही परिणाम है, यही निष्कर्ष है कि यदि हम साधना करना चाहें तो हमें चैतन्य के अनुभव में आना होगा। हम ऐसे क्षण बिताएं जिनमें चैतन्य का अनुभव हो, केवल अपने अस्तित्व का अनुभव हो, राग-द्वेष का अनुभव न हो। हम कोई भी आचरण करें, किसी के साथ कोई व्यवहार करें, उन क्षणों में हम समता में रहें, समता का अनुभव करें। संवर स्वतः निष्पन्न होगा।

हम सतत जागृत रहें। मन में या व्यवहार में राग-द्वेष की परिणति होते ही तत्काल उससे लौट आएं और संकल्प-शक्ति को जागृत करें। हमारा ऐसा दृढ़ संकल्प बने कि जिससे भविष्य में राग-द्वेष की परिणति न हो, राग-द्वेषमय क्षण न बीतें। संवर की साधना स्वयं निष्पन्न होगी। यही साधना की पूरी सार्थकता है। तब साधना देशकालातीत साधना बन जाती है। अभी हमारी साधना देशकालातीत नहीं है। हमारी साधना देशबद्ध और कालबद्ध है। देशबद्ध और कालबद्ध साधना का परिणाम भी तात्कालिक होता है।

साधना वह होनी चाहिए, जो देश और काल से आबद्ध न हो, उनसे बंधी हुई न हो। आप किसी भी देश में चले जाएं, किसी भी काल में रहें, किंतु चैतन्य के अनुभव की एक ज्योति, एक प्रकाश रेखा जो फूटी है, वह विकसित हो, आगे से आगे बढ़ती जाए। कभी भी वह बुझे नहीं। वह लौ और वह प्रकाश रेखा कभी भी दूर न जाए। इस ओर हमारा प्रयत्न हो।

बंधनमुक्ति के उपाय

इससे पूर्व कर्मबंध के सूत्रों की व्याख्या प्रस्तुत की जा चुकी है। अब कर्ममुक्ति के कुछ सूत्र प्रस्तुत कर रहा हूं। कर्ममुक्ति का सबसे बड़ा सूत्र है– संवर और तप। तपस्या के विषय में कुछ सोचें। जिनको खपाना है, जिनको दूर करना है, उनमें पहला तत्त्व है मूर्च्छा का। सबसे पहला माध्यम है देहासक्ति। यहां से मूर्च्छा प्रारंभ होती है।

भगवान महावीर ने तप के बारह सूत्र बतलाए। उनमें –

पहला है–अनशन। मत खाओ। दूसरा है–ऊनोदरी। कम खाओ।

तीसरा है–रस-परित्याग। रसों को छोड़ो। जिह्वेन्द्रिय पर संयम रखो।

चौथा है–वृत्तिसंक्षेप। खाने के विविध प्रयोग करो।

पांचवां है–कायक्लेश। शरीर को साध लो। इतने कष्टसहिष्णु बन जाओ, आसनों के द्वारा इतनी शक्ति पैदा कर लो कि जिससे कोई भी स्थिति आए तो शरीर उसे झेल सके। ये पांच सूत्र देहासक्ति से मुक्त होने के सूत्र हैं।

आहार की आसक्ति भी देहासक्ति है। यह देहासक्ति का ही एक परिणाम है। जब ये पांच सूत्र सध जाते हैं, तब देहासक्ति टूट जाती है।

प्रतिसंलीनता

जब यह हो जाता है तब प्रतिसंलीनता की बात आती है। यह कर्ममुक्ति का छठा सूत्र है। प्रतिसंलीनता का अर्थ है इन्द्रियों को अंतर्मुखी बनाना। जिस रास्ते से इन्द्रियां बाहर जा रही हैं, उसे बंद कर दो। नया मार्ग खोल दो। मार्गांतरीकरण कर दो। जो इन्द्रियां केवल बाहर की ओर दौड़ रही हैं, जो मन बाहर की ओर भटक रहा है, उन इन्द्रियों को भीतर ले आओ, मन को भीतर ले आओ।

यह अंतर्प्रवेश की प्रक्रिया है। हम कहते हैं शरीर को देखो। इसका तात्पर्य है कि शरीर के भीतर जो प्रकंपन हो रहे हैं, उन्हें देखो। इन्द्रियों की यह आदत बन गई है कि वे बाहर ही बाहर देख रही हैं, देखना चाहती हैं। इस आदत को बदलो।

एक नई आदत का निर्माण करो। वह आदत भीतर ही भीतर देखे। बाहर देखने में जो आनंद आता है, उससे कई गुना आनंद आता है भीतर देखने में। बाहर देखने के पश्चात् आदमी को बहुत बार अनुताप भी होता है, पर मुझे नहीं लगता कि भीतर देखने वाले को कभी अनुताप हुआ हो। शरीर की प्रेक्षा करने वालों से मैंने कई बार पूछा कि शरीर प्रेक्षा करने में तुम्हें व्यर्थता का अनुभव तो नहीं हो रहा है? किसी ने नहीं कहा कि हमें व्यर्थता का अनुभव हो रहा है, अनुताप हो रहा है। यह प्रेक्षा की प्रक्रिया, दर्शन की प्रक्रिया, देखने की प्रक्रिया बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जो आस्रव हैं, कर्म-आगमन के द्वार हैं, वे ही संवर के द्वार हैं। दर्शन की प्रक्रिया के द्वारा हम उन द्वारों को बंद कर देते हैं।

देहासक्ति को तोड़ना, शरीर को साधना और इन्द्रियों के रास्ते को बदलना–ये प्राथमिक द्वार हैं। साधक के लिए प्रवेशद्वार हैं। इन्हें बहिरंग भी कहा गया है। जब तक हम प्रवेश नहीं करेंगे, तब तक भीतर में रहने का प्रश्न ही नहीं होगा।

सातवां सूत्र है–प्रायश्चित्त का। मन में विचार आते रहते हैं। मन में विचार आया, तत्काल उसको साफ कर दो। यदि तत्काल साफ नहीं किया, जागरूक नहीं रहे, उस विचार को पाल लिया तो गांठ बन जाएगी, ग्रंथिपात हो जाएगा। विचार आज का हो, किंतु उसका परिणाम हजार वर्ष बाद भी भोगना पड़ सकता है। न जाने कब उसे भुगतना पड़े। यदि उसी समय उसका प्रक्षालन कर दिया, उसे धो डाला तब तो जो कर्मपरमाणु आए थे, वे टूट जाएंगे। वे गांठ नहीं बन पाएंगे। अगर सावधानी नहीं रही, जागरूकता नहीं रही, गांठ पड़ गई तो निश्चित ही उसका परिणाम भुगतना पड़ेगा इसीलिए प्रायश्चित्त का सूत्र दिया गया। प्रायश्चित्त करते रहो ताकि गांठ न पड़ने पाए।

आठवां सूत्र है–विनय। मन में अहं नहीं होना चाहिए। अहंकार और ममकार–ये दो बाधाएं हैं। साधना में कोई अहंकार नहीं होना चाहिए। साधक अत्यंत विनम्र और मृदु रहे।

नौवां सूत्र है–वैयावृत्य। इसका अर्थ है–साधना करने वालों का सहयोग करना। केवल स्वार्थी मत बनो। जो साधना करना चाहते हैं, उसके लिए अपने से जो कुछ बन पड़े, करो। यह वैयावृत्य है, सेवा है।

दसवां सूत्र है–स्वाध्याय। स्वाध्याय का अर्थ है–पढ़ना, ज्ञान प्राप्त करना। वह ज्ञान प्राप्त करो, जो तुम्हारी आत्मा को जागृत करे। केवल पुस्तकीय ज्ञान पर्याप्त नहीं है। कर्मबंधन से मुक्ति दिलाने वाला ज्ञान प्राप्त करो। ऐसा ज्ञान प्राप्त करो जो मूर्च्छा के बंधनों से छुटकारा दिला सके।

ग्यारहवां सूत्र है–ध्यान। नहीं पढ़ना है तो अपने आप में लीन हो जाओ। ध्यान लीन होने की प्रक्रिया है। ध्यान के माध्यम से तुम सत्य तक पहुंच जाओगे, सत्य को पा लोगे, सत्य का साक्षात् कर लोगे।

बारहवां सूत्र है–व्युत्सर्ग। इसका अर्थ है छोड़ना। मैंने कहा भी था कि महावीर की साधना का सूत्र है–अयोग की साधना। सब संबंधों को तोड़ दो। सब विसर्जित कर दो। जो कुछ हो, उसका विसर्जन कर दो। शरीर का व्युत्सर्ग और कर्म का व्युत्सर्ग।

यह सारी तपस्या की प्रक्रिया है। इसके बारह सूत्र हैं।

कर्ममुक्ति की प्रक्रिया के दो तत्त्व हैं–एक है संवर और दूसरा है तपस्या या निर्जरा। महर्षि पतंजलि ने बतलाया कि क्रियायोग के द्वारा क्लेशों को कम किया जा सकता है। तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान–यह क्रियायोग है। भगवान महावीर की भाषा में संवर और निर्जरा के द्वारा आस्रवों को क्षीण किया जा सकता है। इस प्रक्रिया के द्वारा कर्ममुक्ति घटित होती है और व्यक्ति सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाता है। हम कर्मबंधन की प्रक्रिया से चले थे और कर्ममुक्ति की प्रक्रिया तक पहुंच गए। बंधन के क्षण से मुक्ति के क्षण तक आ गए।

कर्म के अस्तित्व के हेतु

अब हम कर्म संबंधी दो-चार बिंदुओं पर और ध्यान दें, जो सारी चर्चा का निष्कर्ष होगा। प्रश्न होता है कि कर्म का अस्तित्व है या नहीं? यह कहा जाता है कि संसार में बहुत विविधता है और इस विविधता का एक हेतु कर्म है, किंतु विविधता का हेतु केवल कर्म ही नहीं है और भी अनेक कारण हैं। चैतन्य जगत में विविधता है। चैतन्य जगत में घटित होने वाली विविध घटनाओं का एक बड़ा निमित्त है कर्म।

यदि परमाणु नहीं होते, कर्म का बंध नहीं होता, तो ये विविधताएं नहीं होतीं। सबकुछ समान ही होता। सब आत्मा के स्वभाव में होते। सब एक-जैसे होते, कोई परिवर्तन नहीं होता, कोई विविधता नहीं होती। विभक्ति होना, विभाजन होना यह कर्म के अस्तित्व का बहुत बड़ा प्रमाण है।

कर्म के अस्तित्व का दूसरा कारण है–मनुष्य के रागात्मक और द्वेषात्मक परिणाम। यदि मनुष्य में राग और द्वेष नहीं होता तो कर्म को स्वीकार करने का कोई कारण नहीं होता। रागात्मक और द्वेषात्मक परिणाम इसलिए होते हैं कि मनुष्य कर्म से बंधा है। बंधन चैतन्य का मूल स्वभाव नहीं है। यह स्वभाव का अतिक्रमण है। स्वभाव से विरोधी कार्य जो हम कर रहे हैं, उनका प्रेरक तत्त्व है कर्म।

तीसरा कारण है–चंचलता। यदि कर्म नहीं होते तो चंचलता नहीं होती। सक्रियता तो होती, चंचलता नहीं होती। सक्रियता पदार्थ का लक्षण है। कोई भी पदार्थ निष्क्रिय नहीं होता। सब सक्रिय होते हैं। सक्रियता पदार्थ का लक्षण है। चंचलता पदार्थ का लक्षण नहीं है।

हमने अपने कर्म-अणुओं द्वारा अपने पर एक शरीर का बंधन डाल रखा है। एक सूक्ष्म शरीर का और एक स्थूल शरीर का। उसी शरीर के द्वारा यह सारी चंचलता हो रही है। शरीर है इसलिए मन की चंचलता है। शरीर है इसलिए वाणी की चंचलता है। ये सब मूलतः शरीर की चंचलता के कारण चंचल हैं। कर्म के कारण यह शरीर है और शरीर के कारण यह चंचलता, इसलिए यह स्वीकार करने में बहुत सुविधा है कि कर्म का अस्तित्व है।

चौथा कारण है–पुद्गल और जीव का परस्पर प्रभाव। ये एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। जीव पुद्गल को प्रभावित करता है और पुद्गल जीव को प्रभावित करता है। पुद्गल मन को प्रभावित करता है, शरीर को प्रभावित करता है। जीव के राग-द्वेषात्मक परिणाम और पुद्गल में ऐसा गठबंधन है, ऐसी संधि है, कि जीव के राग-द्वेषात्मक परिणाम पुद्गल को सहयोग देते हैं और पुद्गल राग-द्वेषात्मक परिणाम को सहयोग देता है। दोनों एक-दूसरे से संबद्ध हैं। दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। चेतना का, आत्मा का इस प्रकार दूसरे से प्रभावित होना इस बात का साक्षी है, कि कर्म का अस्तित्व है।

हम पहले यह चर्चा कर चुके हैं, कि कर्म की सार्वभौम सत्ता नहीं है, सर्वशक्ति-संपन्न सत्ता नहीं है। यह बहुत ही नियंत्रित तत्त्व है। हम साधना के क्षेत्र में या व्यवहार के क्षेत्र में भी यह भूल कर बैठते हैं और कह देते हैं, कि हमसे साधना हो नहीं सकती, क्योंकि कर्म का कोई ऐसा ही योग है। व्यवहार के क्षेत्र में भी हम कह देते हैं कि मैं यह काम नहीं कर सकता, क्योंकि कर्म का कोई ऐसा ही योग है। हमने बस मान लिया कि कर्म ही सबकुछ है। कर्म ही सबकुछ नहीं है। वह इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि वह सबकुछ हो जाए। हमने भूलवश उसे सबकुछ होने का स्थान दे दिया।

कर्म पर भी अंकुश है

हम जब साधना की दृष्टि से कर्मशास्त्र पर विचार करते हैं, तब हमें इन दो-चार बातों को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए।

पहली बात कर्म पर भी अंकुश है। वह कोई निरंकुश सत्ता नहीं है। उस पर सबसे पहला अंकुश यह है, कि आत्मा के चैतन्य स्वभाव का स्वतंत्र अस्तित्व है। यदि आत्मा के चैतन्य स्वभाव का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता तो फिर कर्म सबकुछ हो जाता, किंतु आत्मा का स्वतंत्र स्वभाव है और वह चैतन्य कभी भी अपने स्वभाव को तोड़ने नहीं देता, नष्ट होने नहीं देता,

इसलिए कर्म आत्मा पर एकाधिकार नहीं जमा सकता। कर्म आत्मा पर कितना ही प्रभाव डाले, पर वह उस पर एकछत्र शासन नहीं कर सकता। जब आत्मा के चैतन्य स्वभाव का जागरण होता है, तब कर्म की सत्ता डगमगा जाती है। कितना ही गहरा अंधकार हो, एक छोटी-सी प्रकाश की रेखा आती है, तब वह समाप्त हो जाता है। उसका एकछत्र-सा लगने वाला शासन नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। प्रकाश के सामने अंधकार टिक नहीं सकता। जब तक प्रकाश नहीं होता, तब तक ही अंधकार रहता है। जब तक चैतन्य का जागरण नहीं होता, तब तक ही कर्म टिकता है। जैसे ही चेतना जागी, कर्म अपने आप समाप्त होने लग जाता है।

दूसरी बात है परिवर्तन का सिद्धांत। विश्व में कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है जो परिवर्तनशील न हो। जो नित्य है, वह अनित्य भी है और जो अनित्य है, वह नित्य भी है। सब परिवर्तनशील हैं। भगवान महावीर ने कर्मशास्त्र के विषय में कुछ ऐसी नई धारणाएं दीं, जो अन्यत्र दुर्लभ या अप्राप्य हैं। उन्होंने कहा–'कर्म को बदला जा सकता है।' वैज्ञानिकों में एक शताब्दी तक ये धारणाएं चलती रही कि लोहा, तांबा, सोना, पारा–ये सारे मूल तत्त्व हैं, इनको एक-दूसरे में बदला नहीं जा सकता। उन्होंने मूल तत्त्व सौ माने। उनको एक-दूसरे में नहीं बदला जा सकता, किंतु बाद में खोजों ने यह प्रमाणित कर दिया कि ये सब मूल तत्त्व नहीं हैं। उनको एक-दूसरे में बदला जा सकता है।

हजारों वर्ष पहले यह निश्चित मान्यता थी कि पारे से सोना बनाया जा सकता है, पारे को सोने में बदला जा सकता है। आज का विज्ञान भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचा है कि पारे से सोना बनाया जा सकता है। प्राचीन रसायनशास्त्रियों ने पारे से सोना बनाने की अनेक विधियों का उल्लेख किया। जैन ग्रंथों में भी उनका यत्र-तत्र वर्णन प्राप्त है।

वैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष निकाला कि पारे के अणु का भार २०० होता है। उसे प्रोटोन के द्वारा तोड़ा जाता है। प्रोटोन का भार १ होता है। प्रोटोन से विस्फोटित करने पर वह प्रोटोन पारे में घुलमिल गया और पारे का भार २०१ होते ही अल्फा का कण निकल जाता है। उसका भार चार है। चार का भार कम हो गया। शेष १९७ भार का अणु रह गया। सोने के अणु का भार १९७ और पारे के अणु का भार भी १९७। पारा सोना हो गया। वैज्ञानिकों ने इसे सिद्ध कर दिखा दिया। इस पद्धति से बनाया गया सोना महंगा पड़ता है, इसलिए इस पद्धति का प्रयोग नहीं किया गया, किंतु बात प्रामाणिक हो गई कि पारे से

सोना बनता है।

महावीर ने कहा–'तुम्हारी साधना प्रबल हो, तुम्हारी समता मजबूत हो तो पुराने बंधे हुए कर्मों का कितना ही उपचय हो, वह टूटने लग जाता है।' पारा सोना बन गया। नए पाप कर्म तीव्र नहीं बंधेंगे, यह तो एक बात हो गई। जो पुराना संचय है, जो असत् है, वह सत् में बदल जाता है, अशुभ शुभ में बदल जाता है, पाप पुण्य में बदल जाता है। यह नई बात महावीर ने कही कि कर्मों को बदला जा सकता है। कर्मों की उदीरणा की जा सकती है।

कर्म कब उदय में आएगा? कर्म का भंडार कब खाली होगा? यह अनंतकाल की बात हो जाती है, किंतु महावीर ने कहा कि अपने परिणामों की ऐसी श्रेणी निर्मित करो, जिसमें न राग और न द्वेष हो। कर्मों की उदीरणा करो, बंधे हुए कर्मों को खींचो और तोड़ते जाओ। विपाक की प्रतीक्षा मत करो। पहले ही उन्हें समाप्त करते जाओ। यह परिवर्तन का सिद्धांत कर्म पर बहुत बड़ा अंकुश है।

तीसरी बात–विपाक की सापेक्षता। कोई भी विपाक निरपेक्ष नहीं होता। वह देश, काल, भाव, पुद्गल, पुद्गल-परिणाम–इन सबके माध्यम से होता है। साधना के द्वारा हम निमित्तों को दूर करें, जो विकास में बाधक बनते हैं। हम ऐसे निमित्तों को विकसित करें, जो कर्म के विपाक को दूर कर सकें। विपाक निमित्तों से होता है। यह विपाक की सापेक्षता कर्म पर अंकुश है।

साधना करने वाला व्यक्ति, जिसमें साधना की थोड़ी-सी भी रुचि जाग जाए, वह कर्मशास्त्र के इन गूढ़तम रहस्यों को जाने और जानने के बाद अध्यात्मशास्त्र के द्वारा आध्यात्मिक चेतना को पूर्णतः जागृत कर साधना में सफल बने।

११. प्रतिबद्धता का प्रश्न

स्वतंत्रता और परतंत्रता की चर्चा नई नहीं है। वह सदा चलती रही है। आज भी हम करते हैं। परतंत्रता के कारणों पर विचार करने से लगता है कि परतंत्रता का एक मुख्य कारण है वातावरण, परिस्थिति। आदमी वातावरण से इतना प्रभावित होता है कि वह अनचाहा कार्य भी कर लेता है। वह नहीं चाहता कि अमुक कार्य करूं, परंतु परिस्थिति की परतंत्रता या वातावरण की बाध्यता उससे वह कार्य करा डालती है। ऐसा एक बार नहीं, हजारों बार होता है। एक व्यक्ति के जीवन में नहीं, हजारों व्यक्तियों के जीवन में होता है। आदमी अपने उत्तरदायित्व को बहुत हलका कर देता है इस उत्तर से कि जब परिस्थिति ही ऐसी थी तो मैं कैसे बच सकता था? छोटे क्षेत्रों की बात छोड़ दें, बड़े-बड़े क्षेत्रों में भी यही चर्चा है। भयंकर अस्त्रों का अंधाधुंध निर्माण हो रहा है। निर्माताओं से पूछा जाए कि यह निर्माण क्यों हो रहा है तो उत्तर मिलेगा कि इसका निर्माण ध्वंस के लिए नहीं हो रहा, किंतु परिस्थिति की बाध्यता से किया जा रहा है। यदि हम इनका निर्माण न करें तो दूसरे राष्ट्र युद्ध में उतर जाएंगे। अस्त्रों का निर्माण शक्ति-संतुलन के लिए हो रहा है। कितना अच्छा तर्क है और उसमें परिस्थिति की बाध्यता है।

वातावरण दो प्रकार का होता है—बाहर का वातावरण और भीतर का वातावरण। मनोवैज्ञानिकों ने इस विभाजन को स्वीकारा है। बाह्य वातावरण के कुछ उद्दीपक होते हैं। उनके कारण बाह्य वातावरण वैसा बन जाता है। इसी के आधार पर आदमी के व्यवहार में परिवर्तन आता है। आदमी का व्यवहार आंतरिक वातावरण में परिवर्तन करता है, नाड़ी-संस्थान में परिवर्तन करता है। नाड़ी-संस्थान में परिवर्तन होता है तो आंतरिक व्यवहार में परिवर्तन होता है। एक चक्र चलता है उद्दीपकों से लेकर आंतरिक वातावरण तक।

काव्यशास्त्र में उद्दीपकों की बहुत चर्चा है। वे स्थायीभाव, सात्विकभाव और संचारीभाव के नाम से पहचाने जाते हैं।

उद्दीपक : हमारे व्यवहार

बाहर के उद्दीपक हमारे आंतरिक वातावरण को उद्दीप्त कर देते हैं। एक आदमी बिल्कुल शांत बैठा है। किसी ने आकर कहा–'अरे बेवकूफ! यहां क्यों बैठे हो?' बस, शांति भंग हो जाती है। जो इतने समय तक शांत लग रहा था, अब वह ज्वालामुखी बन गया। यह ज्वाला कहां से आई? एक शब्द ने, अप्रिय वचन ने शीतलप्रसाद को ज्वालाप्रसाद बना दिया। एक ही शब्द से उसकी शीतलता समाप्त हो गई। भीतर क्रोध तो था, पर उद्दीपन के अभाव में वह प्रकट नहीं हो रहा था। उद्दीपन मिला और वह प्रकट हो गया। सारे आवेग सदा प्रकट नहीं रहते। यदि वे प्रकट रहें तो आदमी जी नहीं सकता। आवेग शांत हों, तभी आदमी शांति से जी सकता है। आवेगों के अस्तित्व में जीवन दूभर बन जाता है। जब उद्दीपक आते हैं, तब सारा वातावरण गर्म हो जाता है, ज्वालामुखी फूट पड़ता है। आकृति बदल जाती है। मुद्रा बदल जाती है। शांत अवस्था की आकृति और मुद्रा भिन्न होती है। जैसे ही क्रोध आता है, आंखें लाल हो जाती हैं, भृकुटि तन जाती है, चेहरा तमतमा जाता है और समूचा शरीर कांप उठता है।

प्रकृति के साथ-साथ आकृति बदल जाती है। आकृति बदलती है तो प्रकृति बदल जाती है और प्रकृति बदलती है तो आकृति बदल जाती है। दोनों बदल जाते हैं। यह कैसे होता है? उद्दीपन के साथ वातावरण बदलता है तो आंतरिक व्यवहार भी बदल जाता है। गुस्सा आया। आदमी गाली बकने लगा। आगे बढ़ा तो हाथ उठ गए। मारने दौड़ा। यह परिवर्तन क्यों आया व्यवहार में? मनोवैज्ञानिकों ने इस पर प्रचुर मीमांसा की है कि मनुष्य के व्यवहार और आचरण का परिवर्तन होता है बाह्य वातावरण के द्वारा। यह एक तथ्य है बाह्य वातावरण मनुष्य के व्यवहार और आचरण को बदल देता है। हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते।

एक संस्कारी परिवार का व्यक्ति था। उसे कोई ऐसे वातावरण का संयोग मिला कि वह शराब पीने लग गया। धीरे-धीरे शराब पीने की आदत बन गई। वह प्रतिदिन शराब के नशे में धुत्त रहता। जब व्यसन आता है, तब आदमी में दूसरों को कहने की क्षमता कम हो जाती है। निर्लज्जता होती है तो वह कह देता है, अन्यथा कहने में संकोच करता है। उस व्यक्ति का लड़का सिगरेट पीने लगा। उसका पोता बीड़ी पीने लग गया। एक दिन दादा ने अपने पोते को

बुलाकर कहा–'बेटे! बीड़ी पीना अच्छा नहीं है, बुरी बात है। यह व्यसन है। अभी इसकी आदत डाल लोगे तो आगे दुःख भोगना पड़ेगा। इस व्यसन से स्वास्थ्य भी बिगड़ता है।' पोता बच्चा ही था, उसने सुना। दो क्षण मौन रहा, फिर वह बोला–'दादा! शराब पीना ज्यादा बुरा है या बीड़ी पीना?' यह सुनकर दादा अवाक् रह गया। बच्चे को क्या उत्तर दे? एक शब्द ने इतना असर किया कि उसकी शराब छूट गई।

साधना और निमित्त

हम शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श से प्रभावित होते हैं। वातावरण का सर्जन करने वाले जितने घटक तत्त्व हैं, उन सबसे हम प्रभावित होते हैं। सारी घटनाएं हमें प्रभावित करती हैं। लड़ाई हमें प्रभावित करती है। मनुष्य का व्यवहार उसकी स्वतंत्र इच्छा और प्रेरणा से संचालित नहीं है। उस पर वातावरण का गहरा असर होता है, परिस्थिति का असर होता है। ऐसी बहुत कम घटनाएं होंगी, ऐसे कम आदमी होंगे, जिन पर वातावरण या परिस्थिति का प्रभाव न पड़ता हो, जो इन दोनों के प्रभावों से मुक्त हों और इनसे अलग हटकर अपना काम करते हों। साधक के लिए भी यह निर्देश-सूत्र है कि जब तक साधना परिपक्व न हो जाए, तब तक उसको वातावरण से बचना चाहिए, परिस्थिति से बचना चाहिए।

एक शिविरार्थी मेरे पास आकर बोला–'स्त्री और पुरुष में इतना भेद क्यों किया जाए? स्त्रियों को अलग और पुरुष को अलग क्यों रखा जाए? इससे तो 'मैं पुरुष हूं' यह धारणा पुष्ट होगी और 'मैं स्त्री हूं' यह धारणा भी पुष्ट होगी। साधना है इस भेद को मिटाने के लिए, तो फिर हम उलटे क्यों चल रहे हैं? यह रेखा क्यों बनाई गई कि यहां स्त्रियां बैठेंगी और यहां पुरुष बैठेंगे? कोई कहीं बैठे, कहीं रहे, साथ रहे, न रहे, क्या फर्क पड़ता है? साधना करनी है तो सबको साथ-साथ रहना चाहिए।'

मैंने कहा–यह आदर्श की बात तो अच्छी है और जो साधना में आगे तक पहुंच चुका है उसके लिए ठीक बात है। साधना के चरमबिंदु पर पहुंच जाने के बाद न कोई पुरुष होता है और न कोई स्त्री। कर्म-सिद्धांत में दो शब्द आते हैं–वेद और अवेद। वेद तीन हैं–स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। जहां ये तीनों समाप्त हो जाते हैं, इनकी अनुभूति समाप्त हो जाती है, तब अवेदक अवस्था प्राप्त होती है। जब वेद पूरा समाप्त हो जाता है, उसका अनुभव

नामशेष हो जाता है, तब पुरुष पुरुष नहीं रहता और स्त्री स्त्री नहीं रहती। वहां केवल प्राणी रहता है, प्राण रहता है, चेतना रहती है। वहां पुरुषत्व और स्त्रीत्व समाप्त हो जाते हैं। इस स्थिति में कोई कठिनाई नहीं होती।

महाराष्ट्र के एक प्रसिद्ध संत अपनी बहन से साक्षात्कार करने के लिए गए। बहन उनसे भी अधिक पहुंची हुई साधिका थी। भाई जो अभी अभी संत बने ही थे, वे बहन के आश्रम में पहुंचे। वह उस समय निर्वस्त्र होकर स्नान कर रही थी। संत ने देखा और मुड़ गए। बाहर आकर खड़े हो गए। जब बहन स्नान से निवृत्त हो गई, तब भीतर गए और उससे मिले। बहन बोली–'एक बार तुम भीतर आए ही थे, फिर बिना मिले बाहर क्यों चले गए?' संत ने कहा–'आया तो था, पर तुम निर्वस्त्र स्नान कर रही थी, इसलिए तत्काल बाहर चला गया।' साधिका बहन बोली–'अभी तक तुम्हारे मन में यह भेद बना हुआ है कि यह पुरुष है, यह स्त्री है। तुम क्या साधना करोगे?'

यह उच्च अवस्था की बात हो सकती है, पर आज साधु बना, साधक बना और आज ही हम उस आदर्श की कल्पना करें तो उचित नहीं होगा। अभी पुरुषों में पुरुषत्व भी जागृत है और स्त्रियों में स्त्रीत्व भी जागृत है। स्थिति तो वैसी की वैसी है। मंजिल दूर है। वहां पहुंचकर इस भेद को मिटाया जा सकता है। जब तक भीतर आंतरिक वातावरण विद्यमान है, बाहरी वातावरण और बाहरी उद्दीपन विद्यमान हैं, तब तक उस उच्च स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती। यह व्यवहार्य भी नहीं बन सकती। जब तक उच्च स्थिति में नहीं पहुंचते है, तब तक विधि-विधान, मर्यादाएं और रेखाएं बहुत जरूरी हैं। यदि रेखाएं न हों तो बौद्ध संघ की-सी स्थिति बन सकती है। बुद्ध ने भिक्षुणियों का संघ बनाया, पर व्यवस्था नहीं दी। इसका परिणाम यह आया कि बुद्ध का संघ भ्रष्ट होता चला गया। व्यवस्था टूट गई। दूसरी ओर भगवान महावीर ने साध्वियों को दीक्षा दी। साध्वी-संघ बना, पर व्यवस्थाएं इतनी अच्छी दीं कि आज भी भिक्षुओं और भिक्षुणियों का यह जैन संघ निर्दोष रूप से चल रहा है।

हम इस बात को न भूलें कि हमारा व्यवहार जो उद्दीपक है, उसका पूरा विवेक बहुत जरूरी है, क्योंकि हमारी चेतना इतनी स्वतंत्र नहीं बन गई है कि वह उद्दीपकों से प्रभावित न हो। जब तक उद्दीपकों का प्रभाव पड़ता रहता है, तब तक व्यवहार भिन्न प्रकार से ही करना होगा। इसीलिए अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह–इन सबके लिए विधि-विधान किए

गए। अहिंसा की भी विधि है। जो वीतराग अवस्था तक पहुंच गया है, उसके लिए कोई मर्यादा नहीं है। वह बंधा हुआ नहीं होता, अतः उसके लिए कोई विधि नहीं होती। आचारांग का एक महत्त्वपूर्ण सूक्त है–**कुशले पुण णो बद्धे णो मुक्के**–जो कुशल वीतराग हो जाता है वह किसी बंधन से बंधा हुआ नहीं होता। वह न बंधा हुआ होता है और न मुक्त। बंधन और मोक्ष दोनों उसके लिए समाप्त हो जाते हैं, क्योंकि ये दोनों सापेक्ष शब्द हैं। जो वीतराग स्थिति में पहुंच जाता है, उसके लिए इन सापेक्ष शब्दों का कोई उपयोग नहीं रहता। वह बंधन और मुक्ति से परे हो जाता है, परंतु जब तक व्यक्ति 'कुशल' नहीं हो जाता, तब तक वह बंधा हुआ रहता है। वह स्व-अनुशासन से भी बंधा हुआ रहता है।

उद्दीपन भी प्रभावहीन

प्रेक्षाध्यान की उपसंपदा के पांच सूत्र हैं। उनमें एक सूत्र है प्रतिक्रियाविरति। प्रत्येक व्यक्ति के मन पर बाहरी उद्दीपनों का प्रभाव पड़ता है। उसके कारण ही भिन्न-भिन्न प्रकार के आचरण होते हैं। ध्यान साधना के द्वारा ऐसी स्थिति का निर्माण हो जाए कि उद्दीपन उद्दीपन न रहें, प्रभावहीन हो जाएं। मन पर उसका कोई प्रभाव न पड़े। यह है प्रतिक्रियाविरति। इस स्थिति में ही बाहरी व्यवस्था टूट सकती है। कोई भी वस्तु अपने आप में उद्दीपक नहीं होती। गाली क्रोध का उद्दीपक तत्त्व है, पर जिस व्यक्ति का मन शांत और पवित्र हो गया, उसके लिए गाली में उद्दीपकता नहीं रहती। वह समाप्त हो जाती है। ऐसे शांत व्यक्ति को गाली दें, उसे क्रोध नहीं आएगा, परंतु उसमें करुणा जागेगी। ऐसा क्यों होता है? यह उलटा परिणाम क्यों होता है? इसका कारण है कि उस व्यक्ति के लिए गाली की उद्दीपकता समाप्त हो जाती है। आचार्य भिक्षु कहीं जा रहे थे। सामने एक आदमी मिला। आचार्य भिक्षु को देख उसने वंदना की। उनके चेहरे को ध्यान से देखकर पूछा–'आपका नाम?'

'मेरा नाम भीखण है।'

उसने आश्चर्य के साथ कहा–'कौन! तेरापंथी भीखण!'

'हां, तेरापंथी भीखण!'

'बहुत बुरा हुआ।'

'क्या बुरा हुआ?'

'आपका मुंह देख लिया। अब मुझे नरक में जाना पड़ेगा।'

आचार्य भिक्षु को यह सुनकर क्रोध आना चाहिए था, पर वे मुस्कराकर बोले–'अरे! यह तो बताओ, तुम्हारा मुंह देखने वाले की क्या गति होगी?'

'मेरा मुंह देखने वाला सीधा स्वर्ग जाएगा', उसने कहा।

आचार्य भिक्षु बोले–'मैं तो इस बात को नहीं मानता कि किसी का मुंह देखने से कोई स्वर्ग में जाता है या कोई नरक में जाता है, पर तुम्हारे कथनानुसार तो यह सिद्ध हो गया कि मैंने तुम्हारा मुंह देखा है, इसलिए मैं स्वर्ग में जाऊंगा और तुम....। मेरे लिए तो अच्छा ही हुआ।' एक कटु बात को इस प्रकार विनोद से टाल देना प्रत्येक के बूते की बात नहीं होती। एक साधक व्यक्ति ही इस प्रकार के प्रसंगों पर शांतचित्त रह सकता है। आध्यात्मिक साधना के द्वारा चेतना रूपांतरित हो जाती है और तब उद्दीपकों में उद्दीपकता नष्ट हो जाती है। उस समय न गाली उद्दीपक बनती है, न मार और प्रहार उद्दीपक बनता है। ये सारे उद्दीपक प्रसन्नता को उद्दीपित करने वाले बन जाते हैं।

एकनाथ पर एक व्यक्ति ने इक्कीस बार थूका और वे अविचलित रहते हुए इक्कीस बार गोदावरी में स्नान करने गए और उन्होंने इसे अपना सौभाग्य माना। क्या सामान्य व्यक्ति के लिए इस स्थिति में शांत रहना संभव है? सामान्य भूमिका में जीने वाला व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता। जिसकी चेतना बदल जाती है, वही व्यक्ति इतना शांत रह सकता है।

आदमी वातावरण से बंधा हुआ है, परतंत्र है। यह भी हम जानते हैं कि आदमी कितना स्वतंत्र है, उद्दीपकों से कितना मुक्त है और वातावरण से कितना अप्रभावित रहता है। दोनों पक्ष हैं। एक पक्ष है आदमी की स्वतंत्रता का और एक पक्ष है आदमी की परतंत्रता का। जब तक चेतना परिष्कृत या परिमार्जित नहीं होती, तब तक आदमी परतंत्रता का जीवन जीता है। जब चेतना परिष्कृत और सुसंस्कृत हो जाती है, तब आदमी स्वतंत्रता का जीवन जीने लग जाता है। ये दोनों पहलू-स्वतंत्रता और परतंत्रता–वातावरण से जुड़े हुए हैं।

मनुष्य की परतंत्रता का एक कारण रासायनिक प्रभाव भी है। शरीर में अनेक प्रकार के रसायन बनते हैं। मस्तिष्क रसायनों का प्रचुर उत्पादन करता है। वह रसायनों का 'सुपर प्लांट' है। ग्रंथियां रसायन पैदा करती हैं। पिट्यूटरी ग्लैण्ड बारह प्रकार के रसायन निर्मित करती है। अन्यान्य ग्रंथियां भी रसायनों की निर्मात्री हैं।

रसायनों का प्रभाव

रसायन दो प्रकार के होते हैं–बाहरी रसायन और भीतरी रसायन। दोनों प्रकार के रसायन आदमी के व्यवहार और आचरण को प्रभावित करते हैं।

किसी व्यक्ति में क्रोध, भय, घृणा का आवेग उभरता है तो एक मनोवैज्ञानिक कहेगा कि आवेगों का दायित्व मनुष्य पर नहीं है। भीतर के रसायन इसके लिए उत्तरदायी हैं। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि प्रत्येक आदमी एक प्रकार से रासायनिक जीवन जी रहा है। अभी-अभी एक नई खोज हुई है। अमेरिका के राष्ट्रीय मानव स्वास्थ्य के वैज्ञानिक डॉ. सीवेनपाल ने कहा–'आज तक हम नहीं जानते थे कि चिंता पैदा करने वाले रसायन कौन-से हैं, किंतु अब हमें वे रसायन ज्ञात हो गए हैं। हम चिंता मिटाने वाले रसायनों को तो पहले से ही जान चुके थे, पर अब उनको पैदा करने वाले रसायनों का भी पता लगा लिया है।'

मनोचिकित्सक ऐसी दवा देता है कि चिंता में डूबा हुआ आदमी सुख और शांति का अनुभव करने लग जाता है। अब ऐसा इंजेक्शन दिया जा सकता है कि शांत और सुखी आदमी क्षणभर में चिंताग्रस्त होकर दुःखी हो जाए। आदमी स्वतंत्र कहां है? एक दवा से वह चिंतातुर होकर चिंता के महासागर में डूब जाता है और दूसरी दवा से वह चिंता से मुक्त होकर आनंद के महासमुद्र में डुबकियां लेने लग जाता है। एक प्रयोग से आदमी में खाने की लालसा उभर आती है और दूसरे प्रयोग से उसमें खाने के प्रति अरुचि हो जाती है।

यह सारा विद्युत प्रकंपनों के द्वारा होता है। आज रसायनों के विषय में इतनी विशद जानकारी प्राप्त हो गई है कि व्यक्ति को कैसा बनाया जाए, यह सारी कला रसायनविदों के हाथ में है। आज वे प्रयोगशाला में बैठे-बैठे व्यक्ति के भाग्य पर नियंत्रण करते हैं। यह बहुत अच्छा नहीं हुआ, बुरा हुआ है। यदि यह बात वैज्ञानिकों के हाथ में आ गई और राजनीतिज्ञों ने इसका उपयोग करना शुरू कर दिया तो फिर वे अपने विपक्ष वालों को कभी चिंतामुक्त नहीं होने देंगे। उन्हें चिंता में डाले रखेंगे। चिंता की स्थिति में वे विरोध करना भूल जाएंगे। किसी बहाने उनको पकड़कर ऐसा इंजेक्शन दे देंगे कि वे बेचारे जीवनभर चिंताग्रस्त होकर सड़ते रहें। यह बात अच्छी नहीं है, पर है सच।

आदमी रसायनों से बनता-बिगड़ता है। बाहर के रसायन खोजे गए हैं, जो आदमी के चरित्र को प्रभावित करते हैं। भीतर के रसायन भी कम प्रभावित नहीं

करते, उनका गहरा प्रभाव होता है। शरीरशास्त्रीय दृष्टि से भी जितने आवेग हैं, उतने ही रसायन हैं।

कर्मशास्त्र में इसे 'रसविपाक' कहा जाता है। रसविपाक कहें या रसायन दोनों में कोई अंतर नहीं है। जहां कर्म का विपाक होता है, वहां रस आता है। एक पूरी प्रक्रिया है। प्रवृत्ति या भाव या अध्यवसाय से कर्मशरीर में एक स्पंदन होता है। वहां से एक तरंग चलती है। वह तरंग सूक्ष्म शरीर–तैजस शरीर में आती है, फिर आगे बढ़ती है और स्थूल शरीर में आती है। स्थूल शरीर में अनेक केन्द्र बने हुए हैं। वहां आकर वह तरंग रसायन पैदा करती है और तब वे रसायन हमारे आचरण को प्रभावित करते हैं, यह जटिलता है। कितना परतंत्र है आदमी! अंतःस्रावी ग्रंथियों का रसायन सीधा रक्त के साथ मिलता है और आदमी उन रसायनों से प्रभावित जीवन जीता है। उन ग्रंथियों के मुंह तो है नहीं। वे नलिकाविहीन ग्रंथियां हैं। उनका स्राव सीधा रक्त में जा मिलता है।

एक आदमी सिद्धांत की लंबी-चौड़ी बातें करता है, पर स्वयं आचरण नहीं कर पाता। यह ज्ञान और आचरण की दूरी, कथनी और करनी की दूरी अथवा निर्लज्जता या ढिठाई आंतरिक रसायनों के कारण होती है। वह कहता कुछ है और करता कुछ है, क्योंकि पिट्यूटरी का स्राव ठीक नहीं हो रहा है। जब तक पिट्यूटरी का स्राव समुचित नहीं होता, तब तक अंतर्दृष्टि नहीं जागती और इसके बिना कथनी और करनी की दूरी मिट नहीं सकती।

कुछ वर्ष पहले की बात है। अहिंसा पर सभा हुई और उसके अध्यक्ष बने बड़ौदा के नरेश गायकवाड़। अहिंसा विषय पर अनेक भाषण हुए। एक युवक भी बोला। उसका वक्तव्य बहुत प्रभावशाली रहा। उसने कहा–हिंसा का विरोध होना चाहिए और अहिंसा का विकास होना चाहिए। खान-पान की शुद्धि के विषय में उसका कथन सचोट था। लंबे समय तक बोलता रहा। पसीने से तर-बतर हो गया। उसने अपनी जेब से रूमाल निकाला पसीना पोंछने के लिए और विडंबना देखिए कि उस रूमाल के साथ उसकी जेब से एक अंडा भी आ गिरा। पृथ्वी पर गिरते ही वह फूट गया।

ऐसे लोगों की कमी नहीं है दुनिया में जो वक्तव्य देने में माहिर होते हैं, पर आचरण करने में क्लीव। उनका वक्तृत्व का पक्ष बहुत बलवान होता है, पर आचरण का पक्ष अत्यंत कमजोर होता है। यह दूरी क्यों होती है? यदि मनोवैज्ञानिक, शरीरशास्त्री, रसायनविद् और बायोकेमिक विद्वान से पूछा जाए

तो वे सब यही कहेंगे कि दूरी का कारण मनुष्य नहीं है, यह सारा रसों के स्राव से होता है। स्राव संतुलित नहीं है, इसलिए ये सारी गड़बड़ियां होती हैं।

दो पहलू हैं हमारे सामने। एक है स्वतंत्रता का पहलू और दूसरा है परतंत्रता का पहलू। आदमी बहुत परतंत्र है, अपने शरीर के भीतर पैदा होने वाले रसायनों के कारण तथा बाहर से आने वाले रसायनों के कारण। प्राचीन भारत में वाजीकरण, कामोद्दीपन आदि अनेक उद्देश्यों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के रसायन बनाए जाते थे और उनका प्रयोग भी होता था। आज भी यत्र-तत्र उन रसायनों के प्रयोग होते हैं। अच्छा आदमी रसायनों के प्रयोग से बुरा बन जाता है और बुरा आदमी अच्छा बन जाता है। आदमी के अच्छे बनने और बुरे बनने में भीतरी और बाहरी दोनों प्रकार के रसायनों का हाथ होता है। इतना परतंत्र है आदमी! इतना बंधा हुआ है रसायनों से आदमी। हमारी परतंत्रता का एक पहलू है रासायनिक प्रतिबद्धता।

रसायन अप्रभावी कब?

जीवन का दूसरा पहलू है स्वतंत्रता का। जब साधना के द्वारा चेतना बदलती है, तब रसायनों का प्रभाव समाप्त हो जाता है। जहर का कार्य है मार डालना। क्या जहर मीरा को मार सका? मीरा ने जहर का प्याला पीया, कोई असर नहीं हुआ। भयंकर सर्प चंडकौशिक क्या महावीर को मार सका? उसकी फुफकार से आदमी राख का ढेर हो जाता था। उसने महावीर को कई बार डसा, पर व्यर्थ। महावीर पर कोई असर नहीं हुआ।

दक्षिण की एक घटना है। दो मुनि एक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ खड़े थे। एक चरवाहा पेड़ के नीचे बैठा था। इतने में एक काला नाग निकला। चरवाहा डरा और तत्काल पेड़ पर चढ़ गया। उसने सोचा–दो आदमी आंखें बंद कर निश्चल खड़े हैं। इन्हें सांप डस लेगा। वह सोच ही रहा था कि काला नाग फुफकारता हुआ उन दोनों मुनियों की ओर बढ़ा और अत्यंत रोष में दोनों को डंक लगाए। रोष बढ़ता गया और उसने तीन-तीन बार उन्हें काटा। अंत में थककर चला गया। चरवाहा देख रहा था।

उसने सोचा कि सांप ने डंक मार दिया है। अब ये दोनों बेचारे परलोकधाम पहुंचने ही वाले हैं। बेचारे! बेचारे! वह देखता रहा, पर दोनों जैसे पहले खड़े थे, वैसे ही निश्चल खड़े है। न कोई हलन-चलन है, न कोई विक्षोभ है और न कोई रोष है। कुछ समय बीता। ध्यान संपन्न हुआ। दोनों ने आंखें खोलीं।

चरवाहा वृक्ष से नीचे उतरा। उसने कहा–'मुनि महाराज! एक काला नाग आया था, आपको पता है?'

'नहीं, हम नहीं जानते।'

'आपको उसने तीन बार डंक लगाए, क्या दर्द नहीं हुआ?'

'हम नहीं जानते, काटा होगा!'

'आप पर जहर का असर नहीं हुआ? आप मरे नहीं?'

'अरे भाई! हम यहां थे ही नहीं। किसको काटा, हम नहीं जानते।'

'ओह! मेरे सामने सांप ने आपके शरीर पर डंक लगाए। यह सब मैंने अपनी खुली आंखों से देखा है। उस समय मेरा मन कांप रहा था। करुणा आ रही थी और आप कहते हैं, हमें तो पता नहीं है। आश्चर्य! आश्चर्य!'

'भाई! हम शरीर में नहीं थे। नाग ने शरीर को काटा होगा, हमें ज्ञात नहीं है।'

जब शरीर की पकड़ होती है, तभी प्रभाव होता है। शरीर की पकड़ जितनी मजबूत होगी, प्रभाव भी उतना ही गहरा होगा। शरीर की पकड़ छूटेगी, चैतन्य के प्रति जागरूकता बढ़ेगी तो शरीर का भान नहीं रहेगा। शरीर का ममत्व छोड़ देने पर शरीर रहेगा, उस पर कुछ भी घटेगा, पर चैतन्य अप्रभावित रहेगा।

जब प्राण और चेतना–दोनों भीतर चले जाते हैं, उनका समाहार हो जाता है, तब शरीर पड़ा है, उसे सांप काटे, कोई भी काटे, कुछ असर नहीं होगा चेतना पर। यह दूसरा पक्ष है। हमारी चेतना रूपांतरित होती है प्रेक्षा के द्वारा। उस स्थिति में दोनों प्रकार के रसायनों का प्रभाव नहीं होता। यदि होता है तो अत्यल्प मात्रा में। यह हमारी स्वतंत्रता का पक्ष है।

आज रासायनिक और वातावरण की दृष्टि से हमने स्वतंत्रता और परतंत्रता के पहलू पर विचार किया। अब एक बहुत बड़ा आयाम हमारे सामने है कर्म की दृष्टि से। कर्म की दृष्टि से हम स्वतंत्र हैं या परतंत्र, इस पर हमें चर्चा करनी है।

१२. उत्तरदायी कौन?

एक खेत में गाय चर रही थी। मालिक खेत की रखवाली कर रहा था। उसने गाय को निकालने का प्रयत्न किया। गाय बोली–'मुझे क्यों निकाल रहे हो?'

'तुम मेरा खेत खाए जा रही हो, फिर मैं क्या खाऊंगा? किसी के खेत में घुसना और खड़ी फसल खा लेना अच्छा नहीं है।'

'मैं बहुत दूर से आई हूं।'

'कहां है, तुम्हारा निवास-स्थान?'

'मेरा घर है स्वर्ग।'

'यहां क्यों आई हो?'

'मैंने अनाज को देखा, मन ललचा गया, इसलिए उसे खाने चली आई। तुम मुझे मत निकालो। खाने दो।'

तो फिर मैं क्या खाऊंगा?'

'चिंता मत करो, मेरे साथ चलो स्वर्ग में। मैं तुम्हें भरपेट लड्डू खिलाऊंगी। किसान मान गया। गाय उसे साथ लेकर स्वर्ग में गई और उसे खूब लड्डू खिलाए।'

किसान ने लड्डू कभी खाए नहीं थे। उसे लड्डू स्वादिष्ट लगे। वह बोला–'गाय माता! तुम रोज मेरे खेत में आना। भरपेट अनाज खाना और मुझे रोज यहां ले आना।'

गाय ने यह समझौता स्वीकार कर लिया।

गाय रोज खेत में आती और किसान रोज स्वर्ग में जाता।

यह क्रम कुछ दिनों तक चला।

एक दिन घरवाले खेत में आए और खेत को देखकर आश्चर्यचकित रह गए। खेत आधा खाया जा चुका था।

उन्होंने घर-स्वामी से पूछा–'खेत की यह अवस्था कैसे हुई? अभी तो फसल कटी ही नहीं और खेत आधा खाली हो गया। क्या हुआ?'

'मैं नहीं जानता।'

'कैसे नहीं जानते? तुम रखवाले हो खेत के। तुम उत्तरदायी हो। उत्तर दो कि फसल कहां गई?'

'उसने सारी कहानी कह सुनाई।'

घरवाले बोले–'तुम बड़े स्वार्थी निकले। खेती में सबका हिस्सा है। तुम अकेले-अकेले स्वर्ग में जाते हो और लड्डू खा आते हो। अब ऐसा नहीं हो सकेगा?'

दूसरा दिन उगा। स्वर्ग से कामधेनु गाय आई। आते ही वह फसल खाने लगी। किसान ने कहा–'अब मुसीबत आ गई है। अब तुम फसल नहीं खा सकोगी।'

'क्यों?'

'घर के सभी सदस्य लड्डू खाने के लिए ललचा रहे हैं।'

'सबको ले चलो स्वर्ग में। सबको लड्डू खिलाऊंगी।' घरवाले राजी हो गए।

तीसरे दिन गाय आई। किसान ने गाय की पूंछ पकड़ ली। शेष सदस्य एक-दूसरे की टांग पकड़े, किसान की टांग पकड़कर लटक गए। गाय आकाश में उड़ी और स्वर्ग की ओर चल पड़ी। कुछ समय बीता। एक व्यक्ति के मन में विकल्प उठा कि स्वर्ग के लड्डू कितने बड़े होते हैं, हम उन्हें खा सकेंगे या नहीं? वह विकल्प के फंदे में फंस गया। अपने आपको रोक नहीं सका। वह बोला–'बाबा! हम सबको स्वर्ग में ले जा रहे हो। वहां हमें लड्डू खिलाओगे, पर यह तो बताओ कि लड्डू कितने-कितने बड़े हैं?'

बाबा को भी ध्यान नहीं रहा। वह भी विकल्प में उलझ गया। उसने गाय की पूंछ छोड़ दी और हाथ फैलाकर बोला–'इतने बड़े-बड़े हैं स्वर्ग में लड्डू।' पूंछ को छोड़ते ही सभी एक साथ धड़ाम से जमीन पर आ गिरे।

उत्तरदायी कौन?

अब प्रश्न होता है कि नीचे गिराने में कौन उत्तरदायी है? क्या पूछने वाला उत्तरदायी है अथवा उत्तर देने वाला उत्तरदायी है? यह एक जटिल प्रश्न है। प्रत्येक आचरण और व्यवहार में प्रश्न उभरता है कि उत्तरदायी कौन? यदि उत्तरदायी का स्पष्ट निर्णय हो जाता है तो अनेक समस्याओं का समाधान प्राप्त हो जाता है। उत्तरदायी के निर्णय में भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से सोचते हैं, कहते हैं।

मनोवैज्ञानिक कहेगा कि व्यवहार के विषय में उत्तरदायी है आनुवंशिकता, वातावरण और परिस्थिति। समूचे व्यवहार और आचरण के लिए ये तीन तत्त्व उत्तरदायी हैं। आदमी का कोई उत्तरदायित्व नहीं है। प्रस्तुत प्रसंग में 'लड्डू कितने बड़े हैं'–यह प्रेरक तत्त्व उत्तरदायी है। रसायनशास्त्री कहेगा कि हमारे आचरण के लिए उत्तरदायी हैं शरीरगत केमिकल्स, रसायन। नाड़ीतंत्र और ग्रंथितंत्र में पैदा होने वाले रसायन उत्तरदायी हैं। आदमी का उत्तरदायित्व समाप्त हो गया। इसीलिए अनेक लोग कहते हैं–व्यक्ति क्या करे? उसका कोई अस्तित्व ही नहीं बचता। रसायन उसे जैसे चलाते हैं, वैसे ही वह चलता है।

ईश्वरवादी कहते हैं–ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता। सारा उत्तरदायित्व आता है ईश्वर पर। धार्मिक व्यक्ति कहता है कि आचरण और व्यवहार का पूरा दायित्व है कर्म पर। कर्म उत्तरदायी है। कुछ दार्शनिक कहते हैं–काल उत्तरदायी है। कुछ कहते हैं–स्वभाव उत्तरदायी है और कुछ कहते हैं–नियति उत्तरदायी है। इस प्रकार पांच मुख्य दार्शनिक धारणाएं हैं–कालवाद, स्वभाववाद, ईश्वरवाद, नियतिवाद और कर्मवाद। पांचों वाद पांच भिन्न-भिन्न तत्त्वों को उत्तरदायी मानते हैं।

कालवाद

कालवादी कहता है, काल के बिना कुछ भी नहीं हो सकता। सबकुछ काल करता है। जब काल का परिपाक होता है, तब सबकुछ घटित हो जाता है। आज का जन्मा बच्चा आज ही विद्वान, योद्धा या व्यापारी नहीं बन जाता। जैसे-जैसे काल बीतेगा, उसमें ये योग्यताएं अभिव्यक्त होती जाएंगी। प्रत्येक कार्य का कर्तृत्व काल में निहित है। काल ही उत्तरदायी है। यह सुनने में और व्यवहार में उचित भी लगता है। काल के परिपाक के बिना कुछ भी नहीं होता।

आज ही बीज बोया और आज ही आम का वृक्ष उग आएगा, कभी संभव नहीं। उसका उगना, आम का लगना और पकना, कालसापेक्ष होता है।

काल ही सबकुछ है। मौत आती है तो काल से आती है और जीवन चलता है तो काल से चलता है। काल का एक पूरा चक्र है। सर्दी के मौसम में सैकड़ों लोग ज्वरग्रस्त हो जाते हैं और गर्मी में सैकड़ों लोग लू से संतप्त हो जाते हैं। यह ऋतु का चक्र है, काल का प्रभाव है। जिस समय जो-जो ऋतु होती है, उस समय वैसा ही प्रभाव होने लग जाता है। सर्दी में लू क्यों नहीं लगती? गर्मी में सर्दी-जुकाम अधिक क्यों नहीं होता? सर्दी में भिन्न प्रकार की बीमारियां होती हैं, गर्मी में भिन्न प्रकार की बीमारियां होती हैं तथा वर्षा में भिन्न प्रकार के रोग होते हैं। काल के प्रभाव से ये बीमारियां ही नहीं होतीं, मनुष्य के मनोभाव भी बदलते रहते हैं। सर्दी में एक प्रकार का मनोभाव होता है तो गर्मी में दूसरे प्रकार का मनोभाव होता है।

मनुष्य के जीवन की घटनाओं के साथ ज्योतिर्विज्ञान का गहरा संबंध जुड़ा हुआ है। आज वह विज्ञान विस्मृत-सा हो रहा है, अन्यथा इस विज्ञान के आधार पर प्रत्येक घटना की जानकारी सहज-सुगम हो जाती है। ज्योतिर्विज्ञान कालविज्ञान है। यह काल से जुड़ा हुआ विज्ञान है।

एक आदमी बीमार है। दवा दी। कोई असर नहीं हुआ। क्यों? इसका भी पुष्ट कारण है। प्रत्येक औषधि ज्योतिर्विज्ञान के साथ जुड़ी हुई है। वहां बताया गया है, कौन व्यक्ति किस समय में, किस नक्षत्र में औषधि को तोड़े और किस नक्षत्र में उसे लाए? प्रातः, मध्याह्न में या सायं लाए? प्रत्येक के साथ काल का संबंध है। काल की सीमा को विस्मृत कर देने का ही यह परिणाम है कि आज औषधि उतना लाभ नहीं कर रही है, जितना लाभ करना चाहिए था, इसलिए काल नियामक तत्त्व है।

स्वभाववाद

कुछ स्वभाववाद को मानते हैं। उनके अनुसार सबकुछ स्वभाव से घटित होता है। वस्तु का जैसा स्वभाव होता है, वैसा ही परिणाम होता है। प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति का अपना स्वभाव होता है। अग्नि का अपना स्वभाव है और पानी का अपना स्वभाव है। स्त्री का अपना स्वभाव है और पुरुष का अपना स्वभाव है। स्वभाव के अनुसार सारा परिवर्तन होता है, घटनाएं घटित होती हैं। कुत्ते का स्वभाव है भौंकना। कुत्ता चाहे फिर बालोतरा का हो, दिल्ली

या मास्को और न्यूयार्क का हो। स्वभाव व्यापक होता है। चींटी का अपना स्वभाव होता है तो मक्खी का अपना स्वभाव होता है। यह स्वभाव है, इसे सिखाया नहीं जाता। सर्वत्र इसमें एकरूपता मिलती है, इसलिए प्रत्येक घटना के लिए उत्तरदायी है स्वभाव। यह स्वभाववादी की धारणा है।

नियतिवाद

कुछ दार्शनिक मानते हैं कि व्यक्ति कुछ नहीं करता। वह अत्यंत असहाय है। उसका अपना कुछ भी स्वतंत्र कर्तृत्व नहीं है। जो कुछ होता है, वह सब नियति के अधीन है। नियति का अर्थ ठीक से नहीं समझा गया। लोग इसका अर्थ भवितव्यता करते हैं। जो जैसा होना होता है वह वैसा ही हो जाता है। यह है भवितव्यता की धारणा, नियति की धारणा। नियति का यह अर्थ गलत है। इसी आधार पर कहा गया–भवितव्यं भवत्येव गजभुक्तकपित्थवत्–जैसा होना होता है, वैसा ही घटित होता है। हाथी कपित्थ का फल खाता है और वह पूरा का पूरा फल मलद्वार से निकल जाता है, क्योंकि भवितव्यता ही ऐसी है। नारियल के वृक्ष की जड़ों में पानी सींचा जाता है और वह ऊपर नारियल के फल में चला जाता है।

यह भवितव्यता है। यह नियतिवाद है, पर ऐसा नहीं है। नियति का अर्थ ही दूसरा है। नियति का वास्तविक अर्थ है जागतिक नियम, सार्वभौम नियम, युनिवर्सल लॉ। इसमें कोई अपवाद नहीं होता। वह सब पर समान रूप से लागू होता है। वह चेतन और अचेतन सब पर लागू होता है। उसमें अपवाद की कोई गुंजाइश नहीं होती। नियम सबके लिए होता है। सम्राट बिंबसार के समय में ऐसी कोई घटना घटी कि नगर के अनेक घरों में अचानक अग्नि लग जाती। सभी परेशान थे। सम्राट ने यह घोषणा करवाई कि जिसके घर में आग की यह घटना घटे, उसे वह रात श्मशान में बितानी होगी। आदेश आदेश था। जिसके घर में आग लग जाती, उसे श्मशान में रात बितानी पड़ती। एक दिन ऐसा हुआ कि सम्राट के महल में आग लग गई। घोषणा के अनुसार सम्राट ने श्मशान में जाने की तैयारी की। सामंतों ने निवेदन किया कि आप सर्वेसर्वा हैं। आप श्मशान में न जाएं। सम्राट बोला–'नियम नियम है। वह सबके लिए है। मैं इसका अपवाद रहना नहीं चाहता।'

एक आश्रम के अधिष्ठाता ने नियम बनाया, कोई भी आश्रमवासी यदि चार बजे के बाद उठेगा, उसे आश्रम के सभी वृक्षों को सींचना होगा। वह

निरपवाद नियम बन गया। एक दिन आश्रम के अधिष्ठाता आचार्य स्वयं विलंब से उठे। नियम के अनुसार वे वृक्षों में पानी देने लगे। अन्यान्य आश्रमवासियों ने कहा–'गुरुदेव! यह काम हम कर लेंगे। आप पधारें।' आचार्य ने कहा–'मैं नियम का अपवाद नहीं हूं। मैंने ही तो यह नियम बनाया था और मैं ही इसका अपवाद बन जाऊं, यह नहीं हो सकता।'

जिस नियम में कोई अपवाद नहीं होता, वह है नियति। जिसमें अपवाद होता है, वह नियति नहीं, सामान्य नियम होता है। नियति सार्वभौम नियम है। हमारे जीवन-चक्र के हजारों शाश्वत नियम हैं। जगत के हजारों शाश्वत नियम हैं। उनमें अपवाद नहीं होता। मृत्यु एक नियति है। क्या कोई इसका अपवाद बना है आज तक? कोई नहीं बना और न बन सकेगा। जो जन्मता है, वह मरता है। जिसने जन्म लिया है, वह आज या कल अवश्य मरेगा। जो जीवनधर्मा है, वह मरणधर्मा है। यह नियति है, निश्चित है। जीवन के साथ मृत्यु जुड़ी हुई है। गीता में कहा गया है–**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।** जो जन्मा है, उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मरे हैं, उनका जन्म भी निश्चित है।

जन्म और मरण दोनों अनिवार्य हैं। प्रत्येक प्राणी की यह नियति है। यदि हम 'जन्म' और मरण' शब्द को छोड़ दें तो अचेतन में भी उत्पाद और विनाश नियति है। कोई भी अचेतन द्रव्य शाश्वत नहीं है। वह बदलता रहता है। एक परमाणु भी एक रूप में नहीं रहता। उसे बदलना ही पड़ता है। चेतन जगत में जन्म और मृत्यु होती है और अचेतन जगत में जन्म और मृत्यु न कहकर, उत्पाद और व्यय होता है। इसका अर्थ है–उसका एक रूप बनता है, दूसरा नष्ट हो जाता है। एक रूप का उत्पाद होता है और दूसरे का व्यय होता है, नाश होता है। उत्पाद और व्यय का चक्र, जन्म और मृत्यु का चक्र, रूपांतरण का चक्र नियति है। वे शाश्वत नियम, जो चेतन और अचेतन पर घटित होते हैं, उन सारे नियमों का एक नाम है नियति। नियतिवाद बहुत बड़ी बात है।

नियतिवादी जो कहते हैं–'जैसा नियति में है, वैसा होगा', यह त्रुटिपूर्ण प्ररूपणा है। इसमें अनेक बड़े-बड़े दार्शनिक चूके हैं। उन्होंने नियति अर्थात् सार्वभौम नियम को सामान्य नियम के रूप में स्वीकार कर लिया, इसीलिए नियति का सिद्धांत भ्रामक बन गया। नियति के वास्तविक अर्थ को समझने के लिए हमें यह मानना पड़ेगा कि नियम दो प्रकार के होते हैं–१. मनुष्यों द्वारा कृत नियम २. सार्वभौम नियम।

मनुष्यों द्वारा कृत नियम नियति नहीं है। नियति वह है, जो प्राकृतिक नियम हैं, स्वाभाविक और सार्वभौम नियम हैं। जो नियम जागतिक है, सब पर लागू होता है, वह है नियति। हम नियति के पंजे से नहीं छूट सकते। प्रत्येक व्यक्ति नियति से जुड़ा हुआ है, नियति के साथ चल रहा है। कोई भी इसका अपवाद नहीं है।

अनंतकाय जीव निगोद कहलाते हैं। वे एक साथ जन्म लेते हैं और एक साथ मरते हैं। वे एक साथ श्वास लेते हैं और एक साथ आहार करते हैं। इतना बड़ा साम्यवाद है कि मनुष्य उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता। वहां कोई व्यवहार नहीं, कोई भेद नहीं। वहां न कोई शासक है और न कोई शासित, न कोई स्वामी और न कोई सेवक। सब समान हैं। वहां से निकलते ही जीव व्यवहार राशि में आ जाता है। प्रश्न होता है कि वह वहां से क्यों निकलता है? अव्यवहार से व्यवहार में कैसे आता है? इसका हेतु है काललब्धि। यह सार्वभौम नियम है, यह केवल नियति है।

तर्क सार्वभौम नहीं

तर्क एक तत्त्व अवश्य है, पर वह सार्वभौम सत्ता नहीं है। वह ईश्वर नहीं कि सर्वत्र व्याप्त हो। तर्क सर्वत्र लागू नहीं होता। कहा भी गया है–स्वभावे तार्किका भग्नाः– स्वभाव में तर्क स्खलित हो जाता है। वह वहां लागू नहीं होता। अतर्क के स्थान में तर्क का प्रयोग समस्या पैदा करता है। जो व्यक्ति तर्क की मर्यादा और सीमा को नहीं जानता, वह गलत परिणाम पर पहुंचता है।

एक तार्किक था। वह बाजार में घी खरीदने गया। उसने घी खरीदा। घी से भरा बर्तन लेकर वह घर की ओर लौट रहा था। उसके मन में एक विकल्प उठा–घृताधारं पात्रं वा पात्राधारं घृतम्–घी का आधार पात्र है या पात्र का आधार घी है? वह विकल्प में उलझ गया। तर्क भी तो एक विकल्प ही है। विकल्पातीत नहीं होता तर्क। केवल अनुभव ही विकल्पातीत और तर्कातीत हो सकता है। तर्क अनुभव नहीं है। वह तार्किक 'घृताधारं पात्रं वा पात्राधारं घृतम्' के तर्क में उलझ गया। वह सोचता रहा। विकल्प प्रबल होता गया। उसने अंतिम निर्णय के रूप में सोचा कि परीक्षण कर लूं कि घी पात्र में टिका हुआ है या पात्र घी में टिका हुआ है? उसने पात्र को उल्टा किया। घी नीचे गिरा, परीक्षण हो गया। सचाई हाथ लग गई कि 'घृताधारं पात्रं' है। 'पात्राधारं घृतं' नहीं है। घी पात्र में टिका हुआ है, पात्र घी में टिका हुआ नहीं है। उसका विकल्प घी को ले डूबा। घी मिट्टी में मिल गया।

तर्क की भी एक सीमा होती है। कहां तर्क करना चाहिए और कहां नहीं, यह जानना आवश्यक होता है। नियति में कोई तर्क नहीं होता, वहां तर्क की पहुंच नहीं है। वह तर्क के द्वारा जानी नहीं जा सकती। वह तर्कातीत अवस्था है। मनुष्य के द्वारा निर्मित नियमों में तर्क का प्रवेश हो सकता है। यह नियम क्यों बना–ऐसा पूछा जा सकता है। मनुष्य नियम बनाता है तो उसके पीछे कुछ न कुछ प्रयोजन होता है। निष्प्रयोजन नियम नहीं बनाए जाते।

न्यायशास्त्र कहता है–यत् यत् कृतकं, तत् तत् अनित्यं–जो कृत अर्थात् किया हुआ होता है, वह अनित्य होता है, शाश्वत नहीं होता। शाश्वत होता है अकृत, जो किया हुआ नहीं होता। बस, यही उसकी मर्यादा है। मनुष्य का बनाया हुआ नियम शाश्वत नहीं होता, नियति नहीं होता। नियति शाश्वत है। उसके नियम स्वाभाविक और सार्वभौम होते हैं। वे अकृत हैं। बनाए हुए नहीं हैं। इसीलिए शाश्वत हैं। नियतिवाद की प्राचीन व्याख्या से हटकर मैंने यह नई व्याख्या प्रस्तुत की है। मैं जानता हूं कि यह नियतिवाद की वैज्ञानिक व्याख्या है। जैन दर्शन ने इसी व्याख्या को स्वीकारा है।

ईश्वरवाद

ईश्वरवाद को मानने वाले सारा उत्तरदायित्व ईश्वर पर डाल देते हैं। वे कहते हैं–प्राणी बेचारा अत्यंत अनजान है। वह अपने सुख-दुःख के विषय में क्या जाने? ईश्वर की प्रेरणा से ही वह स्वर्ग में जाता है और उसी की प्रेरणा से वह नरक में जाता है। सारा उत्तरदायित्व ईश्वर का है। संसार के अच्छे और बुरे होने का कारण है ईश्वर। मनुष्य, उसका भाग्य, काल आदि कुछ नहीं।

कर्मवाद

कर्मवाद को मानने वाले कर्म को उत्तरदायी बताते हैं। भला-बुरा कुछ भी होता है, वे सबकुछ कर्म पर डाल देते हैं। अच्छे का उत्तरदायित्व कर्म पर डालते हैं, बुरे का उत्तरदायित्व कर्म पर डालते हैं। सीधी बात कहते हैं–'मैं क्या करता, कर्म में ऐसा ही लिखा था।' कर्मवादी अपने आपको बचाकर कर्म को उत्तरदायी मानते हैं। आदमी बच गया, कर्म फंस गया।

'हम क्या करें, कर्म में ऐसा ही लिखा था'–इस मिथ्या धारणा ने अनेक भ्रांतियां पैदा की हैं। इस कारण ने गरीबी, बीमारी, दुर्व्यवस्था और अज्ञान को बढ़ाने में सहारा दिया है, आलंबन दिया है, इन्हें टिकाए रखा है। कर्मवाद को एकाकी उत्तरदायी मान लेना गलत धारणा है। कर्मवाद व्यापक

सिद्धांत है। कालवाद, स्वभाववाद और नियतिवाद, ये इतने व्यापक नहीं हैं, जितना व्यापक है कर्मवाद। ईश्वरवादी भी कर्मवाद को स्वीकार करते हैं और अनीश्वरवादी भी कर्मवाद को स्वीकार करते हैं। आदमी जैसा कर्म करता है, वैसा ही उसे भुगतना पड़ता है। यह तथ्य इससे समझाया जाता है कि आदमी के पुरुषार्थ का दीप बुझ जाता है और वह जाने-अनजाने इस अंधकार में भटक जाता है। वह मानने लग जाता है कि मैं असहाय हूं। मैं कुछ कर नहीं सकता। जैसा पहले का कर्मफल है, वैसा ही मुझे प्राप्त होता रहेगा।

मनुष्य में कुछ विशेषताएं होती हैं। उसमें कुछ विशेष गुण हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, शक्ति, क्षमता, कर्तृत्व, ये उसके गुण हैं। उसमें सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जन्म-मृत्यु, बड़प्पन-छुटपन आदि होते हैं। उसमें शरीरगत विशेषताएं होती हैं। कोई काला है, कोई गोरा है, कोई नाटा है, कोई लंबा है, कोई सुरूप है, कोई कुरूप है, ये सारी बातें कर्म के साथ जोड़ी गई हैं। इनको समझाने के लिए ऐसे-ऐसे उदाहरण दिए जाते हैं कि व्यक्ति के मन में यह संस्कार सहज रूप में जम जाता है कि मैं कुछ भी नहीं हूं। सबकुछ करने वाला है कर्म। सारा बोझ कर्म पर है। मैं तो भारहीन हूं, हलका-फुलका हूं। मेरा कुछ भी नहीं है। यह धारणा बन जाती है। एकांगी दृष्टिकोण पनप जाता है।

मैं मानता हूं कि जिन उदाहरणों के द्वारा ये तथ्य समझाए जाते हैं, वे यथार्थ हैं, गलत नहीं हैं। जो बताया जाता है, वह सही है, पर सही बात को भी कैसे पकड़ा जाए, यह हमारे दृष्टिकोण का प्रश्न है। बहुत बार ऐसा होता है कि सही बात को गलत समझ लिया जाता है और गलत बात को सही समझ लिया जाता है। भ्रांतियां अनेक स्थानों पर हो सकती हैं। सुनने में भ्रांति, समझने में भ्रांति, व्याख्या करने वाले में भ्रांति। इन भ्रांतियों के कारण सही बात भी गलत बन जाती है और गलत बात भी सही बन जाती है। इतनी भ्रांतियों के रहते सचाई को कैसे पकड़ा जाए? इस प्रकार कर्मवाद के विषय में भी अनेक भ्रांतियां हुई हैं।

१३. आर्य कर्म

उत्तराध्ययन सूत्र का प्रसंग है–चित्त और ब्रह्म–दोनों भाई मिले। ब्रह्म चक्रवर्ती राजा था और चित्त मुनि थे। ब्रह्म ने प्रयत्न किया, मुनि मेरे साथ आ जाए और राज्य का उपभोग करे। चित्त ने प्रयत्न किया–ब्रह्म मेरे साथ आ जाए और संयम का जीवन जीए। संयमशील बने। दोनों ओर काफी तर्क-वितर्क चले। आखिर दोनों में से कोई भी सफल नहीं बना। न ब्रह्मदत्त चित्त को अपनी ओर खींच सके और न चित्त ब्रह्मदत्त को अपनी ओर आकर्षित कर सके। कोई सफल नहीं हुआ। ब्रह्मदत्त ने साफ-साफ कहा–'मुनिवर! आप जो कहते हैं, वह सही है, किंतु मैं राज्य को, भोगों को अभी नहीं छोड़ सकता।'

चित्त ने कहा–'राजन्, तुम यदि भोगों को छोड़ने में असमर्थ हो तो कम से कम आर्य कर्म तो करना, अनार्य कर्म कभी मत करना।'

परमार्थ की दिशा

प्रश्न है–आर्यकर्म क्या है और अनार्यकर्म क्या है? आचार्य उमास्वाति ने प्रवृत्ति की चर्चा करते हुए कर्म की काफी चर्चा की है। उन्होंने बताया–'जिस कर्म से, जिस प्रवृत्ति से कर्मबंध और क्लेश–ये दोनों क्षीण हों, वैसा कर्म करना चाहिए।' कर्म का निषेध प्रवृत्ति का निषेध नहीं है। वह प्रवृत्ति, जिसके सामने कर्मक्षय का लक्ष्य रहे, परमार्थ है। प्रश्न उठेगा कि किसी व्यक्ति को यह परमार्थ न मिले, तब क्या करना चाहिए? हर व्यक्ति में परमार्थ की दृष्टि जाग जाए, यह बहुत कठिन बात है। सब व्यक्तियों में यह संभव नहीं है, किंतु जब परमार्थ की दृष्टि नहीं जागती है, तब भी मनुष्य कर्म करता है। वह कैसा कर्म करे? आचार्य ने समाधान दिया कि परमार्थ की दृष्टि न जागे तो कम से कम वैसा कर्म करो, जिसका अनुबंध कुशल हो। वह पापानुबंधी न हो, कुशलानुबंधी हो।

परमार्थालाभे वा दोषेस्वारंभकस्वभावेषु।
कुशलानुबंधमेव स्यादनवद्यं यथा कर्म॥

एक कर्म ऐसा होता है, जिसका अनुबंध अकुशल है। उससे बुराई की शृंखला मजबूत होती जाती है, बुराई का अनुबंध दृढ़ हो जाता है, कहीं समाप्त नहीं होता। वह व्यक्ति परमार्थ की दिशा में गति करता है, जिसका अनुबंध कुशल है। जो कर्म व्यक्ति को भोग में नहीं डालता, त्याग और संयम की ओर ले जाता है, जन्म-मरण के आवर्त में फंसाता नहीं है, वह कुशलानुबंध कर्म होता है।

हमारी दुनिया में नाना प्रकार के लोग हैं। सब एक चिंतन और एक विचार के नहीं हैं। आचार्य ने अपनी दृष्टि से उनका वर्गीकरण करते हुए पांच प्रकार के मनुष्य बतलाए हैं–१. अधमतम २. अधम ३. विमध्यम ४. मध्यम ५. उत्तम।

कर्माहितमिह चामुत्र, चाधमतमो नरः समारभते।
इहफलमेव त्वधमो विमध्यमस्तूभयफलार्थम्॥
परलोकहितायैव प्रवर्तते मध्यमः क्रियासु सदा।
मोक्षायैव तु घटते, विशिष्टमतिरुत्तम पुरुषः॥

अधमतम

एक व्यक्ति ऐसा कर्म करता है, जिससे वर्तमान के जीवन में अहित होता है और भविष्य के जीवन में भी अहित होता है। ऐसा कर्म करने वाला अधमतम होता है। क्या ऐसा कोई हो सकता है, जो वर्तमान जीवन को भी बिगाड़े? दुनिया विचित्र है। यहां सब प्रकार के लोग हैं। क्या इस दुनिया में आत्महत्या करने वालों की कमी है?

आत्महत्या करने वाला वर्तमान का भी अहित करता है और आगामी जन्म का भी अहित करता है। वह इस प्रकार का आचरण, कर्म और प्रवृत्तियां करता है, जो दोनों जन्मों को बिगाड़ने वाली या दोनों जन्मों की दुश्मन होती हैं। ऐसा व्यक्ति अधमतम होता है, निकृष्टतम होता है। प्रतिवर्ष हजारों-हजारों आत्महत्याएं एक देश में हो जाती हैं। आज के जो विकसित राष्ट्र हैं, उनमें तलाक और आत्महत्या–ये दोनों आम बातें हो चुकी हैं। पूछा जाए–विकसित राष्ट्र कौन? इसका उत्तर यह हो सकता है, जहां आत्महत्याएं और तलाक अधिकतम होते हों, वह विकसित राष्ट्र है। ऐसा हो रहा है, किंतु क्यों हो रहा है? इसलिए कि आर्यकर्म को समझा नहीं गया, कुशलानुबंध कर्म को समझा नहीं गया। केवल अनार्यकर्म और अकुशलानुबंध या पापानुबंध के कर्म को ही समझा गया।

अधम व्यक्ति केवल वर्तमान जीवन की चिंता करता है। इस कोटि में उन लोगों को समाविष्ट किया जा सकता है, जो परलोक में विश्वास नहीं करते। ऐसे लोग इस भाषा में सोचते हैं कि किसने देखा है परलोक? खाओ-पीओ, मौज करो। चार्वाक दर्शन को इसी रूप में प्रस्थापित किया गया। चार्वाक की ऐसी अवधारणा थी या नहीं, किंतु उनके दर्शन को जिन लोगों ने प्रस्थापित किया, उन लोगों ने यह धारणा अवश्य फैला दी कि जब तक जीओ, मौज-मस्ती से जीओ, आनंद से जीओ, न कहीं आना है, न कहीं जाना है, इसलिए वर्तमान जीवन में जो मिला है, उसका अधिकाधिक भोग कर लें, समस्त सुखों को अर्जित कर लें। आगे की चिंता करने की कोई जरूरत नहीं है। इस प्रकार का चिंतन करने वाले लोग अधम कोटि के मनुष्य कहलाते हैं, क्योंकि उनका चिंतन केवल वर्तमान जीवन तक सीमित हो जाता है। वे भविष्य को बिल्कुल नकार देते हैं। इसका एक हेतु इन्द्रियों की चंचलता है, आसक्ति या लोलुपता है। इन्द्रियां तृप्त होना चाहती हैं, किंतु तृप्त कभी नहीं होतीं। तृप्त होना इन्द्रिय का स्वभाव ही नहीं है। जैसे-जैसे तृप्ति का प्रयत्न होता है, वैसे-वैसे अतृप्ति और बढ़ती जाती है। तृप्ति की चाह बराबर बनी रहती है। उस अतृप्ति की चाह से ही कुछ इस प्रकार के सिद्धांत बन जाते हैं, प्रवंचनाएं खड़ी हो जाती हैं। जीवन में बहुत सारी प्रवंचनाएं इस इन्द्रियलोलुपता के कारण ही होती हैं।

साक्षी परमात्मा की

एक व्यक्ति ने बिल्ली पाली। उस बिल्ली से उसे बहुत प्यार था। कुछ दिन तक तो बिल्ली ठीक रही, किंतु आखिर आदत कहां जाए? जब भी मौका मिलता, दूध-दही चट कर जाती। घर वालों के लिए समस्या हो गई। दूध-दही मिलना मुश्किल हो गया। सोचा–क्या करें? अत्यधिक लगाव के कारण उसे घर से निकाल भी नहीं सकते थे। एक दिन उनके नगर में साधु आए। सबने सोचा–भाग्य से संन्यासी पधारे हैं, चलो दर्शन करें, प्रवचन सुनें। संन्यासी ने अपने प्रवचन में कहा–'चोरी करना बहुत बड़ा पाप है। छल करना, लुक-छिप कर कुछ खा जाना, किसी की चीज उठा लेना अपराध है।'

प्रवचन से सब बहुत प्रभावित हुए। बिल्ली ने भी सुना। उसका मन भी कुछ बदला। उसने भी संकल्प कर लिया–अब दूध-दही खाऊंगी तो छिप कर नहीं खाऊंगी, सबके सामने दूध की कटोरी साफ करूंगी। दूसरे दिन लोग किसी काम में लगे हुए थे। दूध सामने पड़ा था, किंतु संकल्प था कि छिप

कर नहीं, सबके सामने पीऊंगी। भूख से उसका बुरा हाल था। अब एक ओर इन्द्रियलोलुपता का दबाव, दूसरी ओर कृत संकल्प का अवरोध। दोनों के बीच अंतर्द्वंद्व छिड़ गया। आखिर इन्द्रिय चेतना बलवान हो गई। बिल्ली दूध के पास चली गई। दूध पीने की तैयारी की। मन में फिर विकल्प जगा–संकल्प को तोड़ूं या न तोड़ूं। इतने में एक उपाय सूझा। आकाश की ओर मुंह करके बोली–'हे परमात्मा! तुम सबको देख रहे हो और मैं तुम्हारी साक्षी से यह दूध पी रही हूं।'

यह क्यों होता है? जहां इन्द्रिय चेतना प्रबल बनती है, इन्द्रियों की लोलुपता बढ़ती है, वहां छलना, प्रवंचना, माया–ये सब बढ़ जाते हैं। बिल्ली में ही नहीं, आदमी में भी बढ़ जाते हैं, हर प्राणी में बढ़ जाते हैं। अधम पुरुष केवल वर्तमान जीवन तक अपनी चेतना को सीमित कर देता है। उसमें इन्द्रिय-आसक्ति बढ़ जाती है। इन्द्रिय की आसक्ति को कम करने का सूत्र है परलोक-दर्शन। भविष्य के जन्म का दर्शन स्पष्ट हो जाए तो इन्द्रिय की लोलुपता पर नियंत्रण होता है। परलोक में क्या होगा? दूसरे जन्म में क्या होगा? अगला जन्म कैसे होगा? किस गति में मिलेगा? ये प्रश्न सामने आते ही व्यक्ति की लोलुपता नियंत्रित होने लगती है। जहां यह सारा चिंतन ही नहीं है, वहां इन्द्रिय संयम की कोई आवश्यकता ही महसूस नहीं होती। उस पर कोई नियंत्रण नहीं होता। इन्द्रियासक्ति की प्रेरणा से होने वाला यह कर्म अधम कोटि का कर्म होता है।

विमध्यम

विमध्यम व्यक्ति वह है, जो अहित नहीं करना चाहता। वह इहलोक का भी काम करना चाहता है और परलोक के लिए भी कुछ करना चाहता है। दोनों ओर से वह फल की आकांक्षा करता है, अहित की आशा नहीं करता। इहलोक में चाहता है कि मैं ऐसा व्यापार करूं, उद्योग करूं, जिससे मुझे लाभ मिले और जीवन सुखी बने। परलोक के लिए भी वह सोचता है कि मुझे ऐसा करना चाहिए। इतना दान कर दूं तो परलोक सुधर जाएगा। अमुक अनुष्ठान करूं तो परलोक सुधर जाएगा। दोनों लोकों की चिंता करता है, किंतु कुशलानुबंध नहीं करता। किसी ने कहा–बलि चढ़ा दो, तुम्हें स्वर्ग मिल जाएगा। यज्ञ करा दो, स्वर्ग मिल जाएगा तो हिंसा में भी प्रवृत्त हो जाएगा, अकुशल कार्य में भी प्रवृत्त हो जाएगा। कभी-कभी लोग ऐसे ही उद्देश्य के लिए मनुष्य की बलि भी चढ़ा देते हैं। वह अकुशलानुबंध करता है, किंतु दोनों दृष्टियों से सोचता अवश्य है। ऐसे व्यक्ति को विमध्यम कोटि का व्यक्ति माना गया है।

मध्यम

मध्यम कोटि का व्यक्ति वह है, जो केवल परलोक की चिंता करता है। ऐसा व्यक्ति वर्तमान जीवन की उपेक्षा कर देता है। वह इस सचाई को भुला देता है कि वर्तमान जीवन को अच्छा बनाए बिना परलोक अच्छा कैसे होगा? परलोक का हित वर्तमान के हित से जुड़ा है। जहां अधम व्यक्ति केवल वर्तमान की चिंता करता है वहां मध्यम व्यक्ति केवल परलोक सुधारना चाहता है। परलोक सुधारने के लिए वह ऐसे कर्म कर लेता है, जिनका अनुबंध कुशल नहीं है। केवल वर्तमान की चिंता और केवल परलोक की चिंता–दोनों ही अधूरे हैं। मध्यम व्यक्ति का दृष्टिकोण इसीलिए समीचीन नहीं है कि वह वर्तमान की सर्वथा उपेक्षा कर देता है। परलोक-दर्शन भी आवश्यक है, किंतु उससे वर्तमान का हित भी निष्पन्न होना चाहिए।

उत्तम पुरुष वह होता है, जो वर्तमान जीवन को भी हितकर बनाना चाहता है और भावी जीवन को भी हितकर बनाना चाहता है। वह चाहता है–दोनों जन्म सुधरें। दोनों जन्मों के साथ मित्रता सधे। बहुत कम लोग अपने वर्तमान जीवन के साथ मित्रता स्थापित करना जानते हैं। इस जन्म को, इस मानवीय जीवन को व्यक्ति स्वयं अपने लिए शत्रु बना लेता है। बहुत खाता है, बीमारी पैदा हो जाती है। क्या ऐसा करके वह वर्तमान जीवन को शत्रु नहीं बना रहा है? बहुत टी.वी. देखता है, आंखों की ज्योति कम हो जाती है, क्या इस तरह वह अपने जीवन को अपना शत्रु नहीं बना रहा है? अगर जीवन के साथ मैत्री होगी तो ऐसा कार्य वह कभी नहीं करेगा। जहां वह मैत्री करेगा, हित की चिंता भी करेगा। वह सोचेगा कि मेरा हित किस बात में है। वह हित की चिंता के साथ चलेगा।

आर्य कर्म : अनार्य कर्म

जो वर्तमान जीवन को अहित में डाल देता है, वह कर्म अनार्यकर्म है। आर्यकर्म वह होता है, जो वर्तमान के हित की भी चिंता करता है, वर्तमान के जीवन में भी संयम करता है और भावी जीवन की भी चिंता करता है। जो व्यक्ति संयम करना नहीं जानता, वह कभी भी जीवन को अच्छा नहीं रख सकता। जो व्यक्ति असंयम के साथ जीता है, वह जानबूझकर अनेक व्याधियों और आधियों को आमंत्रित कर लेता है। आज पूरे संसार में मानसिक और भावात्मक तनाव भयंकर बीमारी के रूप में फैला हुआ है। यह तनाव कोई ऊपर

से बरसता नहीं है। हमारे स्वयं के बुलावे पर आया है। मनुष्य इसे बुलाता है, क्योंकि वह आर्यकर्म करना नहीं जानता।

शांति के नाम पर

एक विदेशी आदमी किसी कंपनी के मालिक के पास गया और बोला–'मैं तुम्हारी कंपनी के अधिकारियों और कर्मचारियों को मेडिटेशन का प्रयोग कराऊंगा, जिससे उनको शांति मिले, तनाव कम हो और उनकी कार्यक्षमता बढ़ जाए।'

मालिक ने उसे प्रयोग के लिए नियुक्त कर दिया। उनमें एक व्यक्ति प्रेक्षाध्यान को जानता था। उसका नंबर आया। उसने पूछा–'आप क्या प्रयोग कराएंगे?'

'मैं तुम्हें एक मंत्र दूंगा, उसका तुम्हें जप करना है, पर एक शर्त है कि किसी को यह मंत्र बताना नहीं है। यहां तक कि तुम इसे अपनी पत्नी को भी नहीं बता सकोगे।'

उसने कहा–'ठीक है आप दीजिए मंत्र।'

'सी. अम्मा, सी. अम्मा, सी. अम्मा–का जाप करो।'

'इसका अर्थ क्या है?'

'वह बाद में जानोगे, पहले यह करो, तुम्हें इससे बड़ी शांति मिलेगी।'

प्रेक्षासाधक ने संपूर्ण घटनाक्रम बताते हुए कहा–'महाराज! आज इस प्रकार लोगों को मूर्ख बनाया जा रहा है, उन्हें ठगा जा रहा है, धोखा दिया जा रहा है। आदमी को शांति चाहिए। तनाव को कम करने के लिए लोग भारी से भारी धनराशि व्यय करने को तत्पर हैं, किंतु इस प्रकार के पाखंडों में उलझ कर आर्थिक हानि भी उठाते हैं और शांति से भी वंचित रहते हैं। जीवन अधिक उलझन भरा बन जाता है।'

आदमी तनाव को मिटाना चाहता है, किंतु तनाव आता कहां से है? तनाव आता है असद् कार्यों से। जितनी-जितनी इन्द्रियों की लोलुपता बढ़ती है, उतना-उतना तनाव भी बढ़ता है। यदि इन्द्रिय-चेतना का संयम हो जाए तो तनाव का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होगा।

कार्य की कसौटी

उत्तम पुरुष आर्यकर्म करता है, निरवद्य और निर्दोष कर्म करता है। कषाय हमारे दोष हैं। शरीर के तीन दोष माने गए हैं–वात, पित्त और कफ। गीता

अथवा वैदिक साहित्य में मन के तीन गुण या दोष माने गए हैं–सत्त्व, रजस् और तमस्। हम जैन दृष्टि से विचार करें तो दोष हैं कषाय–अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ। इन दोषों का स्वभाव है, आरंभ में प्रवृत्त करना। बहुत लोग कहते हैं–'मैं यह काम करना नहीं चाहता, पर पता नहीं कैसे हो जाता है।' यह द्वंद्व क्यों? आदमी करना चाहे और हो जाए तो ठीक बात है।

भोजन करना चाहा और भोजन हो गया, यह बात तो ठीक है, पर भोजन करना नहीं चाहता था, फिर भी भोजन कर लिया, यह विरोधाभास है। दूसरे की वस्तु को उठाना नहीं चाहता था, पर उठा लिया, यह क्यों होता है? यह आरंभ में प्रवृत्ति क्यों होती है? हिंसा करना नहीं चाहता था, पर हो गई। झूठ बोलना, चोरी करना तो नहीं चाहता था, पर हो गई, ऐसा क्यों होता है?

कषाय आरंभ में प्रवृत्ति कराते हैं, हिंसा, झूठ, चोरी आदि में आदमी को प्रवृत्त करते हैं, अशुभ अनुष्ठान में आदमी को ले जाते हैं। केन्द्रीय तत्त्व है दोष। अनार्यकर्म का सबसे बड़ा प्रेरक तत्त्व है–दोष, कषाय। आर्यकर्म का प्रेरक तत्त्व है–कषाय की मंदता। जिसका कषाय शांत है, उसकी इन्द्रियां उपशांत होगी। उसके सामने कितनी ही बढ़िया चीज रखो, हाथ नहीं उठाएगा। यदि कषाय प्रबल है तो हाथ ही क्या, सारा शरीर उठ जाएगा। इतना ज्यादा परिवर्तन होता है, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। हमारे कार्य का कारण या कसौटी है कषाय या उसकी मंदता।

भगवान महावीर ने हिंसा को अनार्यकर्म कहा। हिंसा का प्रवचन करने वाले वचन को भी अनार्य वचन कहा। अनार्यकर्म की परिभाषा की जा सकती है–कषाय की तीव्रता जिस आचरण के साथ है, वह अनार्यकर्म है। जिस आचरण के साथ कषाय की तीव्रता नहीं है, कषाय की मंदता है, वह है आर्यकर्म। आर्य और अनार्य का संबंध जाति के साथ भी रहा है। जाति को भी बांटा गया है आर्य जाति और अनार्य जाति, किंतु यहां गुणों के साथ बांटा गया, किसी जाति के साथ संबंध नहीं है। एक कसौटी बन गई–कषाय की मंदता में जो आचरण होता है, वह प्रवृत्ति है आर्य कर्म और कषाय की प्रबलता में जो कर्म होता है, वह अनार्यकर्म है। उत्तम पुरुष वह होता है, जो आर्यकर्म करता है, अनार्यकर्म नहीं। जो व्यक्ति वर्तमान जीवन को भी अच्छा बनाता है और भावी जीवन को भी अच्छा बनाता है, वह उत्तम पुरुष है।

नियामक है परलोक-दर्शन

बहुत महत्त्वपूर्ण है दोनों लोकों की दृष्टि से सोचना। केवल वर्तमान जीवन अच्छा बने, इस पर ही सोचना पर्याप्त नहीं है। यह ठीक है कि वर्तमान जीवन अच्छा होगा तो भावी जीवन अपने आप अच्छा हो जाएगा, किंतु वर्तमान जीवन अच्छा कब बन सकता है? वह तब बनता है, जब भावी जीवन का दर्शन सामने हो। एक पायलट वायुयान को उड़ा रहा है, ड्राइवर बस या कार को चला रहा है, एक कुशल नाविक नौका को खे रहा है, वह अच्छा तब कहलाएगा, जब उसके सामने यह दर्शन रहे कि कुशलक्षेम के साथ मंजिल पर पहुंच जाना और अपने यात्रियों को भी सकुशल गंतव्य तक पहुंचा देना। यह स्थिति सामने है तो वह कुशलता से अपने वाहन को चलाएगा। यदि लापरवाह है तो शराब के नशे में चलाएगा, नींद के झोंके में चलाएगा, स्वयं मरेगा और साथ के सभी लोगों को भी मारेगा।

हमारे सामने एक लक्ष्य है। उसकी एक नियामकता है परलोक का दर्शन। भावी जीवन की चिंता एक नियामकता है। मेरा अगला जीवन बिगड़े नहीं, भावी जीवन अच्छा बने, जिसमें यह चिंतन प्रस्फुटित हो गया, वह वर्तमान जीवन को कभी नहीं बिगाड़ पाएगा। वर्तमान जीवन ही भावी जीवन का निर्माता है। यदि वर्तमान जीवन को बिगाड़ दिया तो भावी जीवन अच्छा नहीं बनेगा, इसलिए आचरण का एक नियामक तत्त्व बनता है परलोक-दर्शन। हमारा आचरण वर्तमान का होता है और निर्जरा भी वर्तमान काल में ही होती है। जितना भी धर्म है, सब वर्तमान क्षण में होता है। यह कभी नहीं होता कि मैं आज करूं और धर्म दस दिन बाद हो। यह वर्तमान का अनुभव है और वर्तमान में होगा, किंतु उसका लाभ और फल भविष्य में मिलेगा, इसलिए वर्तमान जीवन पर ध्यान केन्द्रित करें और भावी जीवन को उसका नियामक तत्त्व बनाएं। जिसमें यह दृष्टि जाग जाती है, वह उत्तम पुरुष है।

विकास का सूत्र

आर्यकर्म कैसे हो? इस दृष्टि को जागृत करने के लिए अभ्यास की जरूरत है, प्रयत्न की जरूरत है। सबको सम्यक्दृष्टि अनायास नहीं मिलती। कोई-कोई जीव ऐसा होता है, जिसके कर्म बहुत घिस जाते हैं। जैसे पत्थर ठोकर खाते-खाते घिस जाता है या नदी में प्रवाहित होते-होते चिकना बन जाता है। वैसा कोई होता है तो अपने आप निसर्ग से, वह चेतना जाग जाती है,

किंतु सबमें ऐसा नहीं होता। ऐसा अभ्यास और प्रयत्न से ही संभव है। अभ्यास करने का सूत्र हाथ में आ जाए तो चंचलता भी कम होनी शुरू हो जाएगी। जो व्यक्ति अभ्यास को परिपक्व करेगा, बढ़ाएगा, निश्चित है, उसकी चंचलता कम हो जाएगी। अभ्यास को नहीं बढ़ाएगा तो चंचलता कम नहीं होगी।

विकास का सूत्र है अभ्यास। सम्यक् दर्शन भी दो प्रकार का होता है–तन्निसर्गाद् अधिगमाद् वा। किसी को निसर्ग से मिल जाता है, किंतु अधिकांश लोगों को अधिगम से मिलता है, अभ्यास से मिलता है। आचरण भी दो प्रकार का होता है–अभ्यासजन्य और निसर्गज। जैसे-जैसे हमारा अभ्यास बढ़ता है, वैसे-वैसे दृष्टि भी साफ होती जाती है, दोष भी मंद होता जाता है, हमारा चिंतन उभयलोकव्यापी होता जाता है।

वर्तमान जीवन को अच्छा करना और भावी जीवन को भी अच्छा करना–यह है आर्यकर्म। इस आर्यकर्म की प्रेरणा जागे और हर व्यक्ति यह प्रयत्न करे कि मुझे अधमतम चिंतन में नहीं जाना है, अधम कोटि के चिंतन में भी नहीं जाना है, विमध्यम और मध्यम कोटि के चिंतन में भी नहीं जाना है, उत्तम पुरुष बनना है। इतना लक्ष्य बन जाए तो साधना की बहुत बड़ी सफलता है, अभ्यास की बहुत बड़ी सार्थकता है।

१४. अतीत से बंधा वर्तमान

कर्म-सिद्धांत में यह प्रतिपादित है और कर्मवाद को मानने वाला व्यक्ति इस धारणा से बद्ध हो जाता है कि मनुष्य का पूरा व्यक्तित्व, उसका पूरा वर्तमान अतीत से बंधा हुआ है। अतीत की जकड़ और पकड़ को छोड़ने में वह समर्थ नहीं है। यह धारणा अकारण नहीं है। जब हम अपने जीवन के सभी पक्षों पर दृष्टिपात करते हैं और उन पक्षों को जिस भाषा और उदाहरण के द्वारा हमें समझाया गया है, उस परिप्रेक्ष्य में यह धारणा सहज ही बन जाती है।

जीवन के दो महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं ज्ञान और दर्शन। ये दोनों आवृत हैं। ज्ञान भी आवरण से मुक्त नहीं है और दर्शन भी आवरण से मुक्त नहीं है। कांच के दृष्टांत से इसे समझाया गया है कि कांच में प्रत्येक व्यक्ति अपना प्रतिबिंब देख सकता है। जब कांच पर पर्दा डाल दिया जाता है तो प्रतिबिंब दिखाई नहीं देता। जब कांच अंधा हो जाता है, तब भी उसमें प्रतिबिंब नहीं पड़ता। जब कांच हिलता-डुलता रहता है, तब भी प्रतिबिंब स्पष्ट नहीं होता।ज्ञान की असीम शक्ति है। वह आवृत है। इससे ही सहज यह धारणा बनती है कि हमारा ज्ञान स्वतंत्र नहीं है। हम स्वतंत्र नहीं हैं। हमारी चेतना निरवकाश निरावरण नहीं है। उसके अवकाश प्रकाश पर पर्दा है, बाधा है।

हमारी दर्शन की शक्ति भी स्वतंत्र नहीं है। इसे उदाहरण से इस प्रकार समझाया गया कि एक व्यक्ति राजदरबार में राजा से भेंट करना चाहता था। वह राजद्वार पर आया और सीधा भीतर जाने लगा। द्वारपाल ने उसे रोक दिया। इसी प्रकार हमारे दर्शन को भी एक द्वारपाल रोके हुए है। दर्शन की शक्ति अवरुद्ध है। इस प्रकार हमारा ज्ञान और दर्शन–दोनों आवृत हैं, अवरुद्ध हैं। हमारी दृष्टि और चारित्र भी मुक्त नहीं है। मोह-मूर्च्छा के द्वारा दृष्टि में विकार पैदा हो गया है। यह है दृष्टि का विपर्यय, इसलिए व्यक्ति ठीक देख नहीं पाता, ठीक निर्णय नहीं ले पाता। दृष्टि भी विकृत और चारित्र भी विकृत। मोह-

मूर्च्छा के मीठे या जहरीले परमाणुओं के द्वारा ऐसा कोई विकार पैदा हो गया है, भोजन में मानो ऐसा कोई विष घुल गया है कि सारा शरीर ऐंठता जा रहा है। आज मनुष्य मूर्च्छा की स्थिति में जी रहा है। एक आदमी ने छककर शराब पी ली। वह भान भूल बैठा। अब वह न सही निर्णय ही ले सकता है और न सही ढंग से देख ही सकता है। न दृष्टि सही है, न चारित्र सही है और न व्यवहार सही है। सारा उलटा ही उलटा है। आठ कर्मों में एक कर्म मोहनीय कर्म मदिरा की भांति हर व्यक्ति को मूर्च्छित बनाए हुए है। इस दुनिया में मदिरा पीने वाले लोग हैं तो मदिरा नहीं पीने वाले लोग भी हैं, किंतु इस मोह की मदिरा को न पीने वाला मिलना दुष्कर है। हर आदमी इस मूर्च्छा से मूर्च्छित है। चेतना प्रमत्त है, अप्रमत्त नहीं है।

तलवार का दृष्टांत

जीवन के दो अभिन्न साथी हैं सुख और दुःख। कभी सुख होता है तो कभी दुःख। यह युगल है। ये दोनों कभी अलग-अलग नहीं होते। दिन के बाद रात और रात के बाद दिन। सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख। यह चक्र निरंतर चलता रहता है। कभी कहीं रुकता नहीं। सुख-दुःख भी कर्म से जुड़े हुए हैं। एक कर्म इस स्थिति को पैदा किए हुए है। इसे उदाहरण की भाषा में समझाया गया है। एक तीक्ष्ण धारवाली तलवार है। उस पर मधु का लेप है। आदमी उस मधु को खाना चाहता है। वह जीभ से मधु को चाटता है, पर उस प्रक्रिया में उसकी जीभ कटे बिना नहीं रहती। मधु के मिठास का स्वाद और जीभ का कटना दोनों साथ-साथ होते हैं। यह है वेदनीय कर्म। यह कर्म सुख और दुःख दोनों का घटक है। सुख के बहाने आदमी दुःख भोग रहा है। सुख की मिठास इतनी प्रबल है कि वह उसकी आकांक्षा को रोक नहीं पाता और वह सुख की लालसा में उस शहद की बूंद को पाना चाहता है। 'मधुबिंदु' का दृष्टांत इसका स्पष्ट निदर्शन है। आदमी एक-एक बूंद मधु के लिए तरस रहा है। उसके साथ न जाने दुःखों का कितना अंबार लगा हुआ है। इसीलिए अध्यात्म के आचार्यों ने कहा कि जो सुख भोगा जा रहा है, वह सुख नहीं, वस्तुतः दुःख है, क्योंकि वह दुःख को जन्म देता है। सारा दुःख उसी के द्वारा पैदा किया जा रहा है, इसलिए सुख वास्तव में सुख नहीं है। दुःख ही है। सुख और दुःख दोनों कर्म से जुड़े हुए हैं।

बेड़ी है आयुष्य-

जन्म और मृत्यु का एक युगल है। यह भी कर्म से जुड़ा हुआ है। आदमी अपने ही कर्म से जन्म लेता है और अपने ही कर्म से मरता है। कर्म के अभाव में न जन्म है और न मृत्यु। दोनों कर्म से परतंत्र हैं। एक बंदी है, उसके पैरों में बेड़ी डाल दी। वह बंदी तो है ही। पैरों में बेड़ी और पड़ गई, अब वह सर्वथा परतंत्र हो गया। जन्म और मृत्यु दोनों आयुष्य कर्म से बंधे हुए हैं। आदमी इस शरीर को अपना अस्तित्व मान रहा है। इस शरीर के आधार पर आदमी क्या-क्या नहीं करता। इस शरीर के आधार पर कितनी मूर्च्छाएं हो रही हैं, कितनी विडंबनाएं हो रही हैं। इसी शरीर के कारण स्वभाव विस्मृत हो रहा है, विभाव उभरकर आ रहा है।

चित्रकार का दृष्टांत

यह शरीर भी हमारी स्वतंत्र सृष्टि नहीं है। यह भी कर्म से बंधा हुआ है। इसका घटक है नामकर्म। अद्‌भुत चितेरा है यह। शरीर की रचना आश्चर्यकारी है। इस दुनिया में मनुष्य ने अनेक आश्चर्यकारी कार्य किए हैं, किंतु शरीर-रचना के संदर्भ में आदमी आज भी बौना है। शरीर एक अद्‌भुत कारखाना है। दुनिया का कोई भी संयंत्र शरीर-यंत्र की तुलना नहीं कर सकता। एक भी संयंत्र ऐसा नहीं है जो मनुष्य की कोशिकाओं का निर्माण कर सके, मनुष्य के मस्तिष्क का निर्माण कर सके। आज इतने वैज्ञानिक निर्माण-कार्य में लगे हुए हैं। टेस्ट ट्यूब में प्राणी को वे जन्म देने में सफल हुए हैं। वे कृत्रिम वर्षा भी करते हैं, परंतु प्राकृतिक वर्षा होती है, मेंढक टर्राने लग जाते हैं। घंटे-भर में हजारों प्राणी अस्तित्व में आ जाते हैं।

आदमी ऐसा नहीं कर सकता। वह आज भी दरिद्र है अपने कर्तृत्व में। कहां है उसमें इतनी शक्ति और क्षमता! नामकर्म इतना शक्तिशाली है कि उसने इस शरीर का निर्माण किया है, जिसके विषय में कल्पना करना कठिन है और जानना अत्यंत कठिन है। आज तक नामकर्म की निर्मिति इस शरीर के रहस्यों को आदमी नहीं जान सका है। हजारों-हजारों रहस्य जान लेने पर भी, उससे अधिक रहस्य अनजाने पड़े हैं। आज भी खरबों-खरबों कोशिकाओं, क्रोमोसोम, जीन आदि-आदि के विषय में हजारों वैज्ञानिक उलझे हुए हैं। वे शरीर की रचना के विषय में अस्पष्ट हैं। वे अभी तक शरीर के एक अवयव मस्तिष्क की भी पूरी जानकारी नहीं कर पाए हैं। हजारों वैज्ञानिक मस्तिष्क की

प्रक्रिया के अध्ययन और खोज में लगे हुए हैं। नए-नए तथ्य सामने आ रहे हैं, पर इस एक छोटे-से मस्तिष्क के पूरे रहस्य अभी तक पकड़ में नहीं आ रहे हैं। इतना अद्‌भुत है यह शरीर। यह नामकर्म से बना है। नामकर्म के कुशल कारीगर ने इसे बनाया है। हमारा शरीर और शरीर की रचना नामकर्म से जुड़ी है।

कुंभकार है कौन?

जीवन के दो पक्ष और हैं। एक है आभिजात्य पक्ष और दूसरा है अनाभिजात्य-पक्ष। एक आदमी आभिजात कहलाता है, ऊंचा और श्रेष्ठ कहलाता है। दूसरा आदमी अनाभिजात कहलाता है, ऊंचा और श्रेष्ठ नहीं कहलाता। वह हीन कहलाता है। लोगों की दृष्टि में उसका आदर-सम्मान नहीं होता। एक आदरणीय और दूसरा अनादरणीय। ये दोनों पक्ष पूरे समाज में मिलेंगे। इसको जाति से नहीं जोड़ना चाहिए। यह जाति नहीं, किंतु व्यक्तिगत प्रश्न है। लोगों की दृष्टि में सम्माननीय होना या असम्माननीय होना, दोनों कर्म से जुड़े हुए हैं। गोत्रकर्म इसका घटक है। इसको कुंभकार से उपमित किया गया है। कुंभकार एक घड़ा ऐसा बनाता है कि वह बहुमूल्य हो जाता है और एक घड़ा ऐसा बनाता है कि कोई उसे खरीदना नहीं चाहता। वह गोत्र नाम का कुंभकार इस सारी स्थिति का निर्माण कर रहा है।

कोषाध्यक्ष का दृष्टांत

हमारे जीवन की सबसे बड़ी विशेषता है शक्ति। यह भी कर्म से जुड़ी हुई है। इसे इस प्रकार समझाया गया है कि एक आदमी राजदरबार में गया और राजा की विरुदावली गाई। राजा ने प्रसन्न होकर उसे एक लाख रुपयों का पुरस्कार देने की बात कही। वह प्रसन्न हुआ और एक लाख रुपयों का रुक्का लिखाकर कोषाध्यक्ष के पास पहुंचा। कोषाध्यक्ष ने राजाज्ञा देखी, पर कहा—आज तो पारितोषिक मिला ही है, दो-चार दिन बाद रुपये मिल जाएंगे। अब यह व्यक्ति प्रतिदिन कोषाध्यक्ष के पास जाता है, पर मुंह लटकाए लौट आता है। कोषाध्यक्ष उसे टालता जाता है। यह कोषाध्यक्ष है अंतराय कर्म। यह बाधा उपस्थित करता है। शक्ति को कार्य में व्यापृत नहीं होने देता। दिनों, महीनों और वर्षों तक व्यवधान बना रहता है और कार्य होता नहीं।

हमारे जीवन के सारे महत्त्वपूर्ण पक्ष कर्म के साथ जुड़े हुए हैं। इन सबका फलित होता है—अतीत से बंधा वर्तमान। हमारा वर्तमान अतीत से बंधा हुआ है। आदमी कहां है स्वतंत्र! वह न ज्ञानार्जन करने में स्वतंत्र है, न सही दृष्टिकोण

करने में स्वतंत्र है, न चरित्र का विकास और शक्ति का उपयोग करने में स्वतंत्र है। वह न इस शरीर और शरीर के साथ उत्पन्न होने वाली स्थितियों से निपटने में स्वतंत्र है। वह पकड़ा हुआ, जकड़ा हुआ और बंदी बना हुआ बैठा है।

पुनः यही प्रश्न होता है कि कहां है आदमी स्वतंत्र? किसका उत्तरदायित्व है अपने व्यवहार और आचरण के प्रति? कौन है उत्तरदायी? कर्मवादी दार्शनिक कहेगा–तुम कहां स्वतंत्र और उत्तरदायी हो? स्वतंत्र है कर्म, उत्तरदायी है कर्म। तुम्हारी न कोई स्वतंत्रता है और न उत्तरदायित्व। अब हम पुनः एक बार दृष्टि डालें। कालवादी दार्शनिक सारा बोझ काल पर लाद देता है, स्वभाववादी दार्शनिक सारा भार स्वभाव पर डाल देता है, नियतिवादी दार्शनिक सबकुछ नियति को मानकर मुक्ति पा लेता है। ठीक इसी प्रकार कर्मवादी दार्शनिक सबकुछ कर्म को मानकर अकेला हो जाता है, पीछे खिसक जाता है। बड़ी समस्या, बड़ा आश्चर्य कि काल, स्वभाव, नियति और कर्म–ये सब प्रधान बन गए और चेतनावान मनुष्य गौण हो गया। ये सब आगे आ गए, मनुष्य पीछे चला गया। क्या इस स्थिति को यों ही स्वीकार कर चलें? यदि इस स्थिति को स्वीकार करें तो फिर ध्यान, साधना करने की जरूरत ही क्या है? धर्म-कर्म करने की आवश्यकता ही क्या है? जैसा कर्म और नियति है, वैसा अपने आप ही घटित हो जाएगा। क्या मनुष्य इतना बेचारा, इतना असहाय, विपन्न और दरिद्र है कि वह बाहर के बंधनों से बंधा हुआ चले और अपने अस्तित्व का अनुभव ही न करे। यह बहुत दयनीय स्थिति बन गई। यह स्थिति इसलिए बनी है कि व्यक्ति का दृष्टिकोण और चिंतन एकांगी हो गया। उसने सचाई को पकड़ा, पर एकांगी रूप में पकड़ा। उसको समग्रता से नहीं पकड़ा। जब तक समग्रता की दृष्टि से सत्य को नहीं पकड़ा जाता, तब तक पकड़ में आने वाला सत्य होता ही नहीं। तब तक वास्तविकता हस्तगत नहीं होती।

मस्तिष्क के प्रकार

हमारे दो मस्तिष्क हैं। एक है कंडिशंड माइंड और दूसरा है सुपर माइंड। एक है चेतन मन और दूसरा है अवचेतन मन। मनोविज्ञान की भाषा में दो मस्तिष्क हैं–एनिमल माइंड और ह्यूमन माइंड। ये दो-दो विधाएं हैं। मनुष्य में जो एनिमल माइंड–पाशविक मस्तिष्क है, उसमें आदिकालीन संस्कार भरे पड़े हैं। उनमें क्रोध, घृणा, यौनवासना, ईर्ष्या, ये सारे संस्कार भरे हुए हैं। इन सारे आवेगों का उत्तरदायी है मनुष्य का पशु-मस्तिष्क या एनिमल माइंड, आदिम

मस्तिष्क। दूसरा मस्तिष्क, जो बाद में विकसित हुआ है, उसमें उदात्त भावनाएं भरी हुई हैं।

चेतन मस्तिष्क स्थूल मन है, जो शरीर के साथ काम कर रहा है और यह बुरी भावनाओं का भंडार है। दूसरा है अवचेतन मन जो शक्तियों का भंडार है। कर्मशास्त्र या अध्यात्म की भाषा में कहा जा सकता है–एक है विशुद्ध चेतना वाले मस्तिष्क की वह परत, जो विशुद्ध चेतना का प्रतिनिधित्व करती है और एक है अशुद्ध चेतना की वह परत, जो कषायी चेतना का प्रतिनिधित्व करती है। हमारी चेतना दो रूपों में काम कर रही है। एक है कषाययुक्त चेतना का कार्य और दूसरा है कषायमुक्त चेतना का कार्य। इन्हें हम जैन तत्त्व की पारिभाषिक शब्दावली में कह सकते हैं–एक है क्षायोपशमिक मस्तिष्क और दूसरा है औदयिक मस्तिष्क। कंडिशंड माइंड को औदयिक मस्तिष्क कहा जा सकता है और सुपर माइंड को क्षायोपशमिक मस्तिष्क कहा जा सकता है। औदयिक मस्तिष्क कर्म के उदय के साथ चलता है, अनेक शर्तों से बंधा चलता है। यह चेतना कषाय से बंधी हुई है, कंडिशंड है। यह स्वतंत्र नहीं है। सुपर माइंड है निर्मल चेतना, क्षायोपशमिक चेतना। यह जागृत अवस्था है। हमारे सामने दोनों मस्तिष्क हैं। एक है औदयिक भाव से बंधी हुई चेतना या मस्तिष्क और दूसरी है क्षायोपशमिक भाव से बंधी हुई चेतना या मस्तिष्क।

१५. अतीत से मुक्त वर्तमान

हम चर्चा करते हैं स्वतंत्रता और परतंत्रता की। कौन स्वतंत्र है और कौन परतंत्र? कौन उत्तरदायी है? इन प्रश्नों का उत्तर एकांत की भाषा में नहीं दिया जा सकता। हम नहीं कह सकते कि हम पूर्ण स्वतंत्र हैं। हम यह भी नहीं कह सकते कि हम पूर्ण परतंत्र हैं। दोनों सापेक्ष हैं। हम स्वतंत्र भी हैं और परतंत्र भी हैं। जहां-जहां निरपेक्ष प्रतिपादन होता है वहां समस्या का समाधान नहीं होता, सत्य उपलब्ध नहीं होता है।

महान वैज्ञानिक आइंस्टाइन ने सापेक्षवाद का प्रतिपादन किया और उसका आधार माना प्रकाश की गति को। उन्होंने प्रकाश की गति को स्टैंडर्ड मानकर अनेक प्रयोग किए। उनके आधार पर जो निर्णय लिए गए, वे सारे सापेक्ष निर्णय हैं, निरपेक्ष नहीं। प्रकाश की गति सापेक्ष निर्णय है। प्रकाश की गति और तीव्र होती तो सारे निर्णय बदल जाते। काल छोटा भी हो जाता है और बड़ा भी हो जाता है। काल सिकुड़ जाता है सापेक्षता से। काल पीछे सरकता है और छलांग भी भरता है। काल का प्रतिक्रमण भी होता है और अतिक्रमण भी होता है। यह सारा सापेक्षता के आधार पर होता है, इसलिए सारे निर्णय सापेक्ष होते हैं। जहां सापेक्षता की विस्मृति होती है, वहां तनाव पैदा होता है।

काल, स्वभाव, नियति, कर्म–ये सारे तत्त्व स्वतंत्रता को सीमित करते हैं, परतंत्रता को बढ़ाते हैं। आदमी काल, स्वभाव, नियति और कर्म से बंधा हुआ है। बंधन के कारण वह पूर्ण स्वतंत्र नहीं है। वह परतंत्र है, पर पूरा परतंत्र भी नहीं है। यदि वह पूरा परतंत्र होता तो उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता। उसका मनुष्यत्व ही समाप्त हो जाता और चेतना का अस्तित्व ही नष्ट हो जाता। चेतना रहती ही नहीं। उसका अपना कुछ रहता ही नहीं। वह कठपुतली बन जाता। कठपुतली पूर्णतः परतंत्र होती है। उसे जैसे नचाया जाता है, वैसे नाचती है। कठपुतली नचाने वाले के इशारे पर चलती है। उसका अपना कोई अस्तित्व

या कर्तृत्व नहीं है, उसकी अपनी चेतना नहीं है। जिसकी अपनी चेतना नहीं होती, वह परतंत्र हो सकता है, पर शत-प्रतिशत परतंत्र तो वह भी नहीं होता।

प्राणी चेतनावान है। उसकी अपनी चेतना है। जहां चेतना का अस्तित्व है, वहां पूरी परतंत्रता की बात नहीं होती। काल, कर्म आदि जितने भी तत्त्व हैं, वे भी सीमित शक्ति वाले हैं। दुनिया में असीम शक्तिसंपन्न कोई नहीं है। सबमें शक्ति है और उस शक्ति की अपनी मर्यादा है। काल, स्वभाव, नियति और कर्म–ये शक्तिसंपन्न हैं, पर इनकी शक्ति अमर्यादित नहीं है। लोगों ने मान रखा है कि कर्म सर्वशक्तिसंपन्न है। सबकुछ उससे ही होता है। यह भ्रांति है, यह टूटनी चाहिए। सबकुछ कर्म से नहीं होता। यदि सबकुछ कर्म से ही होता तो मोक्ष होता ही नहीं। आदमी कभी मुक्त नहीं हो पाता। चेतना का अस्तित्व ही नहीं होता। कर्म की अपनी एक सीमा है। वह उसी सीमा में अपना फल देता है, विपाक देता है। वह शक्ति की मर्यादा में ही काम करता है।

कर्म की शक्ति सापेक्ष है

व्यक्ति अच्छा या बुरा कर्म अर्जित करता है। वह फल देता है, पर कब देता है, उस पर भी बंधन है। उसकी मर्यादा है, सीमा है। मुक्तभाव से वह फल नहीं देता। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव–ये सारी सीमाएं हैं। प्रत्येक कर्म का विपाक होता है। माना जाता है कि दर्शनावरणीय कर्म का विपाक होता है, तब नींद आती है।

मैं आपसे पूछना चाहता हूं, अभी आपको नींद नहीं आ रही है। आप दत्तचित्त होकर पढ़ रहे हैं तो क्या दर्शनावरणीय कर्म का उदय या विपाक समाप्त हो गया? दिन में नींद नहीं आती तो क्या दिन में दर्शनावरणीय कर्म का उदय समाप्त हो गया? रात को सोने का समय है। उस समय नींद आने लगती है, पहले नहीं आती तो क्या दर्शनावरणीय कर्म का उदय समाप्त हो गया?

कर्म विद्यमान है, चालू है, पर विपाक देता है द्रव्य के साथ, काल और क्षेत्र के साथ। एक क्षेत्र में नींद बहुत आती है और दूसरे क्षेत्र में नींद नहीं आती। एक काल में नींद बहुत आती है और दूसरे काल में नींद गायब हो जाती है। क्षेत्र और काल–दोनों निमित्त बनते हैं कर्म के विपाक में। बेचारे नारकीय जीवों को नींद कभी आती ही नहीं। कहां से आएगी? वे इतनी सघन पीड़ा भोगते हैं कि नींद हराम हो जाती है। तो क्या यह मान लें कि नारकीय जीवों में दर्शनावरणीय कर्म समाप्त हो गया? नहीं, उनमें दर्शनावरणीय कर्म का अस्तित्व है, पर क्षेत्र या वेदना का ऐसा प्रभाव है कि नींद आती ही नहीं।

प्रत्येक कर्म द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, जन्म आदि-आदि परिस्थितियों के साथ अपना विपाक देता है। ये सारी कर्म की सीमाएं हैं। कर्म सबकुछ नहीं करता। जब व्यक्ति जागरूक होता है, तब किया हुआ कर्म भी टूटता-सा लगता है। कर्म में कितना परिवर्तन होता है, इसको समझना चाहिए। भगवान महावीर ने कर्म का जो दर्शन दिया, उसे सही नहीं समझा गया, कम समझा गया। अन्यथा कर्मवाद के विषय में इतनी गलत मान्यताएं नहीं होतीं। आज भारतीय मानस में कर्मवाद और भाग्यवाद की इतनी भ्रांतिपूर्ण मान्यताएं घर कर गई हैं कि आदमी उन मान्यताओं के कारण बीमारी भी भुगतता है, कठिनाइयां भी भुगतता है और गरीबी भी भुगतता है। गरीब आदमी यही सोचता है कि भाग्य में ऐसा ही लिखा है, अतः ऐसे ही जीना है। बीमार आदमी भी यही सोचता है कि भाग्य में बीमारी का लेख लिखा हुआ है, अतः रुग्णावस्था में ही जीना है। वह हर कार्य में कर्म का बहाना लेता है और दुःख भोगता जाता है। आज उसकी आदत ही बन गई है कि वह प्रत्येक कार्य में बहाना ढूंढ़ता है।

एक न्यायाधीश के सामने एक मामला आया। लड़ने वाले थे पति और पत्नी। पत्नी ने शिकायत की कि मेरे पति ने मेरा हाथ तोड़ डाला। जज ने पति से पूछा–'क्या तुमने हाथ तोड़ा है?' उसने कहा–'हां! मैं शराब पीता हूं। गुस्सा आ गया और मैंने पत्नी का हाथ तोड़ डाला।' जज ने सोचा कि घरेलू मामला है। पति को समझाया, मारपीट न करने की बात कही और केस समाप्त कर दिया।

कुछ दिन बीते। उसी जज के समक्ष वे दोनों पति-पत्नी पुनः उपस्थित हुए। पत्नी ने शिकायत के स्वर में कहा–'इन्होंने मेरा दूसरा हाथ भी तोड़ डाला है।' जज ने पति से पूछा तो उसने अपना अपराध स्वीकार करते हुए कहा कि जज महोदय! मुझे शराब पीने की आदत है। एक दिन मैं शराब पीकर घर आया। मुझे देखते ही पत्नी बोली–'शराबी आ गया।' शराब की भांति मैं उस गाली को भी पी गया। इतने में ही पत्नी फिर बोली–'न्यायाधीश भी निरा मूर्ख है। आज ये कारावास में होते तो मेरा हाथ नहीं टूटता।' जब पत्नी ने यह कहा, तब मैं अपने आपे से बाहर हो गया। मैंने स्वयं का अपमान तो धैर्यपूर्वक सह लिया, पर न्यायाधीश का अपमान नहीं सह सका और मैंने इसका हाथ तोड़ डाला। यह मैंने न्यायाधीश के सम्मान की रक्षा के लिए किया था। मैं अपराधी नहीं हूं।

आदमी को बहाना चाहिए। बहाने के आधार पर वह अपनी कमजोरियां

छिपाता है और इस प्रक्रिया से अनेक समस्याएं खड़ी होती हैं। यदि आदमी साफ होता, बहानेबाजी से मुक्त होता तो समस्याएं इतनी नहीं होतीं।

कर्म और भाग्य का बहाना भी बड़ा बहाना बन गया है। इसके सहारे अनेक समस्याएं उभर रही हैं। इन समस्याओं का परिणाम आदमी को स्वयं भुगतना पड़ रहा है। वह परिणामों को भोगता जा रहा है। जब दृष्टिकोण, मान्यताएं और धारणाएं गलत होती हैं तब उनके परिणामों से उबारने वाला कोई नहीं होता।

सापेक्षता : समवाय की

'सबकुछ कर्म ही करता है'– यह अत्यंत भ्रांत धारणा है। आदमी ने सापेक्षता को विस्मृत कर दिया। सबकुछ कर्म से नहीं होता।काल, स्वभाव, नियति, पुराकृत (हमारा किया हुआ) और पुरुषार्थ–ये पांच तत्त्व हैं। इन्हें समवाय कहा जाता है। ये पांचों सापेक्ष हैं। यदि किसी एक को प्रधानता देंगे तो समस्याएं खड़ी हो जाएंगी। काल प्रकृति का एक तत्त्व है। प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव अपना-अपना होता है। नियति सार्वभौम नियम है, जागतिक नियम है। यह सब पर समान रूप से लागू होता है।

व्यक्ति स्वयं कुछ करता है। मनसा, वाचा, कर्मणा, जाने-अनजाने, स्थूल या सूक्ष्म प्रवृत्ति के द्वारा जो किया जाता है, वह सारा का सारा अंकित होता है। जो पुराकृत-किया गया है, उसका अंकन और प्रतिबिंब होता है। प्रत्येक क्रिया अंकित होती है और उसकी प्रतिक्रिया भी होती है। क्रिया और प्रतिक्रिया का सिद्धांत कर्म की क्रिया और प्रतिक्रिया का सिद्धांत है। करो, उसकी प्रतिक्रिया होगी। गहरे कुएं में बोलेंगे तो उसकी प्रतिध्वनि अवश्य होगी। ध्वनि की प्रतिध्वनि होती है। बिंब का प्रतिबिंब होता है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। यह सिद्धांत है दुनिया का।

प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्ति का परिणाम होता है और उसकी प्रवृत्ति होती है। कर्म अपना किया हुआ होता है। कर्म का कर्ता स्वयं व्यक्ति है और परिणाम उसकी कृति है, यह प्रतिक्रिया के रूप में सामने आती है, इसलिए इसे कहा जाता है पुराकृत। इसका अर्थ है पहले किया हुआ। पांचवां तत्त्व है–पुरुषार्थ। कर्म और पुरुषार्थ–दो नहीं, एक ही हैं। एक ही तत्त्व के दो नाम हैं। इनमें अंतर इतना-सा है कि वर्तमान का पुरुषार्थ 'पुरुषार्थ' कहलाता है और अतीत का पुरुषार्थ 'कर्म' कहलाता है।

कर्म पुरुषार्थ के द्वारा ही किया जाता है, कर्तृत्व के द्वारा ही किया जाता है। आदमी पुरुषार्थ करता है। पुरुषार्थ करने का प्रथम क्षण पुरुषार्थ कहलाता है और उस क्षण के बीत जाने पर वही पुरुषार्थ कर्म नाम से अभिहित होता है। ये पांच तत्त्व हैं। पांचों सापेक्ष हैं। सर्वशक्तिमान एक भी नहीं है। सबकी शक्तियां सीमित हैं, सापेक्ष हैं। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि हम स्वतंत्र भी हैं और परतंत्र भी हैं।

दूसरा प्रश्न है–उत्तरदायी कौन? काल, स्वभाव, नियति और कर्म–ये सब हमें प्रभावित करते हैं, पर चारों उत्तरदायी नहीं हैं। उत्तरदायी है व्यक्ति का अपना पुरुषार्थ, अपना कर्तृत्व। वह अपने किसी भी व्यवहार या आचरण के दायित्व से छूट नहीं सकता। यह बहाना नहीं बनाया जा सकता कि 'योग ऐसा ही था, कर्म था, नियति और स्वभाव था, इसलिए ऐसा घटित हो गया।' ऐसा सोचना या बहाना करना गलत होगा। अपने उत्तरदायित्व को हमें स्वीकार करना होगा। हमें यह कहना होगा कि अपने आचरण और व्यवहार का सारा उत्तरदायित्व हम पर है। 'उत्तरदायी कौन' की मीमांसा में मैंने पहले कहा था कि भिन्न-भिन्न क्षेत्र के व्यक्ति भिन्न-भिन्न तत्त्वों को उत्तरदायी बताते हैं। मनोवैज्ञानिक, रासायनिक, शरीरशास्त्री और कर्मवादी अपने-अपने दर्शन के अनुसार पृथक्-पृथक् तत्त्वों को उत्तरदायी कहते हैं, पर ये सब उत्तर सापेक्ष हैं।

शरीर में उत्पन्न होने वाले रसायन हमें प्रभावित करते हैं, नाड़ी-संस्थान हमें प्रभावित करता है, वातावरण और परिस्थिति हमें प्रभावित करती है। ये सब प्रभावित करने वाले तत्त्व हैं, पर उत्तरदायित्व किसी एक का नहीं है। किसका होगा? ये सब अचेतन हैं। काल अचेतन है, पदार्थ का स्वभाव अचेतन है, नियति और कर्म अचेतन हैं। हमारा ग्रंथितंत्र और नाड़ीतंत्र भी अचेतन है। परिस्थिति और वातावरण भी अचेतन हैं। पूरा का पूरा तंत्र अचेतन है, फिर उत्तरदायित्व कौन स्वीकारेगा? अचेतन कभी उत्तरदायी नहीं हो सकता। उसमें उत्तरदायित्व का बोध नहीं होता। वह दायित्व का निर्वाह भी नहीं करता।

दायित्व का प्रश्न चेतना से जुड़ा हुआ है। चेतना के संदर्भ में ही उस पर मीमांसा की जा सकती है। जहां ज्ञान होता है, वहां उत्तरदायित्व का प्रश्न आता है। जब सब अंधे-ही-अंधे हैं, वहां दायित्व किसका होगा? अंधों के साम्राज्य में दायित्व किसका? सब पागल-ही-पागल हों तो दायित्व कौन

लेगा? पागलों के साम्राज्य में, जो पागल नहीं होता, उसे भी पागल बन जाना पड़ता है। यदि वह पागल नहीं बनता है तो सुख से जी नहीं सकता।

दायित्व की बात केवल चेतना जगत में आती है। जहां चेतना का विवेक और बोध है, वहां दायित्व-निर्वाह की क्षमता है। हमारा पुरुषार्थ चेतना से जुड़ा हुआ है। पुरुषार्थ चेतना से निकलने वाली वे रश्मियां हैं, जिनके साथ दायित्व का बोध और दायित्व का निर्वाह जुड़ा हुआ है। हमारा पुरुषार्थ उत्तरदायी होता है। इसको हम अस्वीकार नहीं कर सकते। हमें अत्यंत ऋजुता के साथ अपने व्यवहार और आचरण का दायित्व ओढ़ लेना चाहिए। उसमें कोई झिझक नहीं होनी चाहिए। जब तक हम अपने आचरण और व्यवहार के उत्तरदायित्व का अनुभव नहीं करेंगे, तब तक उनमें परिष्कार भी नहीं कर सकेंगे।

हमारे समक्ष दो परिस्थितियां हैं–एक है अपरिष्कृत आचरण और व्यवहार तथा दूसरा है परिष्कृत आचरण और व्यवहार। जब तक उत्तरदायित्व का अनुभव नहीं करेंगे, तब तक आचरण और व्यवहार अपरिष्कृत ही रहेगा, अपरिमार्जित और पाशविक ही रहेगा। वह कभी ऊंचा या पवित्र नहीं बनेगा। वह कभी स्वार्थ की मर्यादा से मुक्त नहीं बनेगा।

कर्मवाद : नया प्रस्थान

भगवान महावीर ने कर्मवाद के क्षेत्र में जो सूत्र दिए, मैं दार्शनिक दृष्टि से उन्हें बहुत मूल्यवान मानता हूं। सामान्य आदमी इतना ही जानता है कि आदमी कर्म से बंधा हुआ है, अतीत से बंधा हुआ है। महावीर ने कहा–'किया हुआ कर्म भुगतना पड़ेगा।' यह सामान्य सिद्धांत है। इसके कुछ अपवाद-सूत्र भी हैं। कर्मवाद के प्रसंग में भगवान महावीर ने उदीरणा, संक्रमण, उद्वर्तन और अपवर्तन के सूत्र भी दिए। उन्होंने कहा–'कर्म को बदला जा सकता है, कर्म को तोड़ा जा सकता है, कर्म को पहले भी भोगा जा सकता है, कर्म को बाद में भी भोगा जा सकता है। यदि पुरुषार्थ सक्रिय हो, जागृत हो तो हम जैसा चाहें, वैसे रूप में कर्म को बदल सकते हैं।'

संक्रमण का सिद्धांत कर्मवाद की बहुत बड़ी वैज्ञानिक देन है। मैंने इस पर जैसे-जैसे चिंतन किया, मुझे प्रतीत हुआ कि आधुनिक 'जीव-विज्ञान' की जो नई वैज्ञानिक धारणाएं और मान्यताएं आ रही हैं, वे इसी संक्रमण सिद्धांत की उपजीवी हैं। आज के वैज्ञानिक इस प्रयत्न में लगे हुए हैं कि 'जीन' को यदि बदला जा सके तो पूरी पीढ़ी का कायाकल्प हो सकता है। यदि ऐसी कोई

तकनीक प्राप्त हो जाए, कोई सूत्र हस्तगत हो जाए, जिससे 'जीन' में परिवर्तन लाया जा सके तो अकल्पित क्रांति घटित हो सकती है। यह 'जीन' व्यक्तित्व-निर्माण का घटक तत्त्व है।

संक्रमण : परिवर्तन की प्रक्रिया

संक्रमण का सिद्धांत 'जीन' को बदलने का सिद्धांत है। संक्रमण से 'जीन' को बदला जा सकता है। कर्म-परमाणुओं को बदला जा सकता है। बड़ा आश्चर्य हुआ, जब एक दिन हमने इस सूत्र को समझा। बड़े-बड़े तत्त्वज्ञ मुनि भी इस सिद्धांत को आश्चर्य से देखने लगे। एक घटना याद आती है। मैं अपनी पहली पुस्तक 'जीव-अजीव' लिख रहा था। उस समय हमारे संघ के मुनि रंगलालजी (गण मुक्त) के सामने मेरी पुस्तक का एक अंश आया। उसमें चर्चा थी कि पाप को पुण्य में बदला जा सकता है और पुण्य को पाप में बदला जा सकता है।

मुनि रंगलालजी ने कहा–'यह नहीं हो सकता। इस पर पुनश्चिंतन करना चाहिए।' मैंने सोचा कि आगम के विशेष अध्येता मुनि ऐसा कह रहे हैं, मुझे पुनः सोचना चाहिए। मैंने सोचा, पर मेरे चिंतन में वही बात आ रही थी। मैंने संक्रमण पर और गहराई से चिंतन किया, पर निष्कर्ष वही आ रहा था, जो मैंने लिखा था। मैंने उन मुनि से कहा–'क्या यह संभव नहीं है कि किसी ने पाप कर्म का बंध किया, किंतु बाद में वही व्यक्ति अच्छा पुरुषार्थ करता है तो जो कुफल देने वाला है, वह पुण्य के रूप में नहीं बदल जाएगा? इसी प्रकार एक व्यक्ति ने पुण्य कर्म का बंध किया, किंतु बाद में इतने बुरे कर्म किए, बुरा आचरण और व्यवहार किया, तो क्या वे पुण्य के परमाणु पाप के रूप में नहीं बदल जाएंगे? उन्होंने कहा–'ऐसा तो हो सकता है।' मैंने कहा–'यही तो मैंने लिखा है। यही तो संक्रमण का सिद्धांत है।'

एक कथा के माध्यम से यह बात और स्पष्टता से समझ में आ जाती है–दो भाई थे। एक बार दोनों एक ज्योतिषी के पास गए। बड़े भाई ने अपने भविष्य के बारे में पूछा। ज्योतिषी ने कहा–'तुम्हें कुछ ही दिनों के पश्चात् सूली पर लटकना पड़ेगा। तुम्हें सूली की सजा मिलेगी।' छोटे भाई ने भी अपना भविष्य जानना चाहा। ज्योतिषी बोला–'तुम भाग्यवान हो। तुम्हें कुछ ही समय पश्चात् राज्य मिलेगा, तुम राजा बनोगे।' दोनों आश्चर्यचकित रह गए। कहां राज्य और कहां सूली की सजा! असंभव-सा था। दोनों घर आ गए।

बड़े भाई ने सोचा–ज्योतिषी ने जो कहा है, संभव है वह बात मिल जाए। अब मुझे संभलकर कार्य करना चाहिए। वह जागरूक और अप्रमत्त बन गया। उसका व्यवहार और आचरण सुधर गया। उसे मौत सामने दिख रही थी। जब मौत सामने दिखने लगती है, तब हर आदमी बदल जाता है। बड़े से बड़ा नास्तिक भी मरते-मरते आस्तिक बन जाता है। ऐसे नास्तिक देखे हैं, जो जीवनभर नास्तिकता की दुहाई देते रहे, पर जीवन के अंतिम क्षणों में पूर्ण आस्तिक बन गए। बड़े भाई का दृष्टिकोण बदल गया, आचरण और व्यवहार बदल गया और उसके व्यक्तित्व का पूरा रूपांतरण हो गया।

छोटे भाई ने सोचा–राज्य मिलने वाला है, अब चिंता ही क्या है? वह प्रमादी बन गया। उसका अहं उभर गया। अब वह किसी को कुछ भी नहीं समझता। एक-एक कर अनेक बुराइयां उसमें आ गईं। भविष्य में प्राप्त होने वाली राज्यसत्ता के लोभ ने उसे अंधा बना डाला। सत्ता की मदिरा का मादकपन अनूठा होता है। उसकी स्मृति-मात्र आदमी को पागल बना देती है। वह सत्ता के मद में उन्मत्त हो गया। वह इतना बुरा व्यवहार और आचरण करने लगा, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

कुछ दिन बीते। बड़ा भाई कहीं जा रहा था। उसके पैर में सूल चुभी और वह उसके दर्द को कुछ दिनों तक भोगता रहा। छोटा भाई एक अटवी से गुजर रहा था। उसकी दृष्टि एक स्थान पर टिकी। उसने उस स्थान को खोदा और वहां गड़ी मोहरों की थैली निकाल ली।

चार महीने बीत गए। दोनों पुनः ज्योतिषी के पास गए। दोनों ने कहा–'ज्योतिषीजी! आपकी दोनों बातें नहीं मिलीं। न सूली की सजा ही मिली और न राज्य ही मिला।' ज्योतिषी पहुंचा हुआ था। बड़ा निमित्तज्ञ था। उसने बड़े भाई की ओर मुड़कर कहा–'मेरी बात असत्य हो नहीं सकती। तुमने अच्छा आचरण किया, अन्यथा तुम पकड़े जाते और तुम्हें सूली की सजा मिलती, पर वह सूली की सजा सूल से टल गई। बताओ, तुम्हारे पैर में सूल चुभी या नहीं?' छोटे भाई से कहा–'तुम्हें राज्य प्राप्त होने वाला था, पर तुम प्रमत्त बने, बुरा आचरण करने लगे। तुम्हारा राज्य-लाभ मोहरों में टल गया।'

इससे यह स्पष्ट होता है कि संचित पुण्य बुरे पुरुषार्थ से पाप में बदल जाते हैं और संचित पाप अच्छे पुरुषार्थ से पुण्य में बदल जाते हैं। यह संक्रमण होता है, किया जाता है।

मुनिजी को फिर मैंने कहा–'यह जैन दर्शन का मान्य सिद्धांत है और मैंने इसी का 'जीव-अजीव' पुस्तक में विमर्श किया है।' स्थानांग सूत्र में चतुर्भंगी मिलती है–

चउव्विहे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा–
सुभे नाममेगे सुभविवागे,
सुभे नाममेगे असुभविवागे,
असुभे नाममेगे सुभविवागे,
असुभे नाममेगे असुभविवागे।[१]

एक होता है शुभ, पर उसका विपाक होता है अशुभ। दूसरे शब्दों में बंधा हुआ है पुण्य कर्म, पर उसका विपाक होता है पाप। बंधा हुआ है पाप कर्म, पर उसका विपाक होता है पुण्य। कितनी विचित्र बात है? यह सारा संक्रमण का सिद्धांत है। शेष दो विकल्प सामान्य हैं। जो अशुभ रूप में बंधा है, उसका विपाक अशुभ होता है और जो शुभ रूप में बंधा है, उसका विपाक शुभ होता है। इन दो विकल्पों में कोई विमर्शनीय तत्त्व नहीं है, किंतु दूसरा और तीसरा–ये दोनों विकल्प महत्त्वपूर्ण हैं और संक्रमण के सिद्धांत के प्ररूपक हैं। संक्रमण का सिद्धांत पुरुषार्थ का सिद्धांत है। ऐसा पुरुषार्थ होता है कि अशुभ शुभ में और शुभ अशुभ में बदल जाता है।

पुरुषार्थ का मूल्य

इस संदर्भ में हम पुरुषार्थ का मूल्यांकन करें और फिर सोचें कि दायित्व और कर्तृत्व किसका है? हम इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि सारा दायित्व और कर्तृत्व है पुरुषार्थ का। अच्छा पुरुषार्थ कर आदमी अपने भाग्य को बदल सकता है। अनेक बार निमित्तज्ञ बताते हैं–भाई! तुम्हारा भाग्य अच्छा है, पर अच्छा कुछ भी नहीं होता, क्योंकि वे अपने भाग्य का ठीक निर्माण नहीं करते, पुरुषार्थ का ठीक उपयोग नहीं करते। पुरुषार्थ का उचित उपयोग न कर सकने के कारण अच्छा कुछ भी नहीं हुआ और बेचारा ज्योतिषी झूठा हो गया, उसकी भविष्यवाणी असत्य हो गई।

ज्योतिषी ने किसी को कहा कि तुम्हारा भविष्य खराब है। उस व्यक्ति ने उसी दिन से अच्छा पुरुषार्थ करना प्रारंभ कर दिया और उसका भविष्य अच्छा हो गया।

१. ठाणं ४/६३

सुकरात के सामने एक व्यक्ति आकर बोला–'मैं तुम्हारी जन्म-कुंडली देखना चाहता हूं।' सुकरात बोला–'अरे! जन्मा तब जो जन्म-कुंडली बनी थी, उसे मैं गलत कर चुका हूं। मैं उसे बदल चुका हूं। अब तुम उसे क्या देखोगे?'

पुरुषार्थ के द्वारा व्यक्ति अपनी जन्म-कुंडली को भी बदल देता है। ग्रहों के फल-परिणामों को भी बदल देता है, भाग्य को बदल देता है। इस दृष्टि से मनुष्य का ही कर्तृत्व है, उत्तरदायित्व है। महावीर ने पुरुषार्थ के सिद्धांत पर बल दिया, पर एकांगी दृष्टिकोण की स्थापना नहीं की। उन्होंने सभी तत्त्वों के समवेत कर्तृत्व को स्वीकार किया, पर उत्तरदायित्व किसी एक तत्त्व का नहीं माना।

भगवान महावीर के समय की घटना है। शकडाल नियतिवादी था। भगवान महावीर उसके घर ठहरे। उसने कहा–'भगवन्! सबकुछ नियति से होता है। नियति ही परम तत्त्व है।' भगवान महावीर बोले–'शकडाल! तुम घड़े बनाते हो। बहुत बड़ा व्यवसाय है तुम्हारा। तुम कल्पना करो, तुम्हारे आवे से अभी-अभी पककर पांच सौ घड़े बाहर निकाले गए हैं। वे पड़े हैं। एक आदमी लाठी लेकर आता है और सभी घड़ों को फोड़ देता है। इस स्थिति में तुम क्या करोगे?'

शकडाल बोला–'मैं उस आदमी को पकड़कर मारूंगा, पीटूंगा।'

महावीर बोले–'क्यों?'

शकडाल ने कहा–'उसने मेरे घड़े फोड़े हैं, इसलिए वह अपराधी है।'

महावीर बोले–'बड़े आश्चर्य की बात है। सबकुछ नियति करवाती है। वह आदमी नियति से बंधा हुआ था। नियति ने ही घड़े फुड़वाए हैं। उस आदमी का इसमें दोष ही क्या है?'

यह चर्चा आगे बढ़ती है और अंत में शकडाल अपने नियति के सिद्धांत को आगे नहीं खींच पाता, वह निरुत्तर हो जाता है।

पुरुषार्थ का अपना दायित्व है। कोई भी आदमी यह कहकर नहीं बच सकता कि मेरी ऐसी ही नियति थी। हमें सचाई का, यथार्थता का अनुभव करना होगा।

इस चर्चा का निष्कर्ष यह है कि अप्रमाद बढ़े और प्रमाद घटे, जागरूकता बढ़े और मूर्च्छा घटे। पुरुषार्थ का उपयोग सही दिशा में बढ़े और गलत दिशा में जाने वाला पुरुषार्थ टूटे। हम अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करें।

१६. प्रतिक्रमण

हमारा शरीर अनेक नियमों से बंधा हुआ है और अनेक रहस्यों से भरा हुआ है। इस शरीर में अनगिनत रहस्य हैं। उनको जानना है। हमारी यात्रा स्थूल से सूक्ष्म की ओर हो। हमें स्थूल से यात्रा करनी है और पहुंचना है सूक्ष्म तक। हमें चलते चलना है। जो स्थूल में अटक जाता है, वह भटक जाता है। वह कहीं का नहीं रहता। आज आदमी की दृष्टि स्थूल को पकड़ने वाली बनी हुई है। वह स्थूल को देख लेता है, सूक्ष्म उसकी पकड़ में नहीं आता। इसका कारण है कि वह सूक्ष्म तक जाने का अभ्यास नहीं करता, प्रयोग नहीं करता।

मैं स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा पर आपको ले चलता हूं। यह शरीर स्थूल है। यह सूक्ष्म कोशिकाओं–बायोलॉजिकल सेल्स से निर्मित है। लगभग ६००-७०० खरब कोशिकाएं हैं। हम इन्हें जैन दर्शन के इस प्रतिपादन के संदर्भ में समझें कि सूई की नोक टिके, उतने-से स्थान में निगोद के अनंत जीव समा सकते हैं। निगोद वनस्पति का एक विभाग है। यह सूक्ष्म रहस्यपूर्ण बात है, पर आज का विज्ञान भी अनेक सूक्ष्मताओं का प्रतिपादन करता है। शरीर में खरबों कोशिकाएं हैं। उन कोशिकाओं में होते हैं गुणसूत्र। प्रत्येक गुणसूत्र दस हजार 'जीन' से बनता है। वे सारे संस्कार-सूत्र हैं। हमारे शरीर में छियालीस क्रोमोसोम होते हैं। वे बनते हैं 'जीन' से, संस्कार सूत्रों से। संस्कार-सूत्रों से एक क्रोमोसोम बनता है।

कर्मशरीर और जीन

आज का शरीर-विज्ञान मानता है कि शरीर का महत्त्वपूर्ण घटक है 'जीन'। यह संस्कार-सूत्र है। यह अत्यंत सूक्ष्म है। प्रत्येक 'जीन' में साठ लाख आदेश लिखे हुए होते हैं। कल्पना करें इस सूक्ष्मता की। व्यक्ति क्या करेगा? उसकी शक्ति, पुरुषार्थ, कर्तृत्व, चेतना कितनी है? एक-एक 'जीन' में साठ-साठ लाख आदेश अंकित हैं। तब प्रश्न होता है कि हमारा कर्तृत्व, हमारा पुरुषार्थ

और हमारी चेतना कहां है? क्या वह एक क्रोमोसोम और 'जीन' में नहीं है? है, इसीलिए तो इतनी तरतमता है एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में। सबका पुरुषार्थ समान नहीं होता, सबकी चेतना समान नहीं होती। इस असमानता का कारण प्राचीन भाषा में, कर्मशास्त्र की भाषा में 'कर्म' है।

एक बार गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा–'भंते! विश्व में सर्वत्र तरतमता दिखाई देती है। किसी में ज्ञान कम होता है और किसी में अधिक। इसका कारण क्या है?' भगवान बोले–'गौतम! इस तरतमता का कारण है कर्म'। यदि आज के जीव-विज्ञानी से पूछा जाए कि विश्व की विषमता या तरतमता का कारण क्या है तो वह कहेगा कि सारी तरतमता का एकमात्र कारण है 'जीन'।

जैसा 'जीन' होता है, गुणसूत्र होता है, आदमी वैसा ही बन जाता है। उसका स्वभाव और व्यवहार वैसा ही हो जाता है। यह 'जीन' सभी संस्कार-सूत्रों तथा सारे विभेदों का मूल कारण है। विज्ञान की भाषा में कहा जाता है कि एक-एक 'जीन' पर साठ-साठ लाख आदेश लिखे हुए होते हैं तो कर्मशास्त्र की भाषा में कहा जा सकता है कि कर्म-स्कंध में अनंत आदेश लिखे हुए होते हैं। अभी तक विज्ञान 'जीन' तक ही पहुंच पाया है और यह 'जीन' इस स्थूल शरीर का ही घटक है, किंतु कर्म सूक्ष्म शरीर का घटक है। इस स्थूल शरीर के भीतर तैजस शरीर है, विद्युत शरीर है। वह सूक्ष्म है। इससे भी सूक्ष्म शरीर है कर्म शरीर। यह सूक्ष्मतम है। इसके एक-एक स्कंध पर अनंत लिपियां लिखी हुई हैं।

हमारे पुरुषार्थ का, अच्छाइयों और बुराइयों का, न्यूनताओं और विशेषताओं का सारा लेखा-जोखा और सारी प्रतिक्रियाएं कर्म शरीर में अंकित हैं। वहां से जैसे स्पंदन आते हैं, आदमी वैसा ही व्यवहार करने लग जाता है। हमारा पुरुषार्थ इसके साथ जुड़ा हुआ होता है। कर्म ही सबकुछ नहीं है। कर्तृत्व और पुरुषार्थ भीतर से आ रहा है, भीतर में प्रतिष्ठित है, किंतु उसका मूल अवस्थान न 'जीन' है और न कर्म शरीर है। ये तो बीच के माध्यम हैं, जो अपना-अपना कार्य करते हैं। मूल शक्ति का स्रोत है आत्मा। सारी शक्ति वहां से आती है। ये बीच के स्रोत केवल तारतम्य पैदा करने वाले होते हैं। ये शक्ति के मूल स्रोत नहीं हैं। पुरुषार्थ, कर्तृत्व, वीर्य, अंतःस्फुरणाएं–ये सारे आत्मा से आ रहे हैं। हमें वहां तक पहुंचना है।

त्याग की प्रेरणा

मैं एक सीधा-सा प्रश्न उपस्थित करता हूं। प्रत्येक भारतीय दर्शन तथा कर्म में विश्वास करने वाला व्यक्ति चिंतन करे। कर्म एक माध्यम है, जो प्रत्येक प्राणी को प्रभावित करता है, पर वही सबकुछ नहीं है। यदि कर्म ही सबकुछ हो तो आदमी कोई त्याग कर ही नहीं सकता। कोई भी कर्म ऐसा नहीं है, जो त्याग करा सके, त्याग के लिए प्रेरित कर सके। कर्म का कार्य है व्यक्ति को भोग की ओर ले जाना। त्याग की ओर ले जाना कर्म का कार्य नहीं है। वेदनीय कर्म, नाम कर्म, आयुष्य कर्म, गोत्र कर्म–ये पौद्गलिक संयोग कराने वाले कर्म हैं। ज्ञानावरण कर्म और दर्शनावरण कर्म–ये दोनों ज्ञान और दर्शन को आवृत करने वाले कर्म हैं। मोहनीय कर्म मूर्च्छा पैदा करने वाला कर्म है। अंतराय कर्म शक्ति में बाधा उत्पन्न करने वाला कर्म है। ये आठ कर्म हैं। इनमें से एक कर्म भी ऐसा नहीं है जो त्याग की ओर ले जा सके, फिर भी भोग में आकंठ डूबा हुआ व्यक्ति, पदार्थों में आसक्त रहने वाला व्यक्ति त्याग की ओर क्यों जाता है? क्यों उसके मन में त्याग की भावना जागती है? इसका कारण क्या है? कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। कारण पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि केवल कर्म ही नहीं है। हमारे भीतर एक ऐसी शक्ति है, चेतना है, जो निरंतर संघर्षरत है और जो मनुष्य को शुद्ध चेतना की अवस्था तक ले जाना चाहती है।

वह स्वबोध की अवस्था है, आत्मा के सहज स्वरूप की अवस्था है, सहज आनंद की अवस्था है। उस ओर जाने की सहज प्रेरणा है हमारी। यदि यह सहज प्रेरणा नहीं होती तो आदमी विषयों में इतना आसक्त हो जाता कि वह त्याग की बात कभी सोच ही नहीं पाता, परमार्थ की ओर कभी डग भर ही नहीं पाता। स्वार्थ और परार्थ में वह केवल स्वार्थ की बात ही सोचता, परार्थ की ओर ध्यान ही नहीं देता। वह फिर घर-गृहस्थी के धंधों में इतना उलझ जाता कि उसके बाहर कभी दृष्टि ही नहीं डाल पाता। उठते-बैठते, सोते-जागते वह उसी में उलझा रहता।

एक व्यापारी था। वह व्यापार में आकंठ डूबा हुआ था। सोते-जागते केवल व्यापार के ही स्वप्न देखता था। एक रात वह सो रहा था। सपना आया। ग्राहक ने कपड़ा मांगा। उसने कपड़ा देने की धुन में अपनी ओढ़ी हुई चादर फाड़ डाली। पत्नी जाग गई और उसे चादर फाड़ते देख लिया। उसने कहा–'अरे, यह क्या कर रहे हो? चादर क्यों फाड़ रहे हो?' वह बोला–'कमबख्त! घर पर तो पीछा नहीं छोड़ती, दुकान पर भी आ धमकी।'

आदमी इतना आसक्त हो जाता है कि वह त्याग की बात सोच ही नहीं सकता। एक ओर भोग है, एक ओर त्याग है। भोग प्रिय होता है, त्याग प्रिय नहीं होता, फिर भी भोगों को त्यागने की भावना आती है। ऐसा क्यों होता है? भोग आपातभद्र होते हैं और परिणाम-विरस, किंतु त्याग आपात-विरस होते हैं और परिणामभद्र। पदार्थ की प्रकृति है कि वह प्रारंभ में प्रिय लगता है, पर बाद में अप्रिय बन जाता है। जैसे-जैसे पदार्थ का सेवन बढ़ता है, वैसे-वैसे अप्रियता भी बढ़ती है। भोग में रहा हुआ आदमी भोग में रहता है। उसके पीछे कर्म की प्रेरणा है। कर्म ही उसे भोग में बनाए रखते हैं।

कर्म अचेतन है। अचेतन की प्रेरणा, अचेतन की ओर ले जाती है। कर्म की प्रेरणा से प्रेरित व्यक्ति भोग में आसक्त हो जाता है। भोग परतंत्र हो सकता है। यह बात समझ में आ सकती है, पर भोग में रहने वाला आदमी त्याग की ओर जाता है, यह किसकी प्रेरणा है? कोई भी कर्म ऐसा नहीं है, जो इस ओर जाने की प्रेरणा दे। इस प्रेरणा के साथ कर्म का कोई संबंध नहीं है। इस प्रेरणा का मूल घटक है आत्मा। हमारे भीतर चेतना की एक शुद्ध धारा बहती है, निरंतर बहती है। एक क्षण भी ऐसा नहीं आता कि वह चैतन्य की धारा रुक जाए, चेतना लुप्त हो जाए। यदि चेतना लुप्त हो जाती है तो सारी बात समाप्त हो जाती है, चेतन अचेतन बन जाता है, पर ऐसा कभी होता नहीं। चेतना की ज्योति कितनी ही कम हो, पर वह निरंतर जलती रहती है।

अंतर्ज्योति से त्याग भाव

रूस के एक जीव वैज्ञानिक प्रो. तारासोव ने लिखा है–'हमारा प्रत्येक सेल एक टिमटिमाता दीपक है। वह ऐसा दीपक है, जो निरंतर जलता रहता है। प्रत्येक कोशिका अपने आप में एक पॉवरहाउस है।' हम कह सकते हैं कि आत्मा का प्रत्येक प्रदेश ज्योतिर्मय है। प्रत्येक आत्मा में अंतर्ज्योति जलती रहती है। वह ज्योति कभी नहीं बुझती। वह निरंतर प्रज्वलित रहती है। उसी का प्रकाश हमें त्याग की प्रेरणा देता है, त्याग की ओर ले जाता है। कर्म त्याग की ओर नहीं ले जाता। त्याग, संयम, संवर–ये किसी कर्म से नहीं होते। ये मात्र चेतना की प्रेरणा से होते हैं। ये स्वतंत्र हैं।

हम स्वतंत्र भी हैं और परतंत्र भी हैं। हमारी चेतना हमें त्याग की ओर ले जाती है, इसलिए हम स्वतंत्र हैं। हमारा कर्तृत्व स्वतंत्र है। जहां चेतना का प्रश्न है, वहां हम स्वतंत्र हैं और जहां कर्म का प्रश्न है, वहां हम परतंत्र हैं। इस दृष्टि

से हमारा दायित्व भी सापेक्ष होगा। जहां हम चेतना के साथ होते हैं, वहां हम स्वतंत्र हैं और जहां हम दूसरे के साथ होते हैं, वहां हम परतंत्र हैं। जब हम काल या नियति के प्रभाव में होते हैं, वहां हम परतंत्र बन जाते हैं। हमारी स्वतंत्रता और परतंत्रता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि हम किसके साथ होते हैं।

जब हम चेतना के साथ होते हैं, अस्तित्व के साथ होते हैं, तब हम पूर्ण स्वतंत्र होते हैं और जब हम कषाय के साथ होते हैं, नियति के साथ होते हैं, तब हमारी स्वतंत्रता छिन जाती है। प्रश्न है कि स्वतंत्रता का विकास कैसे हो सकता है? परतंत्रता को कैसे कम किया जा सकता है? आदमी किस प्रकार अपने उत्तरदायित्व का अनुभव कर सकता है और कैसे अधिक-से-अधिक स्वतंत्र होकर परतंत्रता की बेड़ियों को काट सकता है? इस प्रश्न का उत्तर पाना है।

प्रेक्षाध्यान स्वतंत्रता का घटक है। इससे चेतना का जागरण होता है और साधक अपने मूल स्रोत आत्मा, प्रभु अथवा परमात्मा तक पहुंचने में समर्थ होता है। इस साधना के दो प्रारंभिक सूत्र हैं–प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त। प्रतिक्रमण का अर्थ है लौटना। केवल आगे ही नहीं बढ़ना है, लौटना भी है। लौटना बहुत जरूरी है और उसका भी एक निश्चित क्रम है। आदमी चलता है। क्या वह अपने पैरों को केवल आगे ही बढ़ाता है? नहीं। एक पैर आगे बढ़ाता है और दूसरा पैर पीछे रहता है। बिलौने की भी यही पद्धति है। एक हाथ आगे बढ़ता है, तब दूसरा पीछे रहता है और जब वह आगे आता है, तब आगे वाला पीछे आ जाता है। यदि आगे-पीछे का यह क्रम न हो तो बिलौना हो नहीं सकता। हमें भी आगे बढ़ने के साथ पीछे भी लौटना होगा। प्रतिक्रमण का अर्थ ही है पीछे लौट आना, वापस आ जाना।

साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त का महत्त्व समझे। दोनों महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। मनोविज्ञान ने इनको और अधिक उजागर किया है। मानसिक रोगी जब मनश्चिकित्सक के पास जाता है, तब सबसे पहले उसे प्रतिक्रमण कराया जाता है। मनोरोगी से चिकित्सक कहता है, वर्तमान को भूलकर अतीत में चले जाओ। मुझे अतीत के जीवन के बारे में बताओ। मुझे बताओ कि अतीत में क्या घटा? तुमने क्या-क्या किया? वह प्रारंभ में सारी बातें सुनता है। घटनाएं सुनता है और मनोग्रंथि के तथ्य को पकड़ लेता है। जब तक यह प्रतिक्रमण नहीं होता, तब तक मनश्चिकित्सक चिकित्सा नहीं कर सकता। यह अध्यात्म साधना की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।

जब तक साधक की मनोग्रंथि नहीं खुलती, तब तक ध्यान नहीं होता, इसलिए अतीत का लेखा-जोखा करना बहुत जरूरी है।

असंयम और अकालमृत्यु

आज का आदमी अकालमृत्यु से मर रहा है। सौ में से चार-पांच व्यक्तियों के अतिरिक्त सभी मनुष्य स्वाभाविक मौत से नहीं मरते, अकालमृत्यु से मरते हैं, इसका कारण है आहार का असंयम, कामवासना का असंयम और आवेश या उत्तेजना। ये तीन कारण हैं। जिसमें कषाय का तीव्र आवेश होता है, वह जल्दी मरता है। जो कामवासना से पीड़ित होता है, वह अकालमौत मरता है। जिसमें आहार का संयम नहीं होता, वह भी पूरा जीवन नहीं जी सकता। इन विषयों में आदमी भ्रांत है, भूलें करता है, क्योंकि उसे न आहार संबंधी शिक्षा मिलती है, न ब्रह्मचर्य के विषय में शिक्षा मिलती है और न कषाय-विजय का ही पाठ पढ़ाया जाता है। जब ये शिक्षाएं नहीं मिलतीं तब आदमी धर्म कैसे कर सकता है? धर्म केवल आकाशीय तत्त्व नहीं है, वह जीवन का घटक है। जो आहार का संयम करना नहीं जानता वह क्या धर्म कर पाएगा? जो व्यक्ति डटकर खाता है, वह बुरे विचारों से ग्रस्त होता है, वासना उभरती है, पेट भारी होता है, अपानवायु दूषित हो जाती है, तब चिंतन स्वस्थ कैसे रह सकता है? फिर धर्म कहां से आएगा?

जिस व्यक्ति में आहार का संयम नहीं है, कामवासना का संयम नहीं है और आवेश का संयम नहीं है, वह पूरा जीवन नहीं जी सकता, वह सुखी और अच्छा जीवन नहीं जी सकता। मैं समझता हूं कि इन तीनों तथ्यों का प्रारंभ से ही प्रशिक्षण होना चाहिए। ये तीनों तथ्य जीवन से संबंधित हैं और इनकी अजानकारी के कारण बचपन से ही अनेक भ्रांतियां व्यक्ति के दिमाग में घर कर जाती हैं। और-और बातें पढ़ाई जाती हैं, बताई जाती हैं, पर ये बातें न अध्यापक बताते हैं, न धर्मगुरु बताते हैं और न माता-पिता बताते हैं। इन तथ्यों की अजानकारी के कारण जीवन में अनेक बुराइयां पनपती हैं, इसीलिए न शरीर स्वस्थ रहता है और न मन। स्मृति क्षीण हो जाती है, बुद्धि कमजोर और कल्पनाशक्ति मंद। इस स्थिति में यह आवश्यक है कि प्रतिक्रमण किया जाए।

प्रायश्चित्त

प्रायश्चित्त मनोग्रंथियों को खोलने का उपाय है। जो मनोग्रंथियां अज्ञान के कारण बन गई हैं, उनके खुलने पर सारा मार्ग साफ हो जाता है। प्रायश्चित्त करने

वाला व्यक्ति न केवल आध्यात्मिक दोषों से बचता है, बल्कि वह मानसिक और शारीरिक बीमारियों से भी बच जाता है। जो लोग प्रायश्चित्त करते हैं, वे भयंकर से भयंकर बीमारी से मुक्त हो जाते हैं। कैंसर, अल्सर, हार्टट्रबल–ये केवल शरीर के रोग नहीं हैं, ये मनोकायिक रोग हैं। ये मन, भावना, इमोशन और आवेगों से होने वाले रोग हैं। आवेग करते समय ऐसा भान नहीं होता कि कोई रोग होगा, पर रोग होता है, पीड़ा देता है, तब पता चलता है कि रोग हुआ है। प्रायश्चित्त के द्वारा इनकी चिकित्सा हो सकती है।

सबसे पहले अतिक्रमण का प्रतिक्रमण होना चाहिए। जो-जो अतिक्रमण हुआ है उसका प्रतिक्रमण आवश्यक होता है। प्रतिक्रमण रूढ़ि नहीं है। यह है अतीत का सिंहावलोकन, अतीत को देखना, समझना, प्रेक्षा करना कि कहां-कहां, कब-कब अतिक्रमण हुआ है और अब कैसे बचा जा सकता है। जिस व्यक्ति में प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त की चेतना जाग जाती है, वह व्यक्ति बहुत शक्तिशाली और पुरुषार्थ-प्रधान बन जाता है।

स्थूलभद्र नंदवंश के प्रधानमंत्री शकडाल का पुत्र था। वह प्रारंभ से ही विरक्ति का जीवन जी रहा था। पिता ने सोचा–क्या मेरा पुत्र संन्यासी बनेगा? इतनी विरक्ति कैसे है? इसे गृहस्थी में फंसाना है। इसे कामशास्त्र का अध्ययन कराना चाहिए। उसे कोशा वेश्या के घर पर रखा। वह बारह वर्ष तक उसके घर में रहा, फिर ऐसी घटना घटी कि वह मुनि बन गया। गुरु के चार शिष्यों में वह एक था। एक बार चारों शिष्य गुरु के समक्ष आए और प्रार्थना की कि हम विशेष साधना के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों में चातुर्मास करना चाहते हैं। एक ने कहा कि मैं सिंह की गुफा में चातुर्मास बिताना चाहता हूं। दूसरे ने कहा कि मैं कुएं की मेंड़ पर चातुर्मास बिताना चाहता हूं। तीसरे ने कहा कि मैं सांप की बांबी पर चातुर्मास करना चाहता हूं। स्थूलभद्र ने कहा कि मैं कोशा वेश्या की चित्रशाला में चातुर्मास बिताना चाहता हूं। विचित्र था निवेदन। गुरु ने स्वीकृति दे दी। स्थूलभद्र कोशा के भवन-द्वार पर पहुंचा। वह अत्यंत प्रसन्न हुई चिर-परिचित स्थूलभद्र को देखकर। स्थूलभद्र ने कहा कि सुंदरी! मैं तुम्हारी चित्रशाला में चातुर्मास करना चाहता हूं–

'यह चित्रशाला विशाला मदनालयसी मलयाचलसी,
मैं चाहता हूं करना निवास,
जब तक पूर्ण न हो चार मास।

कार्तिक पूर्णिमा तक

हेमंत तरुणिमा तक,

आज्ञा हो तुम्हारी।'

कोशा बोली–'आज्ञा लेते हैं आप! आप ही की चित्रशाला है। कौन होती हूं मैं आज्ञा देने वाली? आप चातुर्मास करें।'

स्थूलभद्र वहां रह गए। सुपरिचित वेश्या कोशा, जिसके साथ बारह वर्ष बिताए थे। वही चित्रशाला, जो प्रत्येक के मन में कामवासना जगाने में समर्थ थी। पूरा वातावरण कामुकता को बढ़ाने वाला था। स्थूलभद्र वहां रहे। तपस्या नहीं की। षड्रस भोजन करते रहे। कोशा ने कहा–'कहां फंस गए आप? संन्यास क्यों ले लिया? छोड़ दें इसे, मेरे घर पर जीवन भर रहें। मैं आपकी हूं।' इतना सबकुछ होने पर भी स्थूलभद्र निर्लिप्त रहे। चार मास पूरे हुए। काजल की कोठरी में रहे, पर काजल की एक रेखा भी नहीं लगी। सूरज बादल की ओट में छिपा था। बादल फटे और सूरज प्रकट हो गया।

स्थूलभद्र का यह उदाहरण सर्वसामान्य नहीं है, अतिरिक्त है, पर आदमी ऐसा कर सकता है। उन्होंने प्रतिक्रमण के माध्यम से ऐसा किया। प्रतिक्रमण की चेतना जागने पर सब विकार समाप्त हो जाते हैं।

दो बड़े सूत्र हैं। एक है अतिक्रमण को बदलने के लिए प्रतिक्रमण की चेतना का जागरण और दूसरा है अतीत की ग्रंथियों को खोलने के लिए प्रायश्चित्त।

विज्ञान के क्षेत्र में सोचा जा रहा है कि 'जीन' को बदलने का सूत्र हस्तगत हो जाए तो पूरे व्यक्तित्व को बदला जा सकता है। अध्यात्म के क्षेत्र में बहुत पहले सोचा गया था कि कर्म को बदलने का सूत्र हाथ लग जाए तो बहुत बड़ा काम हो सकता है।

मैं समझता हूं, भाव विशुद्धि की साधना इतनी शक्तिशाली साधना है कि उससे कर्म को बदला जा सकता है। 'जीन' को बदला जा सकता है। जो व्यक्ति अनुप्रेक्षा का प्रयोग करना जानता है, जिसने भाव-परिवर्तन का प्रयोग किया है, वह अपने 'जीन' को भी बदल सकता है और कर्म को भी बदल सकता है।

यह बदलने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के माध्यम से समूची चेतना का रूपांतरण किया जा सकता है और चेतना को नए रूप में प्रस्थापित किया जा सकता है।

१७. पुरुषार्थवाद की छह घोषणाएं

आध्यात्मिक होने का अर्थ है–अपनी आदतों को बदलने का अभ्यास करना। अपनी क्षमता को पहचान कर, जो व्यक्ति अपनी आदतों को बदलने का अभ्यास नहीं करता, वह कैसे अध्यात्मिक हो सकता है? एक आध्यात्मिक व्यक्ति की आदत न बदले, यह समझ से परे की बात है।

एक सेठ के पास सेना का जवान आया। सेठ ने पूछा–'तुम्हारा पिता कहां है?'

'मेरा पिता तो मर गया।'

'कहां मरा?'

'लड़ाई में मरा।'

'तुम्हारा दादा कहां है?'

'मेरा दादा भी लड़ाई में मारा गया।'

सेठ बोला–'तुम्हारा यह धंधा अच्छा नहीं है। इसे छोड़ दो। तुम्हारा दादा भी लड़ाई में मरा। पिता भी लड़ाई में मरा। तुम भी संभव है, इसी में मरोगे।'

जवान समझदार था, वह शांत भाव से बोला–'सेठ साहब! आपके पिताजी कहां हैं?'

'मेरे पिताजी मर गए।'

'कैसे मरे?'

'व्यापार करते-करते ही मर गए।'

'आपके दादाजी?'

'यही धंधा करते-करते मर गए।'

'सेठ साहब! आपका यह व्यापार का धंधा अच्छा नहीं है। आपको इसे छोड़ देना चाहिए।'

'मैं इस धंधे को कैसे छोड़ सकता हूं?'

'आपकी सात पीढ़ियां यही धंधा करते-करते मर गई, फिर भी आप इसे क्यों नहीं छोड़ रहे हैं?'

कोई भी व्यक्ति अपना धंधा छोड़ना नहीं चाहता, स्वयं को बदलना नहीं चाहता।

दर्शन के क्षेत्र में दो विचारधाराएं काम कर रही हैं–

१. नियतिवाद २. पुरुषार्थवाद।

प्राचीनकाल में बहुत सारे दार्शनिक नियतिवादी हुए हैं। भगवान महावीर के समय में आजीवक संप्रदाय के आचार्य गोशालक नियतिवादी थे। महावीर पुरुषार्थवादी थे। उनके बाद भी बहुत नियतिवादी हुए हैं। मनोवैज्ञानिक मास्लोव ने लिखा–'फ्रायड और डार्विन जैसे नियतिवादी लोगों ने समाज में गलत धारणाएं पैदा कर दीं।' जो चल रहा है, वह बदला नहीं जा सकता–इस चिंतन ने एक समस्या पैदा कर दी। मनुष्य अपने आपको बदल सकता है, पर कैसे बदले? गलत धारणाएं और गलत मान्यताएं चल रही हैं। बदलने का मौका ही नहीं मिलता। हर व्यक्ति निराशा की घूंट पिलाने को तैयार है, फिर आदमी कैसे बदल सकता है? इतनी रूढ़ भावना मनुष्य में विकसित हो गई कि बदलने की बात वह सोच ही नहीं सकता। संस्कार ही ऐसे बन गए कि जो चल रहा है, उसे बदला नहीं जा सकता।

जिन दार्शनिकों ने यह निरूपण किया कि आत्मा परमात्मा बन सकता है, उन्होंने सबसे बड़ी सचाई को समाज के सामने प्रस्तुत किया। हम कल्पना नहीं कर सकते कि आत्मा परमात्मा बन सकता है। कहां आत्मा और कहां परमात्मा? कहां बिंदु और कहां सिंधु? एक बिंदु सिंधु बन सकता है, आत्मा परमात्मा बन सकता है, इतना बड़ा सूत्र जिन्होंने लिखा। उन्होंने शायद दुनिया की सबसे बड़ी सचाई का अनावरण किया। पुरुषार्थवाद की यह प्रथम घोषणा है।

पुरुषार्थवाद की दूसरी घोषणा है–एक मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि बन सकता है।

पुरुषार्थवाद की तीसरी घोषणा है–एक अव्रती, व्रती बन सकता है। जिसने कभी त्याग, नियम, संयम का अभ्यास नहीं किया, वह आदमी संयमी बन सकता है।

पुरुषार्थवाद की चौथी घोषणा है–एक प्रमादी, अप्रमादी बन सकता है।

पुरुषार्थवाद की पांचवी घोषणा है–एक सरागी, वीतरागी बन सकता है।

पुरुषार्थवाद की छठी घोषणा है–एक अल्पज्ञ, सर्वज्ञ बन सकता है।

पुरुषार्थवाद की ये छह महत्त्वपूर्ण घोषणाएं हैं।

एक शरीरधारी, अशरीर बन सकता है, आत्मा शरीर-मुक्त स्थिति में जा सकता है, शुद्ध बन सकता है। इससे आगे परिवर्तन संभव ही नहीं है। जब आत्मा परमात्मा बन गया, शरीरधारी अशरीर बन गया, तब इससे आगे कुछ अवकाश नहीं रहता। यदि होता तो सातवीं महत्त्वपूर्ण घोषणा और हो जाती।

इस स्थिति में क्या आदमी सोच सकता है कि मैं तंबाकू की आदत को नहीं छोड़ सकता? मैं जर्दे की आदत को नहीं छोड़ सकता? मैं गुस्से की आदत को नहीं छोड़ सकता? मैं चाय और कॉफी की आदत को नहीं छोड़ सकता? क्या कोई सोच सकता है? एक नियतिवादी ही ऐसा सोच सकता है कि मैं आदत को नहीं छोड़ सकता और मैं नहीं बदल सकता। जिन लोगों ने पुरुषार्थवाद के मर्म को समझा है, वे कभी कल्पना भी नहीं करते कि मैं छोड़ नहीं सकता। यह कितना बड़ा दर्शन है परिवर्तन का, बदलने का। इससे बड़ा क्या दर्शन हो सकता है?

नियतिवाद ने अकर्मण्यता और निराशा को जन्म दिया। उसके अनुसार जिनके भाग्य में जैसा लिखा है, वैसा हो जाएगा। जैसा कर्म में लिखा हुआ है, हो जाएगा। करने को कुछ शेष नहीं होता, बदलने की बात ही नहीं आती। हाथ पर हाथ धरकर बैठे रहो, जो होता है, उसे देखते रहो। अपने लिए करने का कुछ नहीं। भगवान जाने, राम जाने। पदयात्रा में हमें ट्रक मिलते हैं। ट्रक के पीछे लिखा रहता है राम भरोसे। जब-जब यह देखता हूं, मन में आता है कि शराब पीकर नहीं चलाओगे, तब तक ठीक है, तुम्हारे भरोसे चलता है। अगर शराब पीकर चलाओगे तो भरोसा दूसरे का भी काम नहीं आएगा। ध्यान से चलाओगे तो तुम्हारा भरोसा भी काम कर जाएगा। हम परिवर्तन की बात सोचें, पुरुषार्थ के मर्म को समझें, अपनी शक्ति को पहचानें।

मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जिसमें इन चार बातों का विकास हुआ हैं–

१. शक्ति-बोध २. विवेक ३. संकल्प ४. मनोबल।

मनुष्य के अतिरिक्त किसी प्राणी में इनका विकास उपलब्ध नहीं है–

शक्तिबोधो विवेकश्च संकल्पश्च मनोबलः। पशु में शक्ति है, पर शक्ति का बोध नहीं है। विवेक तो है ही नहीं। एक पशु का पैर रस्सी से उलझ गया, वह उसे अलग नहीं कर सकता, इसलिए कि उसमें विवेक नहीं है। संकल्प की बात भी नहीं है और मनोबल भी नहीं है। देवता मनुष्य से ऊंचा माना जाता है। उसमें शक्ति है, शक्ति का बोध है, विवेक है, पर संकल्प शक्ति नहीं है। वह कोई त्याग नहीं कर सकता। सारी दुनिया में केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जिसे इन चारों का दुर्लभ योग मिला है।

सबसे पहले मनुष्य को अपनी क्षमता का बोध होना चाहिए। प्रेक्षाध्यान का और अध्यात्म का यह कार्य है कि मनुष्य में यह विश्वास पैदा करे, आस्था जगाए कि तुम अमुक काम कर सकते हो। तुम शराब को छोड़ सकते हो। तुम मांस खाना छोड़ सकते हो। तुम बुराइयों को छोड़ सकते हो। छोड़ने की ताकत तुम्हारे भीतर है। यह विश्वास पैदा करना परिवर्तन का पहला चरण है।

परिवर्तन का दूसरा चरण है–विवेक शक्ति को जागृत करना, हेय-त्याग की संकल्प शक्ति बहुत कमजोर है। आदमी संकल्प करना, त्याग करना, प्रतिज्ञा करना, नियम करना नहीं जानता। उसमें यह संकल्प शक्ति नहीं है कि मैं इस आदत को बदल दूं। हमारे भीतर त्याग की क्षमता है, छोड़ने की क्षमता है। उसके लिए संकल्प का प्रयोग कराया जाता है। हाथ नीचे है, उसे उठाना नहीं है। संकल्प का प्रयोग किया, हाथ अपने आप उठ कर दर्शन केन्द्र पर लग जाएगा। क्या आपने हाथ उठाया? आपने नहीं उठाया। आपके संकल्प ने आपके हाथ को उठाया है।

जिन लोगों ने प्रयोग किया है, वे जानते है कि संकल्प के द्वारा हाथ अपने आप उठने लग जाता है। यह माना जाता है कि सारी सृष्टि संकल्प से पैदा हुई है। संकल्प का बड़ा मूल्य होता है। संकल्प होने पर कल्पना मजबूत बन जाती है कि मुझे भी यह करना है। या तो मैं यह करूंगा या मरूंगा, इतना दृढ़ संकल्प पैदा हो जाता है तो असंभव लगने वाली बात संभव बनने लग जाती है। अघटित घटनाएं घटित होने लग जाती हैं।

परिवर्तन का चौथा चरण है–मनोबल। ध्यान के प्रयोग द्वारा मनोबल का विकास होता है, प्राण ऊर्जा का जागरण होता है। जब प्राण ऊर्जा मन के साथ जुड़ जाती है, तब हर संकल्प आचरण में बदल जाता है। शक्ति-बोध, विवेक, संकल्प और मनोबल–इन चारों का विकास मनुष्य में हो सकता है।

आदतों को बदलने के लिए हमें बहुत विशाल दृष्टि से देखना है, शब्दों की पकड़ से मुक्त होना है। शब्दों की पकड़ बहुत जटिल होती है, आदमी उसमें उलझ जाता है।

मुल्ला बहुत तर्कवादी था। उस पर किसी ने मुकद्दमा कर दिया। उसे मजिस्ट्रेट के सामने प्रस्तुत किया गया। मुल्ला सामने खड़ा था। मजिस्ट्रेट बोला–'मुल्ला! तुम तर्क में बहुत दक्ष हो। तुम्हारे तर्क से सब कतराते है। मैं भी कतराता हूं। देखो, हमें तर्क में नहीं उलझना है। मैं जो पूछूं, उसका उत्तर हां या ना–इन दो शब्दों में ही देना है। ज्यादा तर्क में जाओगे तो मामला बड़ा पेचिदा बन जाएगा। तुम्हारे लिए भी अच्छा नहीं है, मेरे लिए भी अच्छा नहीं है।'

मुल्ला–'यह बड़ा कठिन काम है।'

मजिस्ट्रेट–'कठिन को सरल बना लो।'

मुल्ला–'ऐसा हो नहीं सकता।'

मजिस्ट्रेट–'ऐसा क्यों नहीं हो सकता?'

मुल्ला–'क्योंकि मुझे अपनी बात स्पष्ट करने के लिए बहुत कुछ कहना होगा। केवल हां या ना में वैसा नहीं हो सकता।'

मजिस्ट्रेट–'मैं केवल हां या ना में उत्तर चाहता हूं।'

मुल्ला–'सुनिए, पहले मैं आपसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूं। क्या आप उसका उत्तर हां या ना में दे सकते हैं?'

मजिस्ट्रेट–'ऐसी क्या बात है? पूछो, मैं दे दूंगा।'

मुल्ला–'क्या आपने अपनी पत्नी को पीटना बंद कर दिया? केवल हां या ना में उत्तर देना है।'

मजिस्ट्रेट समझ गया। वह अगर कहे हां, बंद कर दिया, इसका मतलब है कि पहले वह पीटता था, अगर कहे ना तो इसका मतलब है कि अब भी वह उसे पीट रहा है।

शब्दों की पकड़ बड़ी मजबूत होती है। उसमें जकड़ा हुआ आदमी इधर-उधर नहीं हो सकता। हमें शब्दों की पकड़ से मुक्त होना है। जहां शब्दों की पकड़ होती है, केवल तर्क का जाल होता है, वहां संकल्प-शक्ति और मनोबल के विकास की संभावना नहीं की जा सकती। संकल्प-शक्ति और

मनोबल के अभाव में आदमी महान नहीं बन सकता। छोटे बच्चे को पूछें, चाहे किसी बड़े आदमी से पूछें–साधु बनोगे? उत्तर होगा–नहीं बन सकता। क्यों? एक आदमी साधु बन सकता है तो दूसरा क्यों नहीं बन सकता? इसलिए कि संकल्प शक्ति प्रबल नहीं है। जिसने अपनी संकल्प शक्ति को जगा लिया, वह हर आदमी साधु बन सकता है।

जिसने अपने मनोबल का विकास कर लिया, वह व्यक्ति असंभव लगने वाले काम को भी संभव कर लेता है। बड़ा ऑपरेशन करना है। डॉक्टर कहते हैं, व्यक्ति को मूर्च्छित करना होगा। डॉक्टर के इस परामर्श का प्रायः लोग समर्थन और अनुपालन करते हैं। एक व्यक्ति कहता है कि मूर्च्छित करने की कोई आवश्यकता नहीं है, जो करना है वह कर लो। कालूगणी के समय की बात है। मुनि कुंदनमलजी के मस्सा हो गया। उस समय डॉक्टर से ऑपरेशन नहीं कराते थे। मुनिश्री चौथमलजी ऑपरेशन कर रहे थे। उनके बहुत अधिक दर्द हो रहा था, फिर भी उन्होंने कहा–'चौथमलजी! कमी न रह जाए, जितना काटना है उतना काट लो।' एक ओर यह बात कह रहे हैं, दूसरी ओर भयंकर पीड़ा हो रही है। क्या यह संभव है? जिसमें संकल्प-शक्ति का विकास हो गया, मनोबल का विकास हो गया, उसके लिए यह संभव है। कायर, कमजोर आदमी के लिए बिल्कुल संभव नहीं है। ऐसे लोगों को भी देखा है कि ऑपरेशन किसी दूसरे का हो रहा है, थोड़ी सी चीर-फाड़ हो रही है, उसे देखने वाला चक्कर खाकर गिर जाता है।

हमारी क्षमता असीम है। जब हम इस सिद्धांत को मानकर चलते हैं कि व्यक्ति आत्मा से परमात्मा बन सकता है, फिर अपनी क्षमता में हम संदेह क्यों करें? अविश्वास क्यों करें? अनास्था क्यों करें? इससे बड़ा सत्य के प्रति अन्याय क्या होगा? इससे बड़ा सत्य को झुठलाने का उपक्रम क्या होगा? हमें सबसे पहले इस आस्था को मजबूत बनाना है कि आत्मा परमात्मा बन सकता है, बनता है। मैं वैज्ञानिक बात में बहुत विश्वास करता हूं, पर आस्था के चमत्कार को भी नहीं नकारता। हर वर्ष आस्था के चमत्कारों की सैकड़ों घटनाएं आती है। आंखों देखी घटना को झुठलाया भी कैसे जा सकता है?

दिल्ली चातुर्मास की घटना है। एक युवक आया, उसने कहा कि मैं गिर गया, मेरे फ्रेक्चर हो गया, हड्डी टूट गई। डॉक्टर को बुलाया, दिखाया। डॉक्टर ने कहा–'हड्डी बहुत टेढ़ी हो गई है। पक्का पट्टा बांधना है। तीन महीने

तक पट्टा रहेगा।' युवक ने सोचा कि सारा कारोबार बंद हो जाएगा। वह युवक मार्बल का व्यवसाय करता है। बड़ी समस्या है। तीन महिने तक तपस्या करनी पड़ेगी। तीन महिने का कायोत्सर्ग। बिल्कुल लेटे-लेटे रहना। आसन भी नहीं बदलना, चलना नहीं, उठना नहीं, हिलना नहीं। हताश हो गया, कैसे होगा? रात्रि में सोते-सोते संकल्प किया, 'हे भिक्षु स्वामी! मैं आपका भक्त हूं। मेरे मन में आपके प्रति असीम आस्था है। मुझे इस संकट से उबारें। यह कष्ट दूर होते ही मैं सिरियारी जाऊंगा, आपके नाम की सदैव माला फेरूंगा।' उसने अपनी अंतर की आस्था को प्रबल बनाया।

दूसरे दिन डॉक्टर को पुनः दिखाया। डॉक्टर ने एक्सरे किया, कहा–'तुम्हें पट्टा बांधने की जरूरत ही नहीं है। तुम्हारी हड्डी बहुत ठीक हो गई है।' उसने सोचा कि यह कैसे हो गया। कोई चमत्कार ही हुआ है। पांच-सात दिन में वह ठीक हो गया, घूमने लग गया और कुछ दिनों के बाद अणुव्रत विहार में दर्शन करने आ गया। आस्था की शक्ति इतनी प्रबल होती है कि जो व्यक्ति अपनी आस्था को जगाना जानता है, वह दूसरों के लिए चमत्कार जैसी स्थिति पैदा कर देता है। घटना तो वास्तविक होती है, पर दूसरों के लिए चमत्कार बन जाती है। आज का वैज्ञानिक जितना आस्थावान है, आज का धार्मिक उतना आस्थावान नहीं है। सोवियत वैज्ञानिकों ने बताया कि हमारी पृथ्वी पर एक ओजोन की परत है। वह परत हमें बचा रही है, जिंदा रख रही है। अगर ओजोन की परत नष्ट हो जाए तो अंतरिक्ष से आने वाली पराबैंगनी किरणें सभी को भस्म कर सकती हैं। वह ओजोन की परत उन अवांछनीय किरणों से हमारी रक्षा कर रही है। उस परत के कारण वे किरणें छन-छन कर आ रही हैं, जिससे सारी पृथ्वी के लोग जी रहे हैं। वैज्ञानिक परीक्षणों से पता चलता है कि ओजोन की परत में भी छेद होना शुरू हो गया है। इससे सारे लोग चिंतित हैं। सोवियत वैज्ञानिकों ने प्रस्ताव रखा कि 'हम ऑक्सीजन को वहां पहुंचा कर ओजोन के छेद को बंद कर देंगे।' ऑक्सीजन को दूर आकाश में पहुंचाना और फिर से ओजोन के छेद को भरना, असंभव जैसी बात लगती है, पर आज वैज्ञानिक इतना आस्थावान है, वह कभी संदेह नहीं करता कि यह नहीं होगा। अगर वैज्ञानिक संदेह करता तो आज विज्ञान का विकास नहीं होता।

धार्मिक को सबसे पहले आस्था का सूत्र पढ़ाया गया, श्रद्धा करना सिखाया गया, किंतु आज वह इस पाठ को भूल गया है। वह इतना शंकालु बन

गया है कि यह त्याग कर रहा हूं, समय पर पले या न पले, कहीं टूट न जाए। टूट जाए इससे तो अच्छा है त्याग ही नहीं करूं। हजारों-हजारों लोग ऐसे हैं, जो त्याग लेना नहीं चाहते। इसका कारण है त्याग के परिपूर्ण पालन में विश्वास न होना। यह भावना बाधक है कहीं अधूरा न रह जाए, कहीं बीच में न टूट जाए? संदेहशील होने के कारण वह छोड़ने की बात नहीं सोचता। आज धर्म के क्षेत्र में जो अनास्था की बात आ गई है, उसे बदलना बहुत जरूरी है। वह बात तभी बदली जा सकती है, जब व्यक्ति अपनी क्षमता का अनुभव करे, अपनी क्षमता को जगाए और अपने विश्वास को पैदा करे।

प्रेक्षाध्यान के द्वारा एक नया संकल्प जागे, कठिनाइयों को झेलने की क्षमता जागे, कष्टों को झेलने की ताकत पैदा हो। हम कतराएं नहीं, घबराएं नहीं। बदलने की बात सोचें। जो सबसे ज्यादा जटिल आदत है, उसको बदलने का संकल्प जागे। वह जागेगा तो व्यक्ति बदलेगा, समाज बदलेगा, राष्ट्र बदलेगा। नए व्यक्ति, नए समाज और नए राष्ट्र के निर्माण का सपना सच होगा।

१८. कर्म का कर्ता कौन?

दो समस्याएं सामने हैं। एक ओर है अहंकार की समस्या और दूसरी ओर है हीन भावना की समस्या। दोनों ओर समस्याएं हैं। कुछ लोगों ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया–'मैं ही हूं अपने भाग्य का निर्माता।' यह अहंकार को बढ़ाने का सिद्धांत लगा। कुछ विचारकों ने कहा–'मैं कुछ भी नहीं हूं, सबकुछ परमात्मा है। परमात्मा ही भाग्य का विधाता है, भाग्य का कर्ता है। वह जैसे चलाता है, वैसे चलता हूं। मेरा अपना स्वतंत्र अस्तित्व कुछ भी नहीं है।' इस सिद्धांत से अहंकार तो पुष्ट नहीं बना, किंतु हीन भावना की वृद्धि हुई है। दोनों ओर समस्याएं उभर गईं। एक ओर अहंकार का दैत्य खड़ा है तो दूसरी ओर हीन भावना का दानव तांडव नृत्य कर रहा है। आदमी दोनों के बीच किंकर्तव्यविमूढ़ होकर खड़ा है। कभी इधर झांकता है, कभी उधर झांकता है।

आत्मा ही कर्ता है

जैन दर्शन ने न अहंकार की बात को स्वीकारा और न हीन भावना की बात को स्वीकारा। उसने कहा–प्रत्येक कथन को अनेकांत की दृष्टि से देखो, नय की दृष्टि से देखो। आगम का वाक्य है–**अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य**–आत्मा ही सुख की कर्ता है और आत्मा ही दुःख की कर्ता है। **पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं**–पुरुष! तू ही तेरा मित्र है। इन आगम वाक्यों को एकांतदृष्टि से नहीं समझा जा सकता। इन्हें अनेकांतदृष्टि से ही समझा जा सकता है।

आचार्य भद्रबाहु और उत्तरवर्ती सभी जैन आचार्यों ने एक महत्त्वपूर्ण बात कही कि **णत्थि णयविहूणं जिणवयणं**–कोई भी जिनवचन ऐसा नहीं है, जो नयदृष्टि से निरपेक्ष हो। प्रत्येक कथन को नयदृष्टि से देखो, सचाई हाथ लग जाएगी। यदि नयदृष्टि को छोड़कर किसी वचन को समझना चाहोगे तो अहंकार बढ़ेगा या हीन भावना बढ़ेगी। या तो आग्रह पनपेगा या मिथ्या

दृष्टिकोण पनपेगा। इन दोनों से बचने के लिए अनेकांत दृष्टि का सहारा लेना आवश्यक होता है।

तर्कशास्त्र में कर्ता और भोक्ता की चर्चा है। जो कर्ता है, वही भोक्ता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व–ये दोनों एक में ही होते हैं। यह सिद्धांत बन गया, पर अनेकांतदृष्टि से विचार करने पर नय का सहारा लेना पड़ेगा। आदमी ने इस जन्म में एक कर्म किया। यहां से मरा और दूसरी योनि में चला गया। वह वहां अपने पूर्व कर्म का फल भोगता है। यहां अच्छा कर्म किया था तो देव बनकर उसका अच्छा फल भोग रहा है। यहां उसने बुरा कर्म किया था तो नारक या पशु बनकर उसका बुरा फल भोग रहा है। लगता है करने वाला कोई दूसरा था और भोगने वाला कोई दूसरा है। यहां एक समस्या उपस्थित हो जाती है। इसे समाहित करने के लिए नयदृष्टि से विचार करना होगा।

दृष्टि : द्रव्य और पर्याय

दो दृष्टियां है। एक है पर्याय या अवस्थांतर की दृष्टि और एक है द्रव्य की दृष्टि, मूलदृष्टि। पर्याय की दृष्टि से विचार करने पर यह फलित होता है कि जो कर्ता होता है, वह भोक्ता नहीं होता है। कर्ता दूसरा होता है और भोक्ता कोई दूसरा होता है, दोनों एक नहीं होते। द्रव्य की दृष्टि से विचार करने पर यह फलित होता है कि कर्ता और भोक्ता–दोनों एक हैं। जो कर्ता है, वही भोक्ता है। जो अच्छा-बुरा कार्य करता है, वही उनके अच्छे-बुरे का फल भोगता है। करने वाला कोई और, भोगने वाला कोई और ऐसा नहीं होता।

छोटा बच्चा था। सामने जहरीली गोली पड़ी थी। उसने खा ली। बचपन बीता। युवावस्था में उस जहर का तीव्र असर हुआ और वह आदमी बीमार हो गया। जहर तो खाया था बचपन में, अज्ञान अवस्था में और फल भुगत रहा है युवावस्था में। करने वाला तो अज्ञानी था, भोगने वाला ज्ञानी है। आदमी बुरा काम कर लेता है अज्ञान अवस्था में, किंतु उसका परिणाम ज्ञान की अवस्था में भुगतता है।

हम एकांत की दृष्टि से नहीं चल सकते कि जो कर्ता होता है, वही भोक्ता होता है। यह द्रव्य की दृष्टि है, किंतु पर्याय की दृष्टि से यह स्पष्ट है कि करने वाला तो अज्ञानी था, भोगने वाला ज्ञानी है। कुछेक व्यक्ति कहते हैं कि अज्ञान अवस्था में किया हुआ पाप नहीं होता। पाप हो या न हो, पर उसका परिणाम तो भोगना ही पड़ता है। केवल द्रव्यदृष्टि को ही न पकड़ें कि 'मैं ही मेरे भाग्य

का विधाता हूं।' नयदृष्टि को साथ रखना होगा। इसके बिना कठिनाइयों को पार नहीं किया जा सकता।

प्रभाव अनेक

'ठाणं' सूत्र में दो अवस्थाओं का उल्लेख हैं–भाविए, अभाविए–भावित और अभावित। एक है भावित अवस्था। व्यक्ति अनेक प्रभावों के बीच जी रहा है। कितने प्रभाव? एक साध्वीप्रमुखा का प्रभाव, फिर अग्रगामी साध्वी का प्रभाव और फिर सहगामी साध्वियों का प्रभाव। इतना ही नहीं, फिर देश, काल, भाव और वातावरण का प्रभाव, परिस्थिति का प्रभाव। इन सब बाह्य प्रभावों के अतिरिक्त और भी अनेक प्रभाव हैं। शरीर का प्रभाव, शरीर के इन रसायनों के प्रभाव, शरीर के आंतरिक अवयवों का प्रभाव और सबसे बड़ा प्रभाव है–सौरमंडल का प्रभाव। इस प्रकार प्रभावों को गिनते चले जाओ, बहुत लंबी तालिका बन जाएगी। इन प्रभावों के अतिरिक्त है चौमासे के क्षेत्र का प्रभाव, व्याख्यान में उपस्थित परिषद का प्रभाव, भिक्षा देने वालों का प्रभाव, अन्न-पानी का प्रभाव, श्रद्धा-पूजा करने वालों का प्रभाव। कितने प्रभाव! इतने प्रभावों के बीच जीवनयापन करना पड़ता है एक साध्वी को।

यह बात प्रत्येक साधु या व्यक्ति के लिए कही जा सकती है। अनेक-अनेक प्रभाव हैं। इन प्रभावों के बीच जीने वाला पूर्ण स्वतंत्र कैसे हो सकता है? कभी नहीं हो सकता। यह भी सच है कि इन प्रभावों को समाप्त नहीं किया जा सकता। बड़ी समस्या है। इस संदर्भ में हम अपने परतंत्र व्यक्तित्व को समझें कि हम कितने परतंत्र हैं?

'हम स्वयं अपने भाग्य के विधाता हैं'–इसका रहस्य क्या हो सकता है? इस रहस्य को समझने के लिए हमें भाग्य को समझना होगा, हमें नयदृष्टि से चलना होगा।

उपादान और निमित्त

कारण दो प्रकार के होते हैं–उपादान और निमित्त। उपादान होता है मूल कारण और निमित्त होता है बाहरी कारण। आचार्य कुन्दकुन्द ने इस पर बहुत विचार किया। उन्होंने कहा–आत्मा अपने भावों का कर्ता है। वह परभावों का कर्ता नहीं हो सकता। वह सुख-दुःख का कर्ता नहीं हो सकता। सुख-दुःख स्वभाव नहीं, परभाव है। वह तो हमारा संवेदन है। उसका कर्ता आत्मा नहीं हो सकता।

आज का आदमी 'पर' के आधार पर चलता है। यह सबसे बड़ी समस्या है। पत्थर से ठोकर खाकर आदमी सारा दोष पत्थर पर आरोपित कर देता है। आदमी 'पर' को देखता है, वह दोषों का आरोपण दूसरों पर करता है। वह अपना निरीक्षण कभी नहीं करता। वह सोचता है, उसने मेरा यह कर दिया, वह कर दिया। सारा आरोपण दूसरों पर करता है। एक संस्कृत कवि ने बहुत मार्मिक बात कही है, किंतु उसका प्रयोग नहीं हो रहा है। उसने लिखा–

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता।
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।

'सुख-दुःख देने वाला कोई नहीं है। यह मानना कि सुख और दुःख दूसरा कोई देता है, यह कुबुद्धि है।' आज प्रयोग इस कुबुद्धि का ही हो रहा है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरों पर आरोप करता है। हजार आदमी का सर्वेक्षण करने पर भी यही तथ्य सामने आएगा कि सब 'पर' पर आरोप करते हैं। सब यही सोचते हैं, उसने मुझे गिरा दिया। उसने मेरे काम में बाधा डाल दी। उसने यह किया। उसने वह किया। कोई भी आदमी यह नहीं सोचता कि मेरे अपने प्रमाद के कारण यह घटित हुआ है, यह बाधा आई है।

मूल क्या है?

आचार्य भिक्षु ने लिखा है, आदमी रसलोलुप होकर खूब खा जाता है। जीभ वश में नहीं रहती। बीमार हो जाता है। वैद्य के पूछने पर कहता है कि मौसम ठीक नहीं है। आज वैसा हो गया। आज ऐसा हो गया। वह यह कभी नहीं कहेगा कि मेरी लोलुपता ने इस बीमारी को निमंत्रण दिया है। मैंने डटकर खा लिया, ऐसा कभी नहीं कहेगा।

एक मार्मिक श्लोक है। उसमें अनेक सत्य प्रकट हुए हैं। कहा है–

लोभमूलानि पापानि, रसमूलानि व्याधयः।
स्नेहमूला यतः शोकाः, त्रीणि त्यक्त्वा सुखी भवेत्॥

प्रश्न हुआ कि पाप का मूल क्या है? उत्तर में कहा गया कि पाप का मूल है लोभ। हमारे जीवन केन्द्र में लोभ बैठा है और सब पाप परिधि में हैं। केन्द्र में है लोभ और शेष सब दोष या पाप उसकी परिक्रमा करते हैं। जब सब पाप नष्ट हो जाते हैं, तब लोभ समाप्त होता है।

जैन दर्शन के अनुसार कषाय चार हैं–क्रोध, मान, माया, लोभ। प्रथम

तीन कषाय नौवें गुणस्थान तक समाप्त हो जाते हैं और लोभ दसवें गुणस्थान में समाप्त होता है। लोभ केन्द्र में है। वह सारे पाप कराता है। यही सब पापों की जड़ है। एक दृष्टि से कहा जा सकता है कि राग सब पापों की जड़ है। लोभ उसकी प्रतिक्रिया है। वह मूल पाप नहीं है, मूल पाप है राग।

व्याधियों का मूल है रसलोलुपता। इसीलिए कहा गया–रसमूलानि व्याधयः। खाने का असयंम, लोलुपता बीमारी पैदा करती है। अनेक बीमारियों का यही एकमात्र कारण है। बहाने अनेक बनाए जा सकते हैं, परंतु खाने के बारे में सम्यक् ज्ञान नहीं होता, असंयम बरता जाता है, तब बीमारी पैदा होती है। शोक का मूल है स्नेह–स्नेहमूला यतः शोकाः। शोक करना नहीं पड़ता, वह होता है, क्योंकि भीतर में स्नेह काम कर रहा है। स्नेह शोक का जनक है। हर प्रकार के शोक के पीछे स्नेह का प्रवाह रहता है।

इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति लोभ से भावित है, रस से भावित है और स्नेह से भावित है। इस स्थिति में **अप्पा कत्ता विकत्ता य**–यह बात कैसे समझ में आ सकती है। आत्मकर्तृत्व की समस्या क्यों है? कर्तृत्व के विघ्न क्या हैं? आत्मकर्तृत्व की बात को एक बार छोड़ दें।

हम पुरुषार्थ को प्रज्वलित करने की बात सोचें। आज प्रत्येक क्षेत्र में बाधाओं और विघ्नों की कोई कमी नहीं है। हजारों-हजारों विघ्न हैं। हजारों-हजारों बाधाएं है। उनका पार हम कैसे पाएं? उन पर हम अपना प्रभुत्व कैसे जमाएं?

किसका शासन?

अध्यात्म के आचार्यों ने इस प्रश्न के उत्तर में कहा–'उपादान को प्रबल करो, निमित्त को क्षीण करो।' दो दृष्टियां हैं। एक है उपादान को मानने वाली दृष्टि और दूसरी है निमित्त को मानने वाली दृष्टि, परिस्थिति या वातावरण को मानने वाली दृष्टि। जब तक हमारी दृष्टि 'पर' पर टिकी रहेगी, तब तक उपादान कमजोर होता चला जाएगा।

ऐलोपैथिक चिकित्सा पद्धति में दो बातें हैं–एक है दवा और दूसरी है रोग-निरोधात्मक शक्ति। दवा तब तक ही काम करती है, जब तक शरीर में रोग-निरोधात्मक शक्ति है। जब यह शक्ति कमजोर हो जाती है तब दवा कुछ भी असर नहीं कर पाती।

जब उपादान शक्ति जागृत होती है, तब अप्पा कत्ता विकत्ता य–यह सिद्धांत उदित होता है। उपादान की दृष्टि निश्चय नय की दृष्टि है। आचार्य भिक्षु ने इस विषय पर बहुत लिखा। वे भी निश्चय दृष्टि पर चलने वाले थे। अध्यात्म पथ का प्रत्येक पथिक निश्चय नय पर चलेगा, फिर चाहे आचार्य कुन्दकुन्द हों, आचार्य हरिभद्र हों या आचार्य भिक्षु हों। कोई भी हो। निश्चय नय अध्यात्म की दृष्टि है। उसका प्रतिपाद्य है कि आत्मा अपने भावों का कर्ता है। इस स्थिति में उपादान प्रबल होता है और वह निमित्तों पर प्रशासन करने लग जाता है। निमित्त पर प्रशासन करने का एकमात्र उपाय है, उपादान को जागृत करना। उपादान को प्रबल बनाओ, निमित्त कमजोर हो जाएंगे। निमित्तों को प्रबल बनाओ, उपादान कमजोर हो जाएगा।

एक शिष्य ने गुरु से कहा–'गुरुदेव! यह चट्टान इतनी विशाल और मजबूत है, क्या इस पर किसी का शासन है?' गुरु ने कहा–'इस पर शासन है लोहे के हथौड़े का। जब हथौड़ा और छेनी चलती है, तब चट्टान चूर-चूर हो जाती है।'

'गुरुदेव! लोहा इतना मजबूत है तो क्या उस पर भी किसी का शासन है?'

'हां, अग्नि उस पर शासन करती है। लोहा अग्नि से पिघल जाता है। वह पानी बन जाता है।'

'गुरुदेव! आग इतनी शक्तिशाली है तो क्या उस पर भी किसी का शासन है?'

'हां, पानी अग्नि पर शासन करता है। प्रज्वलित आग को पानी बुझा देता है।'

'पानी पर किसका शासन है?'

'वायु पानी पर शासन करता है। आकाश में कितनी ही घनघोर घटा उमड़ी हो, हवा उसको एक क्षण में बिखेर देती है, छिन्न-भिन्न कर देती है।'

'वायु पर किसका शासन है?'

वायु पर संकल्प-शक्ति का शासन है। हम संकल्प-शक्ति के द्वारा उस पर नियंत्रण कर सकते हैं।

कैसे करें उपादान को प्रबल?

संकल्प-शक्ति बहुत बड़ी शक्ति है। श्वास प्रेक्षा से संकल्प-शक्ति का विकास होता है। बड़े आश्चर्य की बात है कि एक मिनट में पचास-साठ श्वास भी लिए जा सकते हैं और एक मिनट में एक श्वास भी लिया जा सकता है।

यह सारा होता है संकल्प-शक्ति के आधार पर। संकल्प कर लिया कि एक मिनट में एक ही श्वास लेना है तो वैसा घटित हो जाएगा। संकल्प-बल श्वास का नियंत्रक है। जब संकल्प-शक्ति, इच्छाशक्ति और एकाग्रता की शक्ति का विकास होता है तो उपादान प्रबल होता है।

हम उपादान को शक्तिशाली बनाने के उपाय पर ध्यान दें और साथ-साथ निमित्तों को गौण करें। इसके उपाय को जान लेना भी जरूरी है।

सौरमंडल के विकिरणों से आदमी बहुत प्रभावित होता है। ज्योतिष का आधार भी यही है। सौरमंडल का प्रभाव बहुत प्रबल होता है। मैं तो यह कहना नहीं चाहता कि प्रत्येक व्यक्ति को ज्योतिष के चक्कर में पड़ना चाहिए, पर इतना अवश्य सुझाना चाहता हूं, एक उपाय के रूप में कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने भविष्य के बारे में जानकारी होनी चाहिए। कब, किस समय, कैसा समय बिताना है, उसका क्या उपाय करना है, इसकी जानकारी होनी चाहिए। इस जानकारी से अनेक लाभ मिल सकते हैं।

नमस्कार महामंत्र का जप, इष्टदेव का जप, आचार्यों के नाम का जप–ये सारे जप आने वाले प्रभावों से व्यक्ति को बचाते हैं। इनसे प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास होता है। जो प्रतिरोधात्मक शक्ति से शून्य होता है, वह अपना विकास नहीं कर सकता। जो अपना सारा समय गप्पों मे बिताता है, प्रमाद और आलस्य में बिताता है, उसकी प्रतिरोधात्मक शक्ति चुक जाती है। वह प्रभावों से बचने के लिए कवच का निर्माण नहीं कर सकता। व्यक्ति इतने प्रभावों से घिरा हुआ है तो क्या सुरक्षा-कवच का निर्माण आवश्यक नहीं होता?

आगमों का कथन है कि व्यंतर और भूत-प्रेत उसी को सताते हैं, जो प्रमादी होता है। जो प्रमाद नहीं करता, उसे कोई नहीं सताता।

पार्श्वनाथ की परंपरा के एक संत थे मुनि सुदर्शन। वे तपस्वी, स्वाध्यायी और ध्यानी थे। कायोत्सर्ग सधा हुआ था। एक बार सुकर्ण कापालिक ने उन्हें जलाने के लिए एक तांत्रिक प्रयोग किया। मुनि सुदर्शन अपने साथी संतों के साथ पादविहार में थे। उस समय कापालिक ने महाज्वाला का प्रयोग किया। महाज्वाला चली, रास्ते में एक वृद्ध संत को जला डाला।

मुनि सुदर्शन को तांत्रिक प्रयोग का आभास हुआ। उन्होंने अपने साथ वाले संतों से कहा–सब कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित हो जाएं। मुनि सुदर्शन ने भी कायोत्सर्ग किया। एक वलय बन गया। महाज्वाला आई। उसने उस वलय के

चारों ओर चक्कर काटा, पर भीतर प्रवेश पाने में वह असमर्थ रही। सब मुनि कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित थे। महाज्वाला का यत्न व्यर्थ गया। वह मुड़ी और सुकर्ण कापालिक के पास पहुंच उसे अर्द्धदग्ध कर डाला। उपद्रव मिट जाने पर कायोत्सर्ग पूरा कर सभी मुनि चले गए।

कायोत्सर्ग और प्रतिरोधात्मक शक्ति

कायोत्सर्ग प्रतिरोधात्मक शक्ति को विकसित करने का उपाय है, जो व्यक्ति निरंतर स्वाध्याय, ध्यान, जप आदि में रत रहता है, प्रमाद नहीं करता, वह प्रतिरोधात्मक शक्ति को जागृत कर लेता है। वही व्यक्ति अप्पा कत्ता विकत्ता य के अनुसार आत्मकर्तृत्व को समझ सकता है। जो निरंतर प्रमाद में रहता है, वह इस सिद्धांत को कैसे समझ पाता है? उसने तो आत्मा को गौण ही कर डाला। उसकी आत्मा पर प्रमाद का भूत-प्रेत सवार हो गया।

समूचा धर्म-प्रवचन अप्रमाद, जागरण के लिए होता है। अप्रमाद का अर्थ है–प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास, उपादान का विकास या सुरक्षा-कवच का निर्माण। जो सुरक्षा-कवच का निर्माण कर मंत्र-साधना करता है, उसके मार्ग में कोई उपद्रव नहीं आता, कोई विघ्न नहीं आता।

यदि हमें अपने कर्तृत्त्व को विकसित करना है और 'मैं अपने भाग्य का विधाता हूं'–इस तथ्य को हृदयंगम करना है तो निरंतर अप्रमाद की साधना करनी होगी। हमारा भाग्य विधाता अप्रमाद हैं। जो अप्रमत्त नहीं है, दूसरे के प्रभावों से घिरा हुआ है, उसके लिए 'मैं ही अपने भाग्य का विधाता हूं'–यह सूत्र कार्यकर नहीं होता। उसके लिए सूत्र होगा–'दूसरे ही तेरे भाग्य के विधाता हैं।'

जो व्यक्ति प्रारंभ से ही अप्रमत्त रहता है, जागरूक होता है, वह अपने भाग्य का विधाता बन जाता है और जो प्रारंभ से प्रमादी होता है, जागरूक नहीं होता, जीवनभर उसका भाग्य-विधाता दूसरा बना रहता है।

१९. वर्तमान की पकड़

हमने 'अतीत से बंधा वर्तमान' और 'अतीत से मुक्त वर्तमान'–इन दोनों की चर्चा की। क्या अतीत की पकड़ से मुक्त हुआ जा सकता है? उससे मुक्त होने का उपाय क्या है? हमें उपाय की खोज करनी है। जो उपाय को नहीं जान सकता, वह अपाय को नहीं मिटा सकता। अपाय का अर्थ है, विघ्न। आदमी अपाय को छोड़ना चाहता है। उपाय के बिना अपाय का निरसन नहीं किया जा सकता। प्रत्येक अपाय को मिटाने के लिए उपाय अपेक्षित होता है। वह आचार्य सफल आचार्य होता है, जो उपाय को जानता है। वह गुरु सफल गुरु होता है, जो उपाय को जानता है। जो उपाय को नहीं जानता, वह यथार्थ में न आचार्य होता है और न गुरु होता है। वह न डॉक्टर होता है और न वैद्य। वह न अनुशास्ता हो सकता है और न नेतृत्व करने वाला नेता। उपाय का ज्ञान अपेक्षित होता है। जो उपायों को जितनी सूक्ष्मता से जानता है, वह उतना ही सफल हो सकता है। डॉक्टर के पास रोग का उपाय न हो तो रोगी निराश हो जाता है। गुरु के पास उपाय न हो तो शिष्य निराश हो जाता है। शिष्य गुरु के पास आकर पूछता है–'क्रोध, अहंकार और कामवासना सताती है। इससे बचने के उपाय बताएं।' यदि आचार्य कहे कि मैं इनसे छुटकारा पाने का उपाय नहीं जानता तो वास्तव में वह आचार्य नहीं हो सकता। आचार्य का काम है उपाय को जानना। जितने अपाय हैं, उन सबका उपाय जानना और समाधान देना। उपायों को जानने वाला ही वास्तव में समाधान दे पाता है और शिष्य की अस्वस्थ मनोवृत्ति को स्वस्थ बना सकता है।

व्यक्ति को उपाय-कुशल होना चाहिए। उपाय-कुशल वह होता है, जो उपाय को जानता है और उसके प्रयोग में कुशल होता है। उपाय को जानना ही पर्याप्त नहीं माना जा सकता। उसका प्रयोग ही वांछित फल ला सकता है। आज के दार्शनिक का यही हाल है कि वे दर्शन को जानते हैं, पर उनका

प्रायोगिक पक्ष अत्यंत दुर्बल है। इसीलिए आज के दार्शनिक क्षेत्र में एप्लाइड फिलॉसफी की शाखा का विकास हुआ है। वह दर्शन ज्यादा उपयोगी होता है, जिसमें प्रयोग की बात अधिक होती है। केवल सिद्धांत की चर्चा उतनी कार्यकर नहीं होती, व्यावहारिक नहीं होती। दर्शन वह होता है, जो जीया जा सके, जीवन में उतारा जा सके, वर्तमान में उसका प्रयोग हो सके। वह दर्शन किस काम का, जो मरने के बाद काम आए। वैसा दर्शन हमें अधिक प्रभावित नहीं कर सकता। वही दर्शन हमें प्रभावित कर सकता है, जो जीते-जी हमारे काम आता है।

अपाय-निरसन के उपाय

अपाय को निरस्त करने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं–उपाय की खोज, उपाय की पूरी जानकारी, उपाय को प्रयुक्त करने की कुशलता।

अपाय को मिटाने के अनेक उपाय हैं। उनमें एक है वर्तमान की पकड़। अतीत से मुक्त होने का एक उपाय है वर्तमान की पकड़। हम वर्तमान को जितना पकड़ पाएंगे, अतीत के प्रभावों से उतने ही मुक्त होते चले जाएंगे। अतीत की काली छाया हर व्यक्ति पर है। जैसे शरीर की छाया हमारे साथ-साथ चलती है, वैसे ही अतीत की छाया भी हमारे साथ-साथ चल रही है। हम शरीर की छाया को देख पाते हैं, पर अतीत की छाया को नहीं देख पाते, फिर भी वह हमारे साथ निरंतर बनी रहती है। उस छाया से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है वर्तमान की पकड़।

वर्तमान पर आज के आदमी की पकड़ नहीं है। आदमी वर्तमान में जीता है, श्वास लेता है, वर्तमान में रहता है, हर काम वर्तमान में करता है, फिर भी वास्तव में वह वर्तमान में नहीं जीता। वह वर्तमान में जीना जानता ही नहीं। जो व्यक्ति प्रमत्त होता है, वह वर्तमान में नहीं जीता। जो व्यक्ति अप्रमाद में रहता है, जागरूक रहता है, वही वर्तमान में जीता है। आप अपने जीवन का लेखा-जोखा करें। कम से कम एक दिन का, प्रातःकाल उठते हैं तब से लेकर सोते हैं, तब तक का पूरा लेखा-जोखा रखें। उठते ही पहले क्षण में जो विचार आएं, उन्हें नोट करें और फिर पूरे दिन में क्या-क्या सोचा, क्या-क्या किया, इसको नोट करें। उनको देखें, पता चलेगा कि आपने अतीत का जीवन कितना जीया और वर्तमान का कितना जीया। यह भी ज्ञात हो जाएगा कि भविष्य का जीवन कितना जीया और वर्तमान का जीवन कितना जीया।

यदि आंकड़े निकाले जाएं तो यह निश्चित रूप से ज्ञात हो जाएगा कि आदमी मुश्किल से घंटा, आधा घंटा वर्तमान का जीवन जीता है, शेष तेईस घंटे वह अतीत या भविष्य का जीवन जीता है। आदमी को एक ओर स्मृतियां घेरे हुए हैं और दूसरी ओर कल्पनाएं घेरे हुए हैं। अतीत की स्मृतियां और भविष्य की कल्पनाएं–दोनों साथ-साथ चलती हैं। आदमी निरंतर स्मृतियों से घिरा रहता है। वह कुछ भी करे, स्मृतियों के घेरे को तोड़ नहीं पाता। इन स्मृतियों के सातत्य से वर्तमान खो जाता है, छूट जाता है। स्मृतियों की शृंखला इतनी लंबी है कि बेचारा वर्तमान नीचे दब जाता है। उसका कहीं पता नहीं चलता। कर्तव्य का भी पता नहीं चलता। आदमी सहसा कह देता है–'भई! मैं तो भूल गया।' यह गलत प्रयोग है। आदमी भूलता कहां है? यदि हम सूक्ष्मता से देखें तो पता लगेगा कि आदमी भूलता नहीं, किंतु दूसरी स्मृति उसे दबोच लेती है और पहली बात नीचे दब जाती है। आदमी भूलता नहीं, किंतु दूसरी स्मृति के वशीभूत हो जाता है। यदि आदमी स्मृति-संयम का अभ्यास कर लेता है तो वह वर्तमान में जी सकता है। कल्पना का संयम करने पर वर्तमान में जीया जा सकता है। जो वर्तमान में जीना सीख लेता है, वह अनेक समस्याओं से बच जाता है।

शिविर में भाग लेने वाले, ध्यान करने वाले कहते हैं कि बड़ा आनंद आता है। इस बात पर वे लोग विश्वास नहीं करते, जो ध्यान नहीं करते। जीवन के पग-पग पर आनंद है, पर वह स्मृतियों के बोझ से दबा रहता है। कल्पना के नीचे दबा रहता है। ध्यान-काल में स्मृतियों और कल्पनाओं को उभरने का मौका नहीं मिलता। उसमें वर्तमान में जीने का अवसर मिलता है, तब पता चलता है कि जिस आनंद की खोज हम बाहर कर रहे थे, वह आनंद हमारे भीतर है। दो बातें हैं–एक है बाहर से आना और दूसरी है जो भीतर है, उसका पता लग जाना।

'कस्तूरी मृग नाभि मांहि, वन-वन फिरत उदासी', 'पानी में मीन पियासी'–ये उक्तियां इस तथ्य को स्पष्ट करती हैं कि आनंद भीतर पड़ा है, पर आदमी उसे जान नहीं पाता। कस्तूरी की सुगंध आती है तो मृग उस सुगंध में लुब्ध होकर उसे खोजने इधर-उधर दौड़ता है। वह नहीं जानता कि कस्तूरी उसी की नाभि में विद्यमान है और उसी की गंध आ रही है। इसी प्रकार आनंद आदमी के घट में भरा पड़ा है, पर वह उसे बाहर ही बाहर ढूंढ़ता है। आनंद

भीतर है, किंतु उस पर इतने आवरण आ गए, उस ज्योति पर इतनी राख आ गई कि ज्योति का कहीं पता ही नहीं चल पाता। ज्योति का प्रकाश नहीं है, वह राख से ढकी हुई है। ध्यान का प्रयोग है उस राख को हटाने का प्रयोग। जब स्मृति और कल्पना का आवरण हट जाता है, तब वास्तविकता उद्घाटित हो जाती है।

एक भक्त योगी के पास गया। उसने कहा–'महाराज! अब आप ही मुझे बचा सकते हैं। दर-दर भटका हूं। अंतिम शरण में आया हूं। अत्यंत दीन-हीन अवस्था में जी रहा हूं। बहुतों की शरण ली, पर सर्वत्र धोखा ही धोखा मिला। अब आपके पास आया हूं। मेरी झोली भर दें।' संन्यासी पिघल गया। उसने कहा–'सामने जो थैला टंगा हुआ है, उसमें एक पत्थर है। वह ले जाओ, बेड़ा पार हो जाएगा।' भक्त उठा। उस पत्थर को निकाला। पूछा–'इस पत्थर का क्या करूंगा?' संन्यासी बोला–'यह पत्थर नहीं है, पारसमणि है। इससे लोहा सोना बनता है।' भक्त ने पूछा–'कैसे?' संन्यासी ने उसी झोले में से चिमटा निकाला, पारसमणि से उसे छुआ, वह सोने का हो गया। भक्त बोला–'यह धोखा है। यह तो आपके हाथ की करामात है। चिमटा और मणि दोनों थेले में ही तो थे। इतने दिन तक यह सोने का क्यों नहीं हुआ?' संन्यासी ने कहा–'भक्त! तुम नहीं समझे। अभी तक पारसमणि एक कपड़े में लपेटा हुआ था। उस पर कपड़े का आवरण था। वह हटा और लोहा सोना बन गया।'

आनंद पर आवरण

हमारे आनंद पर भी दो मुख्य आवरण हैं। एक है कल्पना का आवरण और दूसरा है स्मृति का आवरण। ये दोनों आवरण जब हट जाते हैं, तब आनंद की अनुभूति होने लग जाती है। मैं नहीं कहता कि कल्पना और स्मृति सर्वथा अनावश्यक हैं। इनका भी जीवन में उपयोग है। स्मृति के बिना जीवनयात्रा नहीं चलती और कल्पना के बिना जीवन का विकास नहीं होता। सामाजिक जीवन को चलाने तथा उसको विकसित करने के लिए स्मृति और कल्पना आवश्यक हैं। दोनों जितनी आवश्यक हैं, उतनी उपयोगी भी हैं, पर आज का आदमी अनावश्यक स्मृति और कल्पना में अपना जीवन बिता रहा है। आवश्यक स्मृति और कल्पना का काल बहुत छोटा होता है। अनावश्यक स्मृति और कल्पना में ही अधिक काल बीत रहा है। इसीलिए वर्तमान की पकड़ छूट जाती

है। जब वर्तमान की पकड़ मजबूत होती है, तब अतीत और भविष्य की पकड़ ढीली हो जाती है।

प्रेक्षाध्यान में स्मृति और कल्पना का भी उपयोग है कांटे से कांटा निकलाने के लिए। कांटा चुभना एक बात है और उस कांटे को दूसरा कांटा चुभाकर निकालना दूसरी बात है। चढ़ने की और उतरने की सीढ़ियां दो नहीं होतीं, एक ही होती हैं। सीढ़ियों में अंतर नहीं होता, अंतर होता है पैरों के स्नायुओं में। चढ़ते समय पैरों के स्नायुओं की क्रिया एक प्रकार की होती है और उतरते समय दूसरे प्रकार की होती है। आरोहण और अवरोहण की क्रिया में अंतर आ जाता है। क्या हंसने और रोने की आंखें दो होती हैं? नहीं, आदमी जिन आंखों से हंसता है, उन्हीं से रोता है, पर क्रिया में अंतर आ जाता है। एक उलझाने वाली क्रिया होती है और एक सुलझाने वाली क्रिया होती है। एक स्मृति और कल्पना उलझा देती है, उन्हें दूसरी स्मृति और कल्पना सुलझा देती है। सुलझाने वाली स्मृति और कल्पना वर्तमान की ओर ले जाती है। स्मृति-संयम और कल्पना-संयम दोनों साथ-साथ होने चाहिए। इसीलिए हमने प्रेक्षा के साथ अनुप्रेक्षा को जोड़ा है। इससे स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रस्थान हो सकता है।

स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा

ध्यान का प्रयोग है स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना। स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने की प्रक्रिया का विकास अध्यात्म ने किया है तो विज्ञान ने भी किया है। वह निरंतर सूक्ष्म की ओर बढ़ने का प्रयास कर रहा है। यदि वह स्थूल में ही अटक जाता तो वह निश्चित ही भटक जाता। उसका इतना विकास नहीं होता। हम इसे एक रोग के उदाहरण से समझें। प्राचीन काल में हिस्टीरिया के रोग को भूत-प्रेत का आवेश मान लिया जाता था और इसके निवारण के लिए अनेक कठोर और अमानवीय प्रयत्न किए जाते थे।

जब चिंतन का विकास हुआ, आदमी कुछ सूक्ष्मता में गया तो उसे ज्ञात हुआ कि यह भूत-प्रेत की बीमारी नहीं है। यह शरीर की बीमारी है। खोज होती गई और आज यह माना जाने लगा है कि यह केवल शरीर की बीमारी नहीं है, मन और शरीर दोनों की बीमारी है–साइकोसोमेटिक बीमारी है। शरीर में हम दवाइयां उंडेलते जा रहे हैं। बीमारी कहीं है और दवाई किसी को दी जा रही है। दागना था ऊंट को, पर उस तक हाथ नहीं पहुंचा, इसलिए पास में खड़े बैल को ही दाग दिया।

आज शरीर-विज्ञान और रोग-विज्ञान ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि अधिकांश बीमारियां मानसिक होती हैं। वे शरीर में अभिव्यक्त होती हैं, पर शरीर की बीमारियां नहीं हैं, मन की बीमारियां हैं। मैं इससे आगे की बात कहता हूं कि बीमारियों का मूल मन भी नहीं है। तीन शब्द हैं–व्याधि, आधि और उपाधि। शरीर की बीमारी को व्याधि और मन की बीमारी को आधि कहते हैं। इनसे भी आगे है–उपाधि। यह है भावना में होने वाली बीमारी। हमारे भाव-संस्थान के चार घटक हैं–क्रोध, मान, माया और लोभ। इस भाव-संस्थान में सारी बीमारियां जन्म लेती हैं। व्याधि और आधि से आगे उपाधि में जाने पर ही वास्तविकता का सूत्र हस्तगत होगा।

यह है स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रस्थान। यही है सचाई को जानने का रास्ता। जो स्थूल में अटक जाते हैं, वे आगे नहीं बढ़ पाते। जो आगे से आगे खोज नहीं करते, परीक्षण नहीं करते, वे कभी आगे नहीं बढ़ सकते। ध्यान की प्रक्रिया खोज की प्रक्रिया है। व्यक्ति अपने आपको खोजता है, अपने भीतर में जाता है, गहराइयों में जाता है, परीक्षण करता है, निरीक्षण करता है और इस प्रक्रिया से वह सचाई तक पहुंच जाता है और तब विवेक जागृत हो जाता है।

प्रेक्षा का प्रयोजन है विवेक। संश्लेष नहीं, विश्लेष। एकत्व नहीं, विवेचन। जब तक विवेचन की शक्ति नहीं जागती, तब तक विकास नहीं होता। नमक भी सफेद होता है और कपूर भी सफेद होता है, पर दोनों का उपयोग भिन्न-भिन्न होता है।

आचार्य भिक्षु ने कहा–कुछ लोग, जो सफेद और तरल होता है, उसे दूध समझ लेते हैं। गाय का दूध, भैंस का दूध, आक का दूध और थूहर का दूध-चारों प्रकार के दूध तरल होते हैं और सफेद होते हैं, पर आदमी को यह विवेक तो होना ही चाहिए कि कौन-सा दूध किस काम में आ सकता है। यह विवेक की शक्ति जागृत होनी ही चाहिए।

हमें विवेक करना है कि चेतना कहां है और कर्म का प्रभाव कहां है? हमें चेतना से कर्म का विश्लेषण करना है, विवेक करना है। दोनों का पृथक्करण करना है। विवेक जागृति के पश्चात् हम जितना चेतना का अनुभव करेंगे, उतने ही वर्तमान में रहेंगे। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि चेतना का अनुभव करना वर्तमान की पकड़ है। हम ऐसा भी कह सकते हैं कि वर्तमान की पकड़ का अर्थ होता है चेतना का अनुभव।

चैतन्य का अनुभव करना, आत्मबोध करना और शुद्ध आत्मा का दर्शन करना, यह विवेकसूत्र यदि हस्तगत हो जाता है तो अनेक समस्याएं समाहित हो जाती हैं। आंखों का काम है, जो भी सामने आए उसे देखना, पर देखने के पीछे निरंतर हमारी दृष्टि यह रहे कि जिसे देख रहा हूं, वही शुद्ध आत्मा है। जब प्रत्येक व्यक्ति में शुद्ध आत्मा के दर्शन की चेतना जाग जाती है, इसका अर्थ होता है कि प्रत्येक व्यक्ति अनेक विकृतियों से छुटकारा पा लेता है। यह विवेक जागना चाहिए। विवेक-जागरण के बिना आदमी सारी स्थितियों को एक-सा मान लेता है और तब अनेक गड़बड़ियां हो जाती हैं।

एक व्यक्ति रेल में यात्रा कर रहा था। अचानक उसका अंगूठा दरवाजे के बीच में आया और थोड़ा कट गया। वह जोर से चिल्ला उठा। पास में बैठे एक व्यक्ति ने कहा–'अरे, अंगूठा थोड़ा कटा और इतने जोर से चिल्ला उठे। अभी एक सप्ताह पहले एक व्यक्ति रेल के नीचे आकर कट गया, पर उसने चूं तक नहीं किया और तुम अंगूठा कट गया, इसलिए चिल्ला रहे हो?'

दोनों स्थितियों में आकाश-पाताल का अंतर है, पर विवेक के अभाव में आदमी दोनों को एक मान लेता है, इसलिए विवेक-जागरण बहुत आवश्यक है।

२०. परिवर्तन का सूत्र

कर्मवाद भारतीय दर्शन का महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। उस पर बहुत चर्चा हुई है। अब हम उसकी निष्पत्ति पर विचार करें कि कर्मवाद को जिस रूप में समझा गया, क्या वह उचित है अथवा उसको किस रूप में समझा जाना चाहिए? ऐसा प्रतीत होता है कि कर्मवाद के विषय में अनेक मिथ्या मान्यताएं चल पड़ीं और उनके फलस्वरूप अनेक त्रुटिपूर्ण धारणाएं घर कर गईं।

यथार्थ में कर्मवाद निराशा का सूत्र नहीं है। वह परितर्वन का सूत्र है। मनुष्य को बदलना चाहिए। यदि बदलने की बात छूट जाती है तो आदमी भी गड्ढा बन जाता है, वैसा गड्ढा जिसमें पानी भरा रहता है और सड़ान पैदा कर देता है। नदी का प्रवाह बहता रहता है, पानी चलता रहता है, उसमें कभी सड़ान पैदा नहीं होती। जब पानी प्रवहमान न रहकर, गड्ढे में गिर जाता है, तब गंदला हो जाता है, दुर्गंधमय हो जाता है।

जीवन एक प्रवाह है। वह निरंतर प्रवाहित रहता है तो निर्मल बना रहता है। जब वह रूढ़ हो जाता है, जब रूढ़िवादी परंपराएं या मान्यताएं उसे जकड़ लेती हैं तब जीवन में भी सड़ान पैदा हो जाती है। आज के सामाजिक और वैयक्तिक जीवन में ऐसा प्रतीत होता है कि सड़ान पैदा हो गई है। इसका कारण है, हमने परिवर्तन के सूत्र को खो दिया या उसको दूसरे रूप में पकड़ लिया।

कर्मवाद की मूल्यवत्ता

जो व्यक्ति कर्मवाद को हृदयंगम कर लेता है, उसके मर्म को समझ लेता है, वह कहीं भी रूढ़िवादी नहीं हो सकता। वह बुराइयों से अपने आपको बहुत बचा लेता है। कर्मवाद का एक सूत्र है अच्छे कर्म का अच्छा फल और बुरे कर्म का बुरा फल। यह सूत्र हमारी नैतिक मान्यताओं तथा अवधारणाओं का आधार बनता है। जब यह धारणा होती है कि बुरे कर्म का बुरा फल तो आदमी को बुराई से बचने का अवसर मिलता है। इस स्थिति में

कभी-कभी एक प्रश्न आता है कि क्या भारत में कोई कर्मवादी आदमी है? क्या कर्मवाद को स्वीकार कर चलने वाला कोई है? कर्मवाद को मौखिक रूप में स्वीकार करने वाले मिलेंगे, पर कर्मवाद के मर्म को हृदयंगम कर चलने वाले, उसको जीवन में अनुस्यूत कर चलने वाले लोग कम मिलेंगे।

कर्मवाद को स्वीकार करने वाला भ्रष्टाचार नहीं कर सकता। वह अनैतिक या अप्रामाणिक व्यवहार नहीं कर सकता। वह प्रलोभन में आकर घी में गाय की चर्बी मिलाने जैसा जघन्य अपराध नहीं कर सकता। सार्वजनिक संस्थाओं में लाखों का दान देने वाले व्यक्तियों के घर पर जब घी में मिलावट करने की चीजें मिलती हैं, तब आश्चर्य होता है। क्या दान और जघन्यतम वृत्ति में कोई संगति है? कहीं संगति नहीं है। हमें मानना ही होगा कि कर्मवाद की मौखिक स्वीकृति एक बात है और उसको हृदयंगम कर चलना दूसरी बात है। जिस व्यक्ति ने कर्मवाद को हृदय से स्वीकार किया है और इस बात को गहराई में जाकर समझा है कि बुरे कर्म का फल बुरा होता है, वह ऐसा नहीं कर सकता, जघन्य अपराध नहीं कर सकता।

वास्तव में देखा जाए तो कर्मवाद का सिद्धांत बुराई से बचने के लिए तथा नैतिक जीवन जीने के लिए एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है, किंतु आदमी ने इसे पराजयवादी मनोवृत्ति के साथ जोड़ दिया और कर्मवादी का अर्थ हो गया पराजयवादी मनोवृत्ति वाला। वह सोचने लग जाता है कि धर्म-कर्म करने वाले दुःख पाते हैं और बुराई करने वाले फलते-फूलते हैं। पराजय मान ली। धर्म को छोड़ दिया, धर्म से दूर हो गया। उसने पराजयवादी मनोवृत्ति, निराशावादी मनोवृत्ति, पलायनवादी मनोवृत्ति स्वीकार कर ली।

वास्तव में कर्म पलायनवादी मनोवृत्ति का प्रेरक नहीं है। यह एक पुरुषार्थ से जुड़ी हुई प्रेरणा है। कर्म से पुरुषार्थ को कभी अलग नहीं किया जा सकता। दोनों जुड़े हुए हैं। दोनों के साथ जुड़ी हुई एक प्रेरणा है, इसे हमें स्वीकार करना होगा। कभी-कभी समस्या के समाधान में भी कर्मवाद का गलत प्रयोग कर लिया जाता है।

प्रासंगिक धर्म का ही मूल्य

वह धर्म-दर्शन जीवंत नहीं हो सकता, जो वर्तमान की समस्या को समाधान न दे सके। उसकी प्रासंगिकता नहीं हो सकती। उसकी जीवंतता नहीं हो सकती। वह मृत है, वह बुझी हुई ज्योति है। कोई कहे—मेरा दीया अतीत में

बहुत प्रकाश करता था, पर यदि वह आज के अंधकार को नहीं मिटा सकता तो उसकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है। जो वर्तमान में प्रकाश करता है, वर्तमान के अंधेरे को मिटाता है, वही दीया उपयोगी होता है। उसकी उपयोगिता को कोई नकार नहीं सकता। यदि वह प्रकाश देने में असमर्थ है, अंधकार का भेदन करने में असमर्थ है तो वह मात्र मिट्टी का बर्तन है और कुछ नहीं। इसी प्रकार वही कार्य, वही धर्म, वही अध्यात्म, वही चेतना हमारे लिए कार्यकर होती है, जो वर्तमान की समस्याओं का समाधान दे सके।

कर्मवाद वर्तमान की समस्या को समाहित करने में सक्षम है। वह बाधा या विघ्न नहीं है। कभी-कभी यह प्रश्न आता है कि यदि पूरे विश्व में समाजवाद या साम्यवाद आ जाएगा और गरीबी मिट जाएगी तो क्या कर्मवाद को धक्का नहीं लगेगा? ऐसा लगता है, मानो कि गरीबी मिटी और कर्मवाद का महल ढह गया। ऐसा कोई संबंध-सूत्र नहीं है कि कर्मवाद है तो गरीबी और अमीरी होनी ही चाहिए और यदि गरीबी नहीं रही तो कर्मवाद अर्थहीन हो गया। यह मिथ्या धारणा है। क्या संबंध है गरीबी-अमीरी का कर्मवाद के साथ? संभव है, भारतीय लोग इसीलिए चाहते हैं कि गरीबी और अमीरी दोनों बनी रहें, जिससे कि कर्मवाद को कोई आंच न आए। यदि एक रहेगी तो कर्मवाद समाप्त हो जाएगा। ऐसा संबंध जोड़ दिया।

गांव में बुढ़िया रहती थी। उसके पास एक मुर्गा था। वह बांग देता तो लोग सूरज उगने की बात मान लेते। एक बार बुढ़िया नाराज हो गई। वह गांव वालों से बोली–'तुम लोग मुझे नाराज करते हो, पर याद रखना मैं अपने मुर्गे को लेकर अन्यत्र चली जाऊंगी। मुर्गा नहीं होगा तो बांग नहीं देगा। बांग नहीं देगा तो सूरज नहीं उगेगा, सूरज नहीं उगेगा तो प्रकाश नहीं होगा, प्रभात नहीं होगा।' उस बुढ़िया ने सारा संबंध मुर्गे से जोड़ दिया। मेरा मुर्गा बांग देता है, तभी तो प्रभात होता है।

कर्मवाद से जुड़ी भ्रांतियां

इसी प्रकार आज के आदमी ने यह जोड़ दिया है कि गरीबी नहीं रहेगी तो कर्मवाद कैसे टिकेगा? अमीरी नहीं होगी तो कर्मवाद कहां टिकेगा? तो क्या कर्मवाद का यह मतलब है कि आदमी को खाने को रोटी न मिले, पूरा कपड़ा न मिले, रहने के लिए स्थान न मिले? क्या कर्मवाद का यही सार है? यदि कर्मवाद का यही सार है तो कर्मवाद जितना निस्सार और बेकार कोई सिद्धांत नहीं हो सकता। वास्तव में हमने कर्मवाद के रहस्य को समझा ही नहीं।

कर्मवाद की कोई बाधा नहीं है समस्या के समाधान में। चाहे साम्यवाद आए या समाजवाद आए, कर्मवाद पर कोई आंच आने वाली नहीं है। जब तक व्यक्ति रहेगा, व्यक्ति का अच्छा-बुरा आचरण रहेगा, व्यक्ति का अच्छा-बुरा मनोभाव रहेगा तब तक कर्मवाद को कोई आंच आने वाली नहीं है और यदि सभी जीव मोक्ष चले ज जाएंगे या मुक्त हो जाएंगे, तब फिर कर्मवाद टिकने वाला नहीं है। उस परिस्थिति में कर्मवाद की जरूरत भी नहीं है। व्यक्ति जब तक जीएगा, धरती पर रहेगा, भावनाओं और व्यवहारों के साथ जीएगा, तब तक कर्मवाद को कोई खतरा नहीं है। आज मनुष्य ने अपने पुरुषार्थ के द्वारा अनेक प्रयत्न किए हैं। एक जमाना था, जब आसाम मलेरिया से आक्रांत था। आज मनुष्य के पुरुषार्थ से वह मलेरिया से मुक्त हो चुका है। इसी प्रकार मनुष्य ने चेचक, प्लेग आदि महामारियों पर भी विजय पा ली है।

आज उस बीमारी का समूल नाश हो गया। यह सारा हुआ है, मनुष्य के पुरुषार्थ द्वारा। तब प्रश्न होता है कि कर्मवाद कहां है? यदि बीमारियां कर्मजन्य होतीं तो वे समाप्त कैसे होतीं? पहले चेचक से न जाने कितने बच्चे मर जाते थे। आज वैसी स्थिति नहीं है। पहले आदमी कितनी जल्दी बूढ़ा हो जाता और मर जाता था, आज वैसा नहीं हो रहा है। आज मृत्यु-दर घटी है, आयु-दर बढ़ी है। यदि कर्मवाद है तो इन सारी स्थितियों का समाधान क्या है?

इन सारी स्थितियों का कर्मवाद से कोई संबंध नहीं है। कर्म में ऐसी व्यवस्था नहीं होती कि अमुक को जल्दी मरना है, अमुक को भूखे मरना है, अमुक को बीमारियां भुगतनी हैं। कर्म का विपाक होता है देश, काल और परिस्थिति के अनुसार। इसे और स्पष्टता से समझें। सर्दी में कफ का प्रभाव बढ़ जाता है, गर्मी में पित्त संबंधी बीमारी ज्यादा परेशान कर सकती है और वर्षा ऋतु में अस्थमा जैसी बीमारी बढ़ सकती है। गर्मी में लू लगती है, सर्दी में लू नहीं लगती।

कर्मवाद कहां चला गया? इसका उत्तर है कि ये सब विपाक हैं देश-काल-सापेक्ष। ये सब परिस्थिति से जुड़े हुए हैं। मनुष्य में जितना अज्ञान होता है, उतनी ही बीमारियों को वह भुगतता है, बुराइयों को पालता है, बुराइयों के साथ जीता है। उसे जब समर्थ-सूत्र मिलता है, तब ये सारी बुराइयां छूट जाती हैं।

सम्राट हेनरी चतुर्थ अनुभवी शासक था। उसने देखा कि इंग्लैंड के लोग जवाहरात और सोने का उपयोग बहुलता से करते हैं। उसे वह अच्छा नहीं

लगा। आर्थिक स्थिति पर भी इसका प्रभाव उसे परिलक्षित हुआ। उसने कानून बनाया कि कोई भी व्यक्ति हीरे और स्वर्ण के आभूषण नहीं पहनेगा। कानून बन गया। लोगों ने कानून का हृदय से पालन नहीं किया। गहनों का प्रचलन चालू रहा। हेनरी के पास रिपोर्ट पहुंची। उसने कुछ सोचकर कानून में एक पंक्ति और जोड़ दी–'आज से सिर्फ वेश्याएं और जेबकतरे हीरे और सोने के आभूषण पहन सकेंगे और कोई गहने नहीं पहन सकेगा।' इस कानून का चमत्कार हुआ। दूसरे दिन सारे गहने उतर गए, क्योंकि कोई भी व्यक्ति वेश्या या जेबकतरा बनना नहीं चाहता था। यह परिवर्तन कर्मवाद के आधार पर नहीं हुआ। यह हुआ समर्थ-सूत्र के आधार पर। यह हुआ व्यक्ति की सूझबूझ के आधार पर।

आज वैज्ञानिक युग है। आज का व्यक्ति चाहता है कि वैज्ञानिक मनोवृत्ति का विकास हो। प्रत्येक व्यक्ति हर बात को वैज्ञानिक दृष्टि से देख सके, परख सके, यह सद्यस्क अपेक्षा है, पर आज भी आदमी इतना रूढ़ और अज्ञानभरी धारणाओं से घिरा हुआ है कि उसे देखकर आश्चर्य होता है। आज दहेज की प्रथा चल रही है और महिलाएं स्वयं उसे बढ़ावा दे रही हैं। आश्चर्य तो यह होता है कि स्त्री की अवज्ञा स्वयं स्त्री करा रही है। लड़का पैदा होता है, तब सारे घर में खुशियां मनाई जाती हैं, थाली बजाई जाती है। जब लड़की पैदा होती है, तब घर में उदासी छा जाती है और छाज पीटा जाता है। यह सब महिलाओं द्वारा संपन्न होता है। वे नहीं जानतीं कि वे स्वयं अपनी जाति की अवज्ञा कर रही हैं। स्त्री-स्त्री की अवज्ञा कर रही है। नारी-नारी की अवज्ञा करे, अपने सजातीय की अवज्ञा करे, इससे बड़ा आश्चर्य क्या हो सकता है? सास दहेज के प्रति जितनी जागरूक रहती है, उतना कोई सदस्य नहीं रहता। स्त्री के द्वारा स्त्री की हत्या अथवा स्त्री के द्वारा स्त्री का अपमान इसीलिए होता है कि उसके साथ अज्ञान जुड़ा हुआ है।

आदमी बदल सकता है

दो प्रकार की मनोवृत्तियां हैं–एक है मौलिक मनोवृत्ति और एक है अर्जित आदत। आदमी की मौलिक मनोवृत्ति को नहीं बदला जा सकता, पर अर्जित आदतों को बदला जा सकता है। मौलिक मनोवृत्तियों का भी रूपांतरण किया जा सकता है, पर वह होता है कठोर साधना के पश्चात्, परंतु अर्जित आदतों से सरल-साधना के माध्यम से छुटकारा पाया जा सकता है। यदि अर्जित आदतों में परिवर्तन नहीं आता तो धर्म की आराधना और ध्यान की साधना करने का अर्थ शून्य हो जाता है।

एक शिविरार्थी ने बताया कि ध्यान-शिविर की साधना से उसकी ग्यारह अर्जित आदतें छूट गईं। यह ध्यान की एक निष्पत्ति है। ध्यान से होने वाला परिवर्तन आंतरिक होता है, स्थायी होता है। ध्यान से भीतर का जागरण घटित होता है और जब आदमी भीतर में जाग जाता है तब रूपांतरण घटित होने लग जाता है।

अम्म और निम्म पिता-पुत्र थे। वे उज्जयिनी के निवासी ब्राह्मण थे। पिता-पुत्र दोनों दीक्षित हो गए। पुत्र उच्छृंखल वृत्ति का था। वह किसी की बात नहीं मानता था। दूसरे मुनि उससे परेशान थे। आचार्य ने उनको गण से अलग कर दिया। वे दोनों दूसरे आचार्य के गण में सम्मिलित हो गए। वहां भी पुत्र के व्यवहार से सारे ऊब गए। वहां से भी उन्हें निकाल दिया गया। वे तीसरे, चौथे और पांचवें गण में गए, पर सर्वत्र तिरस्कृत हुए। तिरस्कार का एकमात्र कारण था पुत्र-मुनि का असद् व्यवहार। पिता दुःखी था। वे गण से अलग होकर अन्यत्र जा रहे थे। विश्राम करने के लिए एक वृक्ष के नीचे ठहरे। अपनी दुर्दशा पर पिता की आंखों में आंसू आ गए। पुत्र ने देखा कि पिता की आंखें सजल हैं और उनमें से तीव्र वेदना बाहर झांक रही है। पुत्र का हृदय बदल गया। उसने सोचा—मेरे कारण ही इतना तिरस्कार झेलना पड़ा। पुत्र के मन पर भारी असर हुआ। उसका सारा व्यवहार बदल गया। वे पूर्ववर्ती संघ में गए। आचार्य से निवेदन कर पुनः संघ में सम्मिलित हो गए। अब संघ के सारे सदस्य पिता-पुत्र के व्यवहार से प्रसन्न थे।

आदमी बदल सकता है, बदलता है। बदलने में अनेक कारण बनते हैं। परिस्थिति भी उन कारणों में एक है। बदलने का एक कारण चिंतन भी है, अध्ययन भी है और उपदेश भी है। आदमी एक बात को सुनकर इतना प्रभावित हो जाता है कि उसका व्यवहार बदल जाता है। कोई एक बात इतनी चुभ जाती है कि उसका पूरा व्यक्तित्व ही बदल जाता है।

बदलने का सबसे अधिक शक्तिशाली माध्यम है हृदय-परिवर्तन, अंतःकरण का परिवर्तन या रासायनिक परिवर्तन। हृदय के परिवर्तन का अर्थ है रसायनों का परिवर्तन। शरीर में पैदा होने वाले रसायनों की संख्या सैकड़ों में है। वे सारे रसायन विभिन्न प्रकार से व्यक्ति को प्रभावित करते हैं। उन रसायनों का बदल जाना ही वास्तव में व्यक्ति का बदल जाना है। आज के मनोवैज्ञानिक रासायनिक परिवर्तनों पर अनेक प्रयोग कर रहे हैं। रसायन के बदलने से शेर खरगोश का-सा व्यवहार करने लग जाता है और खरगोश शेर का व्यवहार करने लग जाता है। व्यवहार की दृष्टि से बिल्ली चूहा बन जाती है और चूहा

बिल्ली बन जाता है। चिंतन का प्रकार बदल जाता है। आचार-व्यवहार बदल जाता है। मैं खोज रहा हूं कि ऐसा कोई सूत्र मिल जाए, जिससे आदमी की लोभ की वृत्ति में परिवर्तन आए और दहेज-प्रथा समाप्त हो जाए। ऐसा होने पर समाज का कायाकल्प हो जाता है।

रसायनों के परिवर्तन से क्रोध की आदत बदली जा सकती है, कामवासना की वृत्ति में परिवर्तन आ सकता है। इन सबके सूत्र ज्ञात हुए हैं, हो रहे हैं, परंतु अभी तक लोभ की वृत्ति को बदलने का सूत्र हस्तगत नहीं हुआ है। सामाजिक बुराइयों का सबसे बड़ा घटक है आर्थिक प्रलोभन। यह जटिल समस्या है। जिस दिन इस वृत्ति को बदलने का सूत्र ज्ञात हो जाएगा, प्राप्त हो जाएगा, उस दिन समाज से रूढ़िवाद का प्रभाव टूट जाएगा, अनेक रूढ़ियां समाप्त हो जाएंगी। रूढ़ि तो एक बहाना मात्र है। उसकी पृष्ठभूमि में लालच काम करता है, लोभ का चक्र चलता रहता है। आदमी में लोभ की वृत्ति इतनी तीव्र है कि वह सीधा धन पाना चाहता है।

पत्नी ने पति से कहा–'मैंने समाचार-पत्र में पढ़ा है कि एक व्यक्ति ने अपनी पत्नी को साइकल के बदले बेच डाला। आप तो ऐसा नहीं करेंगे?' पति बोला–'मैं इतना मूर्ख नहीं हूं। यदि सौदा करूंगा तो कार का करूंगा। कार के बदले में पत्नी को बेचना लाभप्रद होगा।' कितना भयंकर लोभ होता है आदमी में। यदि इस लोभ की वृत्ति को बदलने का सूत्र हस्तगत हो जाए तो फिर सामाजिक परिवर्तन सहज-सरल हो जाएगा। हम इस सूत्र की खोज में लगे हुए हैं और यह विश्वास है कि हमारा प्रयत्न अवश्य सफल होगा। ध्यान का सूत्र हमने खोजा और वह प्राप्त हो गया। यह धार्मिक क्षेत्र में नई क्रांति है।

प्रेक्षाध्यान का इतिहास

प्रेक्षाध्यान के सूत्र की खोज का भी एक इतिहास है। पूज्य गुरुदेव का चातुर्मास था उदयपुर में। यह वि.सं. २०१९ की बात है। आगम संपादन कार्य चल रहा था। हम जो काम करते, प्रतिक्रमण के पश्चात् उस कार्य का लेखा-जोखा गुरुदेव के समक्ष रख देते। यह प्रतिदिन का क्रम था। उन दिनों उत्तराध्ययन का संपादन-कार्य चल रहा था। उसके उनतीस अध्ययन संपन्न हो चुके थे। तीसवें अध्ययन पर कार्य हो रहा था। उसमें तपस्या का वर्णन है। उसके बहिरंग और अंतरंग प्रकारों पर चर्चा चली।

ध्यान तपस्या का अंतरंग प्रकार है। मैंने निवेदन किया–'ध्यान पर

हम टिप्पणी लिख रहे हैं। बहुत सामग्री मिली है। खोज करने पर और भी सामग्री प्राप्त हो सकती है।' आचार्यवर ने फरमाया-'ध्यान के विषय में जब इतनी सामग्री उपलब्ध है तो जैन परंपरा में विच्छिन्न ध्यान-प्रक्रिया का पुनः अनुसंधान क्यों नहीं किया जाए? हमें इस दिशा में प्रयत्न करना चाहिए।'

इतना-सा संवाद चला। इतना-सा स्वप्न। गुरुदेव की प्रेरणा ने काम किया। मैं उसकी खोज में जुट गया। सूत्र मिला। प्रयोग प्रारंभ किया और पंद्रह वर्ष पश्चात् प्रेक्षाध्यान की पूरी प्रक्रिया सामने प्रस्तुत हो गई। प्रेक्षाध्यान की प्रक्रिया से धर्मक्रांति की बात भी चरितार्थ हो गई और धर्म के विषय में जो रूढ़ धारणाएं थीं, उनमें परिवर्तन आ गया। एक युवक ने लिखा–'धर्म और विज्ञान का इतना सुंदर समन्वय हमने अन्यत्र नहीं देखा, जैसा मुझे प्रेक्षाध्यान की प्रक्रिया में दृष्टिगोचर हुआ।'

प्रेक्षाध्यान का प्रयोग वैज्ञानिक धरातल पर आधृत है। इसमें अध्यात्म, योग, कर्मवाद आदि प्राचीन विधाओं का समावेश है तो साथ ही साथ शरीरशास्त्र, शरीर-क्रियाशास्त्र, शरीर-रसायनशास्त्र, मानसशास्त्र आदि-आदि आधुनिक विधाओं का भी पूरा समावेश है। एक शब्द में कहा जा सकता है कि यह धर्म और विज्ञान का सुंदर समन्वय है। आज यह सद्यस्क आवश्यकता है कि आज की समस्याओं से निपटने के लिए, समस्याओं का समाधान देने के लिए प्रत्येक विषय का वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण किया जाए और तर्क की कसौटी पर उसे पूरा कसा जाए। आज केवल अंधविश्वास, रूढ़ि या मान्यता से काम नहीं चल सकता।

आज जरूरी है परिवर्तन और उससे भी अधिक जरूरी है कर्मवाद के सिद्धांत को हृदयंगम करना। कर्मवाद वैज्ञानिक सिद्धांत है, परंतु उसकी सही जानकारी न होने के कारण उसको भी रूढ़ मान्यता के आधार पर ही समझा जा रहा है। यदि कर्मवाद को सही रूप में समझा जाता तो आज अनेक धारणाएं सामने आ जातीं।

दिल्ली विश्वविद्यालय में एक संगोष्ठी का आयोजन था। विषय था प्रेक्षाध्यान। वाइस चांसलर तथा अनेक प्रोफेसर, लेक्चरर इस गोष्ठी में भाग ले रहे थे। मैंने प्रेक्षाध्यान की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हुए अनेक चर्चा-बिंदु प्रस्तुत किए। अंत में वाइस चांसलर ने आभार व्यक्त करते हुए कहा–'आज मैं पहली बार किसी भारतीय दार्शनिक अथवा जैन मुनि के मुंह से 'जीन' आदि के विषय में इतनी प्रामाणिक चर्चा सुन रहा हूं। जिस प्रकार की

चर्चा मुनिजी ने प्रस्तुत की है, यदि इसको विस्तार दिया जाए, खोज की जाए तो भारत 'जीन' के विषय में पाश्चात्य देशों को नई देन दे सकता है। हमारे पास अतुल सामग्री है।'

कर्मवाद का यदि सूक्ष्म अध्ययन किया जाए तो 'जीन' की बात उसके समक्ष बहुत छोटी रह जाती है, पर आज का आदमी गहराई में जाना नहीं चाहता। उसकी वृत्ति सिनेमावादी हो गई है। सीधा गाओ, सीधा देखो। गहरे में उतरने की मनोवृत्ति बहुत कम है। कर्मवाद की आधारभूमि बहुत दृढ़ है। छोटी-छोटी बातों से उसको उखाड़ा नहीं जा सकता। यह वज्रमय प्रासाद, जो खड़ा किया गया है, यह पवन के झोंकों से ढह नहीं सकता। हमें गहराई में जाने की आवश्यकता है।

कर्मवाद परिवर्तनों का महान सूत्र है। उसका ठीक उपयोग करें। आदतें बदलती हैं, व्यसन छूटते हैं, व्यक्तित्व बदलता है, इसमें कर्मवाद बाधा उपस्थित नहीं करता। ऐसा नहीं कहता कि कर्म में ऐसा ही लिखा हुआ था, भाग्यरेखा ऐसी ही थी। जो आदमी ऐसा करता है, वह भयंकर भूल करता है और जीवन के प्रति अन्याय करता है।

आदमी भगवान के भरोसे बैठा रहता है, भाग्य के भरोसे बैठा रहता है। वह सब पर भरोसा करता है, पर अपने पुरुषार्थ पर भरोसा नहीं करता। भटक गया है आदमी। उसका पहला काम तो यह था कि वह अपने पुरुषार्थ पर पूरा भरोसा करे, फिर दूसरों पर भरोसा करे। दूसरों का भरोसा इतना लाभप्रद नहीं होता, जितना लाभप्रद होता है अपने पुरुषार्थ का भरोसा। कर्मवाद का सिद्धांत प्रकाशस्तंभ है। यह पूरे मार्ग को प्रकाशित करता है, परंतु आदमी की भ्रांति के कारण, अज्ञान के कारण, उसने इस प्रकाशस्तंभ को भुला दिया, उसका पूरा मार्ग अंधकारमय बन गया। प्रकाश अंधकार में परिणत हो गया।

कर्मवाद निराशा पैदा करने वाला सिद्धांत नहीं है। यह पुरुषार्थ को उजागर करने वाला है। कर्मवाद के सही अर्थ को समझकर आदमी अपने पुरुषार्थ को उत्तेजित करे और हाथ पर हाथ रखकर बैठने की वृत्ति को छोड़े। न जाने कितने व्यक्ति निराश होकर पुरुषार्थ से प्राप्त होने वाली संपदा से वंचित होकर बैठ जाते हैं।

हम इस सचाई का अनुभव करें कि हमें प्रभावित करने वाले अनेक प्रभावों में परिवर्तन लाने वाला प्रभाव है पुरुषार्थ और पुरुषार्थ में परिवर्तन की प्रेरणा फूंकने वाला है कर्मवाद। इस सचाई को हृदयंगम करें और अपने पुरुषार्थ को आगे बढ़ाएं।

२१. पर्दे के पीछे कौन?

यह जगत एक रंगमंच है। इस पर नाटक खेला जा रहा है। प्रत्येक व्यक्ति उसमें भाग ले रहा है। जो खेला जा रहा है, वह हमारे सामने है, परंतु सबकुछ सामने नहीं है, कुछ पर्दे के पीछे है। जो अभिनय पृष्ठभूमि में हो रहा है, वह बड़ा विचित्र है।

लोग जानना चाहते हैं कि ध्यान का प्रयोजन क्या है? यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, क्योंकि बिना प्रयोजन कुछ भी करना बुद्धिमत्ता नहीं है। हम कुछ भी करें, प्रयोजनपूर्वक करें। समझदार वही होता है, जो प्रवृत्ति से पूर्व अपने प्रयोजन का निर्धारण करता है।

ध्यान का प्रयोजन है उसकी खोज करना, जो पर्दे के पीछे अभिनय कर रहा है। उसकी केवल खोज ही नहीं, उसको समाप्त कर देना है।

एक भाई ने कहा कि मैं उपासना करने बैठता हूं, तब न जाने कहां से अवांछनीय और अतर्कणीय विचार आते हैं, जिनमें मैं उलझ जाता हूं। उपासना छूट जाती है। बैठता हूं अच्छा करने के लिए, पर विचार और भाव आते हैं बुरे। सोचता हूं, सदा अच्छा आचरण करूं और होता है बुरा आचरण। सदा अच्छा सोचना चाहता हूं, पर आते हैं बुरे विचार। यह स्थिति प्रायः सब व्यक्तियों की बनती है। कोई भी इसका अपवाद नहीं है। सब लोग जानते हैं कि शांतिपूर्ण और स्वस्थ जीवन जीने के लिए अच्छा होना, अच्छा आचरण करना बहुत आवश्यक है। समाज तभी स्वस्थ रहता है जब उसमें रहने वाले व्यक्ति स्वस्थ आचरण करते हैं, फिर यह अपराध क्यों होता है? क्यों कोई अपराधी बनता है? इसका हेतु क्या है? इस हेतु की व्याख्या अनेक स्तरों पर, अनेक शाखाओं द्वारा की गई।

आचरण का हेतु आनुवंशिकता

व्याख्या का एक सूत्र है वंशानुक्रम। आनुवंशिकता के कारण व्यक्ति अपराधी बनता है। पिता अपराधी था, पुत्र अपराधी बन गया। दादा अपराधी

था, पोता अपराधी बन गया। इसमें हेरिडिटी कारण बनती है। वर्तमान में आनुवांशिकता–विज्ञान के आधार पर इस पर बहुत विमर्श हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति को वंशानुक्रम से कुछ संस्कार मिलते हैं, पर यह समग्र सिद्धांत नहीं है। दुनिया में कोई भी सिद्धांत, जो वाणी में उतरता है, वह समग्र नहीं होता। वाणी में यह क्षमता नहीं है कि वह समग्र सत्ता को अभिव्यक्त कर सके। उसकी क्षमता है, खंड का प्रतिपादन करना। वाणी स्वयं खंड है, फिर वह अखंड सत्य का प्रतिपादन कैसे कर सकती है? अखंड सत्य शब्द या वाणी का विषय नहीं बन सकता। इसीलिए अनेकांत की भाषा में इसे अवक्तव्य कहा गया।

अखंड सत्य जाना जा सकता है, पर कहा नहीं जा सकता। उपनिषद में 'नेति, नेति' के द्वारा कथन किया गया है। 'यह भी नहीं, यह भी नहीं', निषेध करते चले जाओ। बुद्ध ने इसे अव्याकृत कहा है। अवक्तव्य, नेति और अव्याकृत–तीनों एक ही दिशा के पथिक हैं। समग्र सत्य का एक देश और काल में एक शब्द के द्वारा कभी प्रतिपादन नहीं किया जा सकता, इसलिए वह अवक्तव्य सत्य बन जाता है। जितने मत और सिद्धांत हैं, वे सब सापेक्ष हैं। वे सब खंड के प्रतिपादक हैं। जब यह तथ्य हमारी बुद्धि में समाया रहता है, तब दृष्टिकोण समीचीन रहता है और जब हम खंड को अखंड मान लेते हैं, किसी एक सिद्धांत को समग्र सत्य मान लेते हैं, वहां विभ्रम होता है, विपर्यास होता है और दृष्टिकोण मिथ्या बन जाता है।

आचार्य सिद्धसेन ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'सन्मति तर्क प्रकरण' में इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है कि प्रत्येक विचार सत्य है, जब वह दूसरे विचारों का खंडन नहीं करता है। जब वह दूसरे विचारों का खंडन कर, केवल अपना ही अस्तित्व स्थापित करता है तो वह विचार मिथ्या बन जाता है। कोई भी विचार सर्वथा सत्य नहीं है। कोई भी विचार सर्वथा मिथ्या नहीं है। प्रत्येक विचार में सचाई है। प्रत्येक विचार में असत्यता है। यदि विचार निरपेक्ष है तो वह असत्य है, मिथ्या है। यदि वह सापेक्ष है तो वह सत्य है, समीचीन है। यह सापेक्षता का सिद्धांत महत्त्वपूर्ण और यथार्थ है। इस कसौटी पर कसने पर वंशानुक्रम का सिद्धांत सत्य प्रतीत होता है, पर वह समग्र सचाई नहीं है, यह भी ज्ञात होता है। एक ही वंश में पैदा होने वाले व्यक्ति अनेक प्रकार के व्यक्तित्व वाले बन जाते हैं। उन सबके व्यक्तित्व में बहुत अंतर होता है, इसलिए आनुवंशिकता ही केवल सचाई नहीं है। वह भी एक तथ्य है।

परिस्थिति

दूसरा कारण है परिस्थिति। एक ही माता-पिता की संतान यदि दो विभिन्न परिस्थितियों में रहती है तो दो प्रकार के व्यक्तित्व वाली बन जाती है। समान परिस्थिति में भी व्यक्तित्व में अंतर आ जाता है। पर्यावरण भी एक कारण है।

पर्यावरण

तीसरा कारण है पर्यावरण। इसको अंग्रेजी में इकोलॉजी कहा जाता है। आज इसका बहुत विकास हुआ है। इसके आधार पर मानवीय स्वभाव की व्याख्याएं हुई हैं। जहां प्रदूषण की प्रचुरता है, वहां अपराध और असामान्य आचरण की भी प्रचुरता होती है। अमेरिका में सर्वेक्षण से यह ज्ञात हुआ कि प्रदूषण के कारण नगरों की वायु में शीशे की मात्रा अधिक होती है और इसके प्रभाव से बच्चों की मनःस्थिति विकृत बन जाती है। शीशे की मात्रा कम होती है तो विकृति कम होती है। पर्यावरण का असंतुलन शारीरिक और मानसिक असंतुलन पैदा करता है। हमारे शरीर में लवण, खनिज आदि होते हैं। सब धातुओं का संतुलन बना रहता है तो शरीर स्वस्थ रहता है। तांबा, जस्ता, फास्फोरस आदि धातुओं की निश्चित मात्रा रहती है। जब इनकी मात्रा कम या अधिक हो जाती है तो शरीर गड़बड़ा जाता है। शरीर विभिन्न प्रकार के लवणों, खनिजों तथा अन्यान्य पदार्थों से बना हुआ है। रासायनिक दृष्टि से उसका बहुत विश्लेषण हुआ है।

आनुवंशिकता, परिस्थिति और पर्यावरण–ये तीन कारण मनुष्य के स्वभाव और व्यवहार को असंतुलित तथा असामान्य बनाते हैं। कारण की शृंखला में एक महत्त्वपूर्ण कारण है 'जीन'। यह माना जाता है कि जब शिशु का निर्माण होता है, तब क्रोमोसोम की शृंखला में जो 'जीन' होते हैं, उनमें कोई गड़बड़ी हो जाती है तो बच्चा प्रारंभ से ही अपराधी मनोवृत्ति वाला हो जाता है, वह असामान्य आचरण करने लग जाता है। 'जीन' का सूत्र है–एक्स, वाई। यदि एक वाई अधिक हो जाता है तो असंतुलन पैदा हो जाता है और बच्चा अपराधी बन जाता है।

जेनेटिक इंजीनियरिंग के सिद्धांत के अनुसार वैज्ञानिकों ने मनुष्य के स्वभाव और आचरण की महत्त्वपूर्ण व्याख्याएं की हैं। उसके आधार पर सामान्य और असामान्य व्यवहार और आचरण को समझने में सुविधा हुई है। वैज्ञानिक 'जीन' के परिवर्तन के सूत्र की खोज में लगे हुए हैं। जानवरों की नस्ल

को सुधारने में वैज्ञानिकों को सफलता मिली है। आज वे मनुष्य की नस्ल को सुधारने के सूत्र को खोज रहे हैं।

रासायनिक परिवर्तन

पांचवां कारण है–रासायनिक परिवर्तन। रासायनिक परिवर्तन होने पर आदमी का आचरण बदल जाता है। नाड़ी संस्थान और ग्रंथितंत्र के स्रावों का परिवर्तन होने पर मनुष्य के व्यक्तित्व में परिवर्तन हो जाता है। एक अहिंसक व्यक्ति है। उसमें रासायनिक परिवर्तन होता है और वह हिंसा में विश्वास करने लग जाता है। वह हत्यारा बन जाता है। एक हत्यारा और डाकू साधु पुरुष बन जाता है। वह संत का जीवन जीने लग जाता है। यह परिवर्तन कैसे होता है? संत डाकू कैसे बन जाता है और डाकू संत कैसे बन जाता है? यह आश्चर्यकारी बात है, पर ऐसा होता है और उसका मुख्य कारण है रासायनिक परिवर्तन। रासायनिक परिवर्तन के आधार पर आदमी इतना बदल जाता है कि उसकी पहचान भी नहीं हो पाती। आदमी असमंजस में पड़ जाता है और सोचता है क्या यह वही आदमी है, जिसके साथ मैं पांच वर्ष पूर्व रहा था? 'सः एवायं', यह नहीं कहा जा सकता। नया व्यक्तित्व सामने आ जाता है।

प्रश्न होता है कि यह रासायनिक परिवर्तन क्यों होता है? 'जीन' का परिवर्तन क्यों होता है? सबमें नहीं होता, केवल पांच प्रतिशत में ही क्यों होता है? इसके कारण को समझे बिना गुत्थी सुलझती नहीं। कारण के सही ज्ञान के बिना निर्णय भी सही नहीं होता।

दो युवक नौका से यात्रा कर रहे थे। दोनों बारी-बारी से उसे खे रहे थे। तूफान आया। नाव डगमगाने लगी। नाव डूबने लगी। एक बोला–'नौका डूब रही है। अब क्या करें?' दूसरा बोला–'डूबे तो डूबने दो। चिंता क्यों करते हो? नाव अपनी नहीं है, किराये की है। डूब जाएगी तो डूब जाएगी।'

सही स्थिति का अंकन नहीं होता है, तब समस्या उलझ जाती है। नाव किराये की थी, पर वे दोनों तो किराये के नहीं थे। नाव डूबेगी तो क्या वे बच पाएंगे? जब तक कारण का सही अंकन नहीं होता, तब तक कार्य भी सही नहीं हो सकता।

कर्म है पर्दे के पीछे

एक ही वंश में दो व्यक्ति साथ जन्म लेते हैं, एक ही वातावरण में दो व्यक्ति रहते हैं, दो व्यक्तियों को समान पर्यावरण मिलता है, फिर भी दो

व्यक्तियों का व्यक्तित्व दो प्रकार का हो जाता है। दो भाई साथ में जन्मे, एक में 'जीन' का परिवर्तन हो गया, दूसरे में नहीं हुआ। ऐसा क्यों होता है? इन सभी प्रश्नों के संदर्भ में जब हम चिंतन करते हैं, तब लगता है कि यह सारा अभिनय इस रंगमंच पर हो रहा है, पर पर्दे के पीछे एक और भी है, जो अभिनय कर रहा है। वह सामने नहीं है। पर्दे के पीछे है। वहां तक पहुंचे बिना न तो समस्या का समाधान होगा और न ध्यान का प्रयोजन ही समझ में आएगा।

यदि हमें वहां, पर्दे के पीछे नहीं पहुंचना है तो ध्यान की कोई आवश्यकता नहीं है। वातावरण और पर्यावरण को ध्यान के बिना भी बदला जा सकता है। रासायनिक परिवर्तन भी औषधियों तथा अन्यान्य साधनों से एक सीमा तक किया जा सकता है। इलेक्ट्रोड से विद्युत तरंगों को बदलकर रासायनिक परिवर्तन किया जा सकता है। ये सब परिवर्तन हो सकते हैं, किंतु वातावरण आदि को जो उत्प्रेरित कर रहा है, उस कारण तक नहीं पहुंचा जा सकता। ये सारी कठपुतलियां हैं। इनको नचाने वाला कोई और है। वह भीतर में बैठा है। वह पर्दे के पीछे छिपा हुआ है और वह है कर्म। कर्म है जैविक विशेषता, व्यक्ति की अपनी विशेषता। कर्म नितांत व्यक्तिगत होता है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना कर्म और अपना किया हुआ कर्म। दूसरा कोई उत्तरदायी नहीं है। स्वयं व्यक्ति ने उसे किया है और स्वयं व्यक्ति को ही वह भोगना है।

अपना कृत कर्म पर्दे के पीछे कार्यरत है। सबको भोगना पड़ता है। यह ऋण है। इसको चुकाना पड़ता है। जो कर्म किए हैं, जिन कर्म परमाणुओं का संचय किया है, उनको भोगना ही पड़ता है। कर्म उत्प्रेरक है। यहां सबकुछ उसके द्वारा घटित होता है। अकारण कुछ भी नहीं होता। न दूसरे ने कुछ किया है, न किसी ने कुछ थोपा है, स्वयं ने किया है और स्वयं ही उसका उत्तरदायी है।

एक ज्योतिषी था। उसका बेटा खो गया। वह पुलिस स्टेशन पहुंचा और इंस्पेक्टर से बोला–'मेरा बेटा खो गया है। आप उसको खोज लाएं। मैं आपका काम कर दूंगा। आपकी जन्मकुंडली बनाकर आपके भविष्य का यथार्थ बता दूंगा।' इंस्पेक्टर बोला–'मेरा भविष्य बतला सकते हो तो अपने बेटे को ही खोज लो।' ज्योतिषी बोला कि बात तो ठीक हैं, पर मैं अपने बेटे को खोजूंगा तो मुझे फीस कौन देगा? मेरा संकल्प है कि मैं बिना फीस किसी का काम नहीं करता। मुफ्त में काम करना मुझे नहीं सुहाता।

कर्म का सिद्धांत है कि वह मुफ्त में कार्यरत नहीं होता। आदमी ने उसे

किया है, पूरी फीस चुकाई है। अपना ही कृत और अपना ही भोग। कर्म एक ऐसा अभिनेता है, जो पर्दे के पीछे बैठा-बैठा निरंतर अभिनय कर रहा है। इसका अभिनय बंद नहीं होता। सोते-जागते, दिन में, रात में यह निरंतर कार्यशील रहता है। जब हमारी पहुंच कर्म तक हो जाती है, तब एक समस्या का समाधान हो जाता है और हम सब यह समझने लग जाते हैं कि हमारी सभी प्रवृत्तियों, विचारों, चिंतन और भावों के साथ एक छिपा हुआ अस्तित्व या तत्त्व जुड़ा हुआ है। जब तक उसको बदला नहीं जाता, तब तक सामने घटित होने वाली घटनाएं व्याख्यात नहीं हो सकतीं।

दो बातें हैं। एक है घटना और दूसरी है कर्म की वासना। घटना सामने घटित होती है, वासना पीछे रहती है। हम घटना की सही व्याख्या करना चाहते हैं, पर जब तक वासना की व्याख्या नहीं होती, तब तक घटना की पूरी व्याख्या नहीं की जा सकती। मृत्यु एक घटना है। न जाने कितने व्यक्ति अकाल में ही मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं। एक आदमी चालीस वर्ष की अवस्था में ही मर गया, पर इस अवस्था में क्यों मरा? इसकी व्याख्या, वासना की व्याख्या किए बिना नहीं की जा सकती। उस मृत्यु के पीछे भी एक वासना है। यदि उसे समझ लिया जाता है तो अकालमृत्यु की बात भी सहज ही समझ में आ जाती है। प्रत्येक घटना के साथ, फिर चाहे वह बीमारी हो, चिंता हो, मोह हो, वासना जुड़ी हुई होती है। घटना सामने होती है, वासना सामने नहीं होती। घटना के आधार पर जो व्याख्या की जाती है, वह पचास प्रतिशत सही होती है तो पचास प्रतिशत सही नहीं होती। हम दोनों को पकड़ नहीं पाते। हमें इतना मात्र ज्ञात होता है कि ऐसा हो गया, पर हम नहीं जान पाते कि ऐसा क्यों हुआ? सब अकालमृत्यु से क्यों नहीं मरते? अमुक ही अकालमृत्यु से क्यों मरा? इसके पीछे वासना बराबर काम करती है।

ध्यान का उद्देश्य

ध्यान का प्रयोजन है अदृश्य कारण तक पहुंचना। वह है चेतना का सूक्ष्म स्तर। यह अंतिम सचाई है। शरीर के साथ काम करने वाली चेतना स्थूल होती है। इस चेतना को पार कर जब हम भीतर में जाते हैं, तब विद्युत शरीर के साथ संपर्क होता है। यह सूक्ष्म शरीर है, जिसके द्वारा हमारा स्थूल शरीर संचालित होता है। उसको पार कर जब हम और गहरे में जाते हैं, तब हमारा संपर्क होता है सूक्ष्मतर शरीर से। वह है कर्म शरीर।

यह चेतना हमारे आचार, व्यवहार और विचार का संचालन करती है। ध्यान का प्रयोजन है कर्म शरीर के साथ काम करने वाली चेतना तक पहुंच जाना और उन कर्म परमाणुओं को समझ लेना, जो हमारी सारी घटनाओं के लिए जिम्मेदार हैं। उनको समझ लेना ही पर्याप्त नहीं है, उनका क्षय करना भी जरूरी है।

भारतीय नाट्य एकेडेमी के अध्यक्ष मंगल सक्सेना आए थे। उन्होंने ध्यान के विषय में जिज्ञासा करते हुए पूछा–'ध्यान का प्रयोजन क्या है?' चर्चा के बाद मैंने कहा–'ध्यान का प्रयोजन है कर्म का निर्जरण, कर्म का क्षय, संस्कारों का निर्जरण। प्रत्येक प्राणी अपने भावों और विचारों के द्वारा कर्म परमाणुओं का विशाल भंडार अर्जित कर लेता है। उस भंडार को खाली करना, क्षीण करना ध्यान का मुख्य प्रयोजन है।'

मंगल सक्सेना बोले–'बात समझ में आ गई। आज भी अन्यान्य ध्यान पद्धतियां चलती हैं, उनका लक्ष्य है बीमारी मिट जाए, नींद अच्छी आ जाए, तनाव मिट जाए आदि-आदि। यह समस्या का स्थायी समाधान नहीं है। भीतर से संचित मूल कारणों का, संस्कारों का क्षय करना ही समस्या का स्थायी समाधान है।'

बीमारी का मिटना, तनाव का मिटना आदि अस्थायी उपचार है। संस्कार भीतर में विद्यमान हैं। वे जब तक पूर्णतया नष्ट नहीं हो जाते, तब तक समय-समय पर उभरते रहते हैं, उपशांत होते रहते हैं, पर कभी नष्ट नहीं होते।

इन संस्कारों को क्षीण करना ही ध्यान-साधक का ध्येय होता है। यही ध्यान का प्रयोजन है। जब तक मूल कारण का शोधन नहीं होता, संस्कारों का शोधन नहीं होता, तब तक स्थायी उपचार नहीं होता, समस्या का स्थायी समाधान नहीं होता।

हमें बाहरी और भीतरी दोनों परिस्थितियों को समझना जरूरी है। हमें बाहरी परिस्थितियों को भी सुधारना है, पर वहां रुकना नहीं है।

ध्यान का प्रयोजन केवल गहरी नींद का आ जाना, रक्तचाप का संतुलन हो जाना, मधुमेह की बीमारी का मिट जाना या मानसिक तनाव का कम हो जाना नहीं है।

ध्यान का मूल प्रयोजन है–इन सबको पैदा करने वाले कारणों को समाप्त कर देना अर्थात् कर्म का शोधन करना, संस्कारों का क्षय करना। जब इस बिंदु तक पहुंच जाते हैं तब ध्यान की सार्थकता स्पष्ट प्रतीत होने लग जाती है।

२२. अतीत को पढ़ो : भविष्य को देखो

ध्यान का प्रयोजन है स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना। सूक्ष्म सत्यों और नियमों की खोज हमारे ज्ञान का संवर्धन करती है और उससे आदमी का आचरण और व्यवहार भी बदलता है। नियमों को जानना बहुत आवश्यक है। ध्यान नियमों को जानने का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। नियमों को जानने का जिन लोगों ने प्रयत्न किया है, उन्होंने सूक्ष्मता का आलंबन लिया है, फिर चाहे वे नियम विज्ञान के हों या अध्यात्म के हों या अन्य किसी के। नियमों की जानकारी चैतसिक विकास के द्वारा भी की जा सकती है और सूक्ष्म यंत्रों के द्वारा भी की जा सकती है। सूक्ष्म को जानने के लिए सूक्ष्म का अवलंबन लेना जरूरी है।

जीन और कर्म शरीर

कर्म का सिद्धांत बहुत सूक्ष्म है। उसके नियमों को समझने में बहुत कठिनाई होती है। स्थूल बुद्धि से वे नियम समझ में नहीं आ सकते। आज के आनुवंशिकता के सिद्धांत ने कर्म-सिद्धांत को समझने में सुविधा दी है और प्रवेश द्वार खोला है। जीन आनुवंशिक गुणों के संवाहक होते हैं। व्यक्ति-व्यक्ति में जो भेद दिखाई देता है, वह जीन के द्वारा किया हुआ भेद है। प्रत्येक विशिष्ट गुण के लिए विशिष्ट प्रकार का जीन होता है। ये आनुवंशिकता के नियम कर्मवाद के संवादी नियम हैं। कर्मवाद इनसे एक चरण और आगे है। कर्म परमाणु का संवहन करते हैं। व्यक्तिगत भेद का मूल कारण है कर्म। कम्मओ णं विभत्तिभावं जणयई–सारे विभेद कर्मकृत होते हैं। प्रत्येक जैविक विशेषता के लिए विशेष कर्म उत्तरदायी होता है। तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो आनुवंशिकता, जीन और रासायनिक परिवर्तन–ये तीनों सिद्धांत कर्म के ही सिद्धांत हैं। आनुवंशिकता के सिद्धांत की खोज के आधार पर कर्मवाद को जानने में एक कदम आगे बढ़ा जा सकता है। जीन हमारे स्थूल शरीर का अवयव है और कर्म हमारे सूक्ष्मतर शरीर का एक अवयव है। दोनों शरीर से जुड़े हुए हैं–एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्मतर शरीर से।

यह सूक्ष्मतर शरीर कर्मशरीर है। जैसे विज्ञान की निरंतर नई-नई खोजें होती हैं, मुझे विश्वास है कि एक दिन यह तथ्य भी अनुसंधान में आ जाएगा कि जीन केवल माता-पिता के गुणों या संस्कारों का ही संवहन नहीं करते, किंतु ये हमारे किए हुए कर्मों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। ये जीन कर्म से भी जुड़े हुए हैं। अभी तक यह तथ्य खोजा नहीं गया, पर बहुत संभव है कि यह शीघ्र खोज लिया जाएगा।

हम सूक्ष्म तत्त्व की चर्चा करें। ध्यान-साधना के लिए सूक्ष्म चर्चा आवश्यक होती है। ध्यान सूक्ष्म की खोज है। स्थूल बुद्धिवाला आदमी स्थूल बात में अटका रह जाता है। बालक स्थूल बात पर अटक सकता है। 'बाल' शब्द के दो अर्थ होते हैं–छोटी अवस्था वाला और अज्ञानी। जिसका ज्ञान विकसित नहीं होता, वह भी बाल है। 'बाल' व्यक्ति सूक्ष्म की खोज में नहीं जा पाता।

बच्चा मिठाई चुरा रहा था। बहन बोली–'भैया! तुम मिठाई चुराते हो, अम्मा तो नहीं देख रही हैं, पर भगवान तो देख रहे हैं। भगवान से तो डरो।' बच्चा बोला–'क्या फर्क पड़ता है! भगवान भले ही देखें। वे अम्मा को कहने नहीं आते, फिर मुझे चिंता ही क्या है?' बच्चा स्थूल को ही पकड़ सकता है, सूक्ष्म को नहीं। जिस व्यक्ति का ज्ञान परिपक्व और विकसित हो गया है, जिसकी चेतना ध्यान के द्वारा परिष्कृत हो गई है, वह सूक्ष्म सत्यों और सूक्ष्म नियमों की खोज करेगा। वह नियति को, मूल नियमों को पकड़ेगा।

कर्म एक नियति है, नियम है। कर्म के द्वारा अतीत को पढ़ा जा सकता है और भविष्य को समझा जा सकता है।

द्रव्यकर्म-भावकर्म

कर्म के दो विभाग हो जाते हैं। एक है पौद्गलिक कर्म और दूसरा है चैतसिक कर्म। पारिभाषिक शब्दावली में एक है द्रव्य कर्म और दूसरा है भाव कर्म। कर्म परमाणुओं का संग्रहण और संश्लेषण होता है भावकर्म के द्वारा। प्राणी का भाव और भाव के द्वारा अर्जित परमाणु–ये दो प्रकार बन जाते हैं। भावों को देखकर जाना जा सकता है कि किस प्रकार का कर्म होने वाला है और कर्मों को देखकर जाना जा सकता है कि किस प्रकार का भाव चल रहा है। यह अतीत को जानने और भविष्य को देखने की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। इसी के आधार पर अतीत को पढ़ा गया है और भविष्य को देखा गया है। आज भी यदि कोई व्यक्ति सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करे तो वह समझ सकता है कि अमुक

व्यक्ति कैसा है? किस प्रकार का इसका व्यवहार है? इसने क्या सोचा था? इसका चिंतन या भाव कैसा था? इसका आचरण कैसा था? ये सब बातें ज्ञात हो सकती हैं। इसी प्रकार वर्तमान के कर्मों की अवस्थाओं को देखकर यह समझा जा सकता है कि यह व्यक्ति भविष्य में किस प्रकार चिंतन, व्यवहार और आचरण करेगा? इस प्रकार अतीत और भविष्य को पकड़ा जा सकता है। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण माध्यम है, किंतु कर्मवाद के विषय की जानकारी बहुत कम है, भ्रांतियां अधिक हैं। आज भी कर्मवाद के नाम पर ऐसे सूत्र दोहराए जा रहे हैं, जो कर्मवाद की छवि को धूमिल करते हैं और भ्रांत तथा त्रुटिपूर्ण सिद्धांत की प्रस्थापना करते हैं। इससे अनेक भ्रांतियां पनपी हैं और निरंतर पनपती जा रही हैं। आज प्रत्येक घटना के साथ कर्म को जोड़ दिया जाता है, जबकि कर्म की अपनी एक सीमा है।

दो मित्र समुद्र के तट पर खड़े-खड़े ज्वार-भाटे को देख रहे थे। कुछ समय बीता। उन्हें एक जहाज दिखाई दिया। एक ने कहा–'मित्र! मेरे मन में एक प्रश्न उभर रहा है कि एक छोटी-सी सूई पानी में डूब जाती है, पर विशाल जहाज पानी में तैर जाता है। कारण क्या है?' दूसरा मित्र बोला–'इतना भी नहीं जानते? सूई ने कोई बुरा कर्म किया था पूर्वभव में, इसलिए वह पानी में डूब जाती है और जहाज ने कुछ अच्छे कर्म किए थे, इसलिए यह पानी में तैर जाता है। यह सब कर्म का ही चमत्कार है।

कर्म की सीमा

हम कर्म की सीमा को नहीं जानते, इसीलिए प्रत्येक बीमारी, मृत्यु और अन्यान्य निमित्तों के साथ कर्म का संबंध जोड़ देते हैं। कर्म के द्वारा भी कुछ होता है, यह यथार्थ है, पर सबकुछ कर्म के द्वारा ही होता है, यह मिथ्या है।

हमें चेतना और कर्म की सीमा का पूरा अवबोध करना चाहिए। चैतन्य की अपनी सीमा है और कर्म की अपनी सीमा है। चैतन्य की दो धाराएं हैं। एक है राग-द्वेष की धारा और दूसरी है निर्मल चैतन्य की धारा। जहां राग-द्वेष की धारा है, वहां उसके साथ कर्म का संबंध खोजा जा सकता है। जहां निर्मल चेतना की धारा है, वहां कर्म का कोई संबंध नहीं होता।

ध्यान करने का प्रयोजन है–वर्तमान क्षण का अनुभव करना। वर्तमान क्षण का अनुभव राग-द्वेष मुक्त क्षण का अनुभव है। जब हम राग-द्वेष मुक्त क्षण का अनुभव करते हैं, उस समय कर्म का योग नहीं होता, कर्म का बंध नहीं होता। उस समय हम कर्म से अतीत रहते हैं, उस समय केवल द्रष्टाभाव,

ज्ञाताभाव बना रहता है। जहां केवल जानना, केवल देखना होता है, वहां कर्म का संबंध नहीं होता। यह केवल जानना, केवल देखना कर्म के द्वारा नहीं होता, कर्म से अलग होने पर होता है। यह शुद्ध चेतना का प्रयोग है। इसे दार्शनिक भाषा में पारिणामिक भाव कहा जाता है। यह चेतना का परिणमन है, जिसके साथ कर्म का कोई संबंध नहीं है।

जब-जब मनुष्य राग-द्वेष के भाव में जाता है, उस समय राग-द्वेष से जुड़ा हुआ चित्त चैतसिक कर्म बन जाता है और जब-जब मनुष्य चैतसिक कर्म में होता है, उस समय कुछ परमाणुओं का संग्रहण होता है। कुछ परमाणु हमारे साथ जुड़ जाते हैं, हमारे सूक्ष्मतर शरीर के साथ जुड़ जाते हैं। वे पौद्गलिक या पारिणामिक कर्म बन जाते हैं। हम इन दोनों प्रकार के कर्मों से जुड़े हुए हैं।

इस स्थिति में एक नियम बन गया कि जहां चैतसिक कर्म है, राग-द्वेष युक्त चैतन्य है, वहां परमाणुओं का संग्रहण होगा। वे कर्म परमाणु उस राग-द्वेष के अनुरूप ही अपना परिणाम प्रकट करेंगे। इस सिद्धांत से कुछ बातें खोजी जा सकती है, कुछ घटनाओं को समझा जा सकता है।

तीव्र आसक्ति : सघन कर्म

मुनि स्कंधक बहुत बड़े तपस्वी संत थे। किसी कारणवश उनके शरीर की सारी चमड़ी को उधेड़ दिया गया। मुनि उस अत्यंत वेदनामय स्थिति में भी समभाव में रहे।

इस घटना का विश्लेषण किया गया। यह प्रश्न उठा कि ऐसा क्यों हुआ? मुनि के शरीर की चमड़ी क्यों उधेड़ी गई? इसके संबंध-सूत्र की खोज प्रारंभ हुई। उस खोज में यह ज्ञात हुआ कि स्कंधक अपने पूर्वभव में 'काचर' छील रहे थे। उन्होंने काचर को इतनी निपुणता से छीला कि उसका छिलका संलग्न रूप से उतर गया। वे अपनी इस निपुणता को सराहने लगे। अपनी निपुणता के प्रति इतनी मूर्च्छा और आसक्ति हो गई कि वे अपनी दक्षता पर फूले नहीं समाए। आसक्ति तीव्र होती गई। उस तीव्र आसक्ति ने इस प्रकार के चित्त का निर्माण किया, जिसने सघन और जटिल परमाणुओं का आकर्षण कर लिया। वे कर्म परमाणु जब विपाक में आए, तब स्कंधक के शरीर की चमड़ी उधेड़ दी गई।

इस संबंध-सूत्र की खोज में कर्म तक पहुंचा गया। कर्म के तीन प्रकार हैं– चित्त का कर्म, घटना का कर्म और परमाणु का कर्म। चित्त की तीन अवस्थाएं होती हैं–तीव्र, मध्यम और मंद। चित्त में राग-द्वेष तीव्र होता है, मध्यम होता है

और मंद होता है। एक आदमी अत्यंत तीव्र आसक्ति से प्रवृत्ति करता है। वह उसके चित्त की तीव्र अवस्था है। एक आदमी जीवनयापन के लिए नानाविध प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होता है। न उसमें तीव्र आसक्ति है और न राग-द्वेष। वह केवल जीवन चलाने के लिए प्रवृत्ति करता है, वह उसके चित्त की मंद अवस्था है। एक आदमी प्रवृत्ति करता है और कभी-कभी उसकी सराहना भी कर देता है। उसकी प्रवृत्ति में कुछ आसक्ति रहती है और कुछ अनासक्ति। वह उसके चित्त की मध्यम अवस्था है।

घटना में कोई अंतर नहीं आता। घटना एक ही होती है, पर उसके साथ चित्त की वृत्तियां भिन्न-भिन्न बन जाती हैं। उन वृत्तियों के आधार पर कर्म-परमाणुओं का संग्रहण भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है।

जब मंद चित्त से कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता है, वह अल्प और अल्पविपाकी होता है। वे कर्म परमाणु अल्प शक्ति वाले होते हैं। जब तीव्र चित्त से कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता है, तब वह आकर्षण सघन और बहुविपाकी होता है। उनका संश्लेष गाढ़ होता है और वे तीव्र विस्फोट करने में समर्थ होते हैं।

स्कंधक ने काचर छीला और बाद में उनकी चमड़ी उधेड़ी गई। दुनिया में काचर को न जाने कितने लोग छीलते हैं, पर किन-किन की चमड़ी उधेड़ी जाएगी? घटना का प्रश्न नहीं है, काचर का प्रश्न नहीं है, सबसे बड़ा प्रश्न है हिंसा का। यह जरूरी नहीं कि काचर का छिलका उतारने वाले की चमड़ी छीली जाए, मारने वाले को मारा जाए। यह अनिवार्यता सदा नहीं बनती, कभी-कभी बनती है। हिंसा करने वाला, हत्या करने वाला यदि तीव्र आसक्ति से हिंसा-चित्त का निर्माण करता है तो मारने वाले को मारा जाता है, छाल उतारने वाले की चमड़ी उधेड़ी जाती है। व्याख्या में बहुत अंतर आएगा।

सामान्यतः कहा जाता है, किसी का तुमने ऋण दबाया होगा, इसलिए तुम्हारा ऋण कोई दूसरा दबा रहा है। तुमने किसी के लड़के को मारा होगा, किसी के घर चोरी की होगी, किसी के घर डाका डाला होगा। इसीलिए तुम्हारे लड़के को किसी ने मार डाला, किसी ने तुम्हारे घर चोरी की, किसी ने तुम्हारे घर डाका डाला। ऐसा कोई नियम नहीं है। ऐसा हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता।

तीव्र अध्यवसाय से किया जाने वाला कर्म उसी रूप में परिणत होता है। मध्यम और मंद परिणाम से प्रवृत्ति की जाती है, कर्म किया जाता है तो जरूरी नहीं है कि वैसा का वैसा फिर घटित होगा। जब प्रवृत्ति के साथ तीव्र चित्त का

निर्माण हो जाता है तो वैसा भी घटित हो सकता है। इस प्रसंग में जीवन का एक रहस्य उद्घाटित होता है। कर्म आदमी को कब और कैसे करना चाहिए? कर्म का अर्थ है प्रवृत्ति। प्रवृत्ति तब करनी चाहिए जब अनिवार्यता हो। अनेक लोग इस सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं कि प्रतिपल कर्म-प्रवृत्ति करते रहना चाहिए। कोई न कोई काम करते रहना चाहिए। हम इस बात से सहमत नहीं हैं। काम या प्रवृत्ति हमारा उद्देश्य नहीं होना चाहिए। काम प्रयोजन की निष्पति है। काम उतना हो जितनी अनिवार्यता है। आज काम अनेक प्रकार के हो गए हैं। सिनेमा, टी.वी. देखना भी एक काम है, ताश-चौपड़ खेलना भी एक काम है। यह काम तो हो सकता है,पर हमारा उद्देश्य नहीं हो सकता। काम आवश्यकता से जुड़ा होना चाहिए। आवश्यकता की पूर्ति के लिए काम हो, यह है काम का उद्देश्य। दो प्रश्न हैं। पहला प्रश्न है–कार्य कब करना चाहिए? जब आवश्यकता हो तब कार्य करना चाहिए। दूसरा प्रश्न है–कार्य क्यों करना चाहिए? कार्य जीवन-यात्रा को चलाने के लिए करना चाहिए। प्रवृत्ति के बिना जीवन-यात्रा नहीं चलती, इसलिए प्रवृत्ति करनी होती है। ये दो उद्देश्य हो सकते हैं।

प्रवृत्ति कैसे करें?

तीसरा प्रश्न है–कर्म कैसे करना चाहिए? यह भी महत्त्वपूर्ण बात है। यहां भी अध्यात्मवाद या कर्मवाद का रहस्य उद्घाटित होता है। जिस व्यक्ति ने कर्मवाद को नहीं समझा, उसने अध्यात्म को नहीं समझा। जिसने अध्यात्म को नहीं समझा, उसने कर्मवाद को नहीं समझा। दोनों परस्पर जुड़े जुए हैं। अध्यात्मवाद का रहस्य है कि कर्म राग-द्वेष रहित भाव से होना चाहिए। राग-द्वेष जितना मंद हो सके, उतना मंद करना चाहिए, उससे जो कर्मबंध होगा, वह मंद होगा। कर्म के साथ जुड़ा हुआ है प्रतिकर्म अर्थात् कर्म का बंध। शास्त्रकार कहते हैं–

उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलिया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सो तत्थ लग्गई॥

(उत्तराध्ययन २५/४०)

मिट्टी के दो गोले हैं। एक है गीला और दूसरा है सूखा। गीली मिट्टी का गोला दीवार पर फेंकने से वहां चिपक जाता है और सूखा गोला दीवार पर लगकर जमीन पर आ गिरता है। जिस प्रवृत्ति के साथ राग-द्वेष की तीव्रता होती है, वहां मिट्टी गीली हो जाती है और वह दीवार पर चिपक जाती है। उससे कर्मबंध तीव्र होता है।

जिस प्रवृत्ति के साथ राग-द्वेष मंद होता है, वही मिट्टी सूखी होती है। वह दीवार पर चिपकती नहीं, उससे कर्मबंध मंद होता है। कर्म-परमाणु आते हैं, आत्म-प्रदेशों का स्पर्श कर झड़ जाते हैं।

कर्म कैसे करना चाहिए, यह एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है और इससे अध्यात्मवाद का, ध्यान का सही मार्ग उद्घाटित होता है। यदि ध्यान के द्वारा हमारी प्रवृत्ति में कोई परिवर्तन न आए, कर्म की धारा न बदले, 'कैसे करें' यह सिद्धांत फलित न हो तो ध्यान करने का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। केवल आंखें मूंदकर बैठ जाना, कुछ क्षणों तक शांति या विश्राम का अनुभव कर लेना इतना ही पर्याप्त नहीं है। ध्यान की निष्पत्ति है, 'कर्म कैसे करें' की अनुभूति।

आज उद्योग के क्षेत्र में 'Know How' का सिद्धांत आ गया है। उसी के आधार पर एक उद्योगपति रोज नए-नए उद्योग स्थापित करता है, जिससे कि पहले के उद्योगों को पोषण मिल सके। कर्म कैसे करें यह भी अध्यात्मवाद का 'नो हाउ' का सिद्धांत है। जब तक यह नहीं जाना जाता, तब तक ध्यान करने की भी सार्थकता नहीं होती। ध्यान की सार्थकता तभी होती है, जब हमें यह बोध हो जाता है कि हम प्रवृत्ति करें तो कैसे करें? प्रवृत्ति के साथ राग-द्वेष की धारा अत्यंत मंद हो। राग-द्वेष रहे ही नहीं, यह तभी संभव है, जब व्यक्ति वीतराग बन जाता है। जब तक वह वीतराग नहीं बनता, तब तक राग-द्वेष सर्वथा क्षीण नहीं होता, मंद अवश्य हो सकता है। जब राग-द्वेष मंद होता है, तब कर्म का दोष भी मंद हो जाता है। बहुत सारे लोग इस बात को नहीं जानते।

स्कंधक ने काचर को छीला, इसलिए चमड़ी उधेड़ी गई। यह मूल बात नहीं है। लोगों ने केवल स्थूल बात पकड़ी है। मूल छिपा रहता है गहराई में। व्यक्त होता है फूल और पत्ता। स्कंधक ने काचर को छीला, उसका परिणाम नहीं था कि उनकी चमड़ी उधेड़ी गई। परिणाम इसलिए आया कि काचर कैसे छीला? किस दक्षता से छीला? 'कैसे' के साथ ही राग-द्वेष की तीव्रता, मंदता का अनुमान होता है और उसी के आधार पर कर्मबंध होता है। कैसे खाएं? कैसे चलें? कैसे बोलें? कैसे बैठें? कैसे सोएं? यही तो महत्त्वपूर्ण होता है। 'कैसे' का फलित है भावक्रिया। जो कार्य किया जाए, उसी में तन्मय हो जाना। चलते समय केवल चलें, और कुछ न करें, यह है 'कैसे चलें' का कर्म। इसी प्रकार समस्त क्रियाओं के साथ भावक्रिया होनी चाहिए। चलते समय शरीर चले, मन न चले। यह है गमनयोग। निषण्णयोग पद्मासन आदि की मुद्रा में किया जाता

है। खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करना स्थानयोग है। गमनयोग है चलते-चलते ध्यान करने की उत्कृष्ट स्थिति। इसमें शरीर चल रहा होता है, मन स्थिर रहता है।

ध्यान की निष्पत्ति

ध्यान से दो बातें स्पष्ट रूप से सीख ली जाती हैं—कब करना, क्यों करना? तीसरी बात है कैसे करना? जब यह तीसरी बात समझ में आ जाती है, तब जानना चाहिए कि ध्यान निष्पन्न हो रहा है, ध्यान फलित हो रहा है। जो बीज बोया था, वह अब पौधा बन रहा है, पेड़ बनकर फल दे रहा है।

ध्यान के संदर्भ में हम कर्मवाद की चर्चा कर रहे हैं। एक महत्त्वपूर्ण सूत्र हमारे पास है कि ध्यान से हमारी चेतना सूक्ष्म बने, चित्त और मन की स्थूलता मिटे। मन सूक्ष्म बने, चित्त सूक्ष्म बने, वाक् सूक्ष्म बने और हम सूक्ष्म सत्य के नियमों को पकड़ सकें। उन नियमों के आधार पर हम अतीत को व्याख्यायित कर सकते हैं और भविष्य को जान सकते हैं। आत्मनिरीक्षण के क्षणों में प्रत्येक व्यक्ति अपने अतीत को पढ़ सकता है और भविष्य को जान सकता है। वह जान सकता है कि अतीत में मैं क्या था और भविष्य में मरकर क्या होऊंगा? जिस व्यक्ति ने अपने चित्त को पढ़ना प्रारंभ कर दिया, उसने अपने भावी जीवन को देखना प्रारंभ कर दिया। वह चैतसिक कर्म अथवा आस्रव को पढ़ना प्रारंभ कर देता है।

अतीत और भविष्य दोनों के चित्र जब उद्घाटित होते हैं तब वर्तमान की घटनाओं का अच्छा विश्लेषण किया जा सकता है। उस स्थिति में दूसरों पर दोषारोपण करने की बात समाप्त हो जाती है, फिर व्यक्ति घटना के लिए स्वयं को उत्तरदायी मानने लग जाता है। जब घटना घटित होती है, तब वह यह नहीं कहता कि अमुक-अमुक इसके लिए उत्तरदायी हैं, पर वह कहता है, मैं ही इसका उत्तरदायी हूं। दीपक जल रहा है। हवा का झोंका आया। दीपक बुझ गया। तेल भी समाप्त हो चुका था, पर सारा दोष हवा को दिया जाएगा। कहा जाएगा कि हवा का झोंका आया और दीपक बुझ गया। यह निमित्त पर दोष देने की बात है।

ध्यान के द्वारा जिसकी चेतना जाग जाती है, वह व्यक्ति पहले उपादान को देखता है, फिर निमित्त पर ध्यान देता है। वह निमित्तदर्शी नहीं, उपादानदर्शी बन जाता है। यह हमारी चेतना का आध्यात्मिक विकास है। जिस व्यक्ति की आध्यात्मिक चेतना जाग जाती है, वह उपादान की दृष्टि को प्राप्त हो जाता है। वह निमित्त को गौण मानकर देखता है।

२३. पदचिह्न रह जाते हैं

ध्यान के साथ बदलने की बात जुड़ी हुई है। पूरी साधना और धर्म की आराधना के साथ बदलने का क्रम होता है। यदि ध्यान और धर्म की आराधना के द्वारा परिवर्तन घटित न हो, व्यक्ति न बदले, तब वह ध्यान और धर्म की आराधना मात्र एक मनोरंजन बन जाती है। बदलना व्यक्तित्व-निर्माण की प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। व्यक्तित्व के निर्माण का अर्थ है कि जो अवांछनीय तत्त्व हैं, वे जीवन से निकल जाएं और जो वांछनीय तत्त्व हैं, वे जीवन में आएं। यह है जीवन का निर्माण।

हर व्यक्ति बहुत बड़े खजाने को साथ लेकर चलता है। जब आदमी चलता है, तब कोरा शरीर ही नहीं चलता, उसके साथ मन भी चलता है और इन्द्रियां भी चलती हैं। मन और इन्द्रियां ही नहीं, बहुत बड़ा भंडार चलता है। कर्मशास्त्र की भाषा में कहें तो वह है कर्म का भंडार। इतना बड़ा खजाना है कि चेतना के एक-एक अणु पर अनंत-अनंत परमाणु लगे हुए हैं। आनुवंशिकी विज्ञान के अनुसार प्रत्येक जीन में लाखों-लाखों संस्कार होते हैं, किंतु कर्मशास्त्र के अनुसार चैतन्य के एक अणु पर अनंत-अनंत कर्म-परमाणु और असंख्य संस्कार संलग्न हैं। इतना बड़ा भंडार हमारे भीतर है। जब इतना बड़ा भंडार साथ में चलता है, कितना भार होगा व्यक्ति के सिर पर, नहीं कहा जा सकता। आश्चर्य होता है कि आदमी इतना बोझ कैसे ढो रहा है? इतना बोझ न गधा ढो सकता है, न ऊंट और न हाथी ढो सकता है। आज का कोई वाहन इतना बोझ ढोने में समर्थ नहीं, पर आदमी का मस्तिष्क बोझ ढो रहा है, फिर सिर भारी न हो, तनावग्रस्त न हो तो आश्चर्य मानना चाहिए।

धारणा का भार

दो प्रकार का भार है। एक है धारणा का भार और दूसरा है संस्कार का भार। धारणा ज्ञानात्मक होती है। यह ज्ञान की प्रक्रिया है। कोई वस्तु सामने

आई उसका ग्रहण हुआ। उस विषय में ईहा और तर्क चला। एक निश्चय पर पहुंच गया। निश्चय के बाद फिर धारणा बन जाती है। धारणा का अर्थ है–स्मृतिचिह्न। जो बात धारणा में आ गई, अविच्युति में चली गई, उसकी स्मृति हो सकती है। तर्कशास्त्र के अनुसार धारणा से उत्पन्न होने वाला ज्ञान है स्मृति। धारणा को स्मृतिचिह्न कहा जाता है। स्मृतिचिह्न होता है, तब स्मृति होती है। यह ज्ञान की एक शृंखला है, एक क्रम है, यह ज्ञानात्मक स्मृतिचिह्न है। धारणा में होने वाला ज्ञान प्रबुद्ध हो जाता है। आदमी में कितनी-कितनी धारणाएं हैं। आदमी सुनता है, खाता है, देखता है, पढ़ता है, अनुभव करता है। इनके आधार पर हजारों-हजारों धारणाएं बनती हैं। किसी को देखने से मन में प्रेम उत्पन्न हो जाता है, किसी को देखने से मन में द्वेष उत्पन्न हो जाता है, किसी को देखने से विनम्रता की भावना जागती है और किसी को देखने से अहंकार जाग उठता है। विनम्रता, उद्दंडता, प्रेम का प्रदर्शन और क्रोध का प्रदर्शन–ये सारे व्यवहार हैं। ये सब सहेतुक हैं। निर्हेतुक कुछ भी नहीं होता है, वैसा ही व्यवहार होता है। एक ही घटना, एक ही वस्तु और एक ही व्यक्ति के आसपास अनेक अभिव्यक्तियां हो जाती हैं। जिसके साथ जैसी धारणा जुड़ी हुई होती है, वैसा ही व्यवहार और आचरण होता है। उस वस्तु या व्यक्ति के प्रत्यक्ष होने पर धारणा उभर आती है और फिर व्यक्ति वैसा ही व्यवहार करने के लिए बाध्य हो जाता है। यह है हमारी ज्ञानात्मक धारणा।

संस्कार का भार

दूसरा भार है–संस्कार। धारणा और संस्कार में अधिक अंतर नहीं है। धारणा है ज्ञानात्मक संस्कार और संस्कार है कर्मगत संस्कार। इसे कर्मशास्त्र की भाषा में बंध कहा जाता है। व्यक्ति का आचरण रागात्मक अथवा द्वेषात्मक होता है। उसी प्रकार परमाणुओं का एक संग्रह हो जाता है। एक भंडार भर जाता है। जब तक यह भंडार केवल सत्ताकाल में रहता है, संचितकाल में रहता है, तब तक यह परिणाम नहीं देता। यह धारणा या संस्कार मात्र बना रहता है। यह अस्तित्वकालीन अवस्था है, किंतु जैसे ही उद्दीपनों, निमित्तों का सहयोग मिलता है, तब वह संस्कार जाग जाता है। तब बंधा हुआ कर्म विपाक में आता है, उदयकाल में आता है और परिणाम देने लगता है। उस समय व्यक्ति की स्थितियां बदलने लगती हैं। जैसा उदय में आया, वैसी ही स्थिति बन जाती है। यह दूसरा पदचिह्न है, या कर्मचिह्न है, जो प्रबुद्ध होकर व्यक्ति को प्रभावित करता है।

व्यक्तित्व के निर्माण में दो प्रकार के तत्त्व कार्य करते हैं–बाह्य और आंतरिक। देश, काल, परिस्थिति और वातावरण–ये व्यक्तित्व-निर्माण के बाह्य घटक हैं। जीन, आनुवंशिकता और कर्म-संस्कार–ये आंतरिक होते हैं। इनसे घिरा हुआ आदमी अपने आपको कैसे बचाए? कितना बचाए? यह समस्या बहुत टेढ़ी है, जटिल है। इसीलिए कुछ प्रश्न आज उभरे हैं। ये प्रश्न आज के नहीं, हजारों-हजारों वर्षों से उभरते आ रहे हैं कि ज्ञान और आचरण तथा कथनी और करनी के बीच इतनी दूरी क्यों है? इस प्रश्न का आज तक समाधान नहीं हो सका। इतने प्रयत्नों के उपरांत भी यह प्रश्न आज भी वैसे ही खड़ा है। आदमी इस खाई को पाटने में सक्षम नहीं हो पाया है। यदि यह सोचा जाए कि धर्म करने वाला या ध्यान करने वाला इन सारे प्रश्नों को समाहित कर देगा तो यह भी भ्रांति होगी। यदि ऐसा होता तो आज तक ये प्रश्न समाहित हो जाते।

धन और धर्ममार्ग भिन्न

एक प्रश्न सामने आया कि धर्म करने वाला बहुत दुःख पाता है और अधर्म करने वाला सुखमय जीवन जीता है। इसका कारण क्या है? महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। प्रश्नकर्ता प्रत्यक्षतः देखता है कि सचाई से चलने वाला, नैतिकता और ईमानदारी से चलने वाला अपने रहने के लिए साधारण-सा घर भी नहीं बना पाता, कार की बात तो दूर है। आधुनिक सुख-सुविधा के साधनों की प्राप्ति की बात दूर है, वह अपने बच्चों को पढ़ाने में भी कठिनाई का अनुभव करता है। जो आदमी बुराई, अनीति और अप्रामाणिकता से काम करता है, उसके पास बंगला है, कार है, सुख-सुविधा के सारे साधन हैं और उसके बच्चे महंगे स्कूलों में पढ़ते हैं। तब प्रश्न उभरता है कि यदि धर्म करने का यही परिणाम रहेगा तो धर्म के प्रति आकर्षण कैसे रहेगा? सारा आकर्षण जाएगा अधर्म की ओर, अन्याय और अप्रामाणिकता की ओर। व्यक्ति के मन में भावना उभरेगी कि जिसने नीति का अतिक्रमण किया, वह सुखी जीवन जी रहा है और जो धर्म के पीछे पड़ा रहा, वह दुःखी जीवन जी रहा है, नौकरी के लिए दर-दर भटक रहा है। उसे कोई काम नहीं मिलता।

प्रामाणिकता से जीवन-यापन करने वाला एक अणुव्रती नौकरी के लिए एक सेठ के यहां गया। सेठ ने उसका परिचय पूछा। उसने कहा–'मैं अणुव्रती हूं और प्रामाणिकता से कार्य करने में आस्था रखता हूं।' सेठ बोला–'देखो, मेरा

धंधा कुछ दूसरे प्रकार का है। यहां दो नंबर के खाते भी रखने होंगे, मिलावट भी करनी होगी। यदि ये सब कार्य तुम कर सकोगे तो मैं तुम्हें अच्छा वेतन दूंगा। तुम सुखी हो जाओगे।' वह बोला–'सेठ साहब! मैं ये सब अनीति के कार्य नहीं कर सकूंगा।' सेठ ने कहा–'नमस्ते! घर जाओ और आराम से बैठे रहो।'

ऐसी स्थिति में प्रश्न होना स्वाभाविक होता है कि इस पदार्थवादी दुनिया में, जहां सारे पदार्थवादी दृष्टिकोण से देखते-समझते हैं, वहां आदमी यह सोचने के लिए मजबूर होगा कि धर्म करने वाले की बुरी स्थिति होती है और अधर्म से चलने वाले की अच्छी स्थिति होती है। ऐसी स्थिति में आदमी धर्म को सिर पर लादे फिरता रहे या उसे उतार फेंके? वह क्या करे? प्रश्न जटिल-सा लगता है, पर जटिल नहीं है। मात्र हमारे चिंतन का अंतर है। यह प्रश्न पदार्थ को सामने रखने पर ही तो उत्पन्न हुआ। यह धर्म का प्रश्न धर्म की भूमिका पर उत्पन्न नहीं हुआ है। प्रश्न तो है धर्म का, पर उसकी पृष्ठभूमि है पदार्थ। पदार्थ को सामने रखकर ही यह प्रश्न पैदा हुआ। किसने कहा कि धर्म से धन मिलेगा, पदार्थ मिलेंगे, सुख-सुविधाएं मिलेंगी? यह बड़ी भ्रांति है। जिसने इस पृष्ठभूमि पर धर्म को समझा है, उसने धर्म का 'क-ख-ग' भी नहीं जाना है। धर्म की पृष्ठभूमि है, पदार्थ का त्याग। जब पदार्थ का त्याग प्रारंभ होता है, तब धर्म का प्रारंभ होता है। धर्म का आदि-बिंदु है पदार्थ का त्याग और प्रस्तुत प्रश्न खड़ा हुआ है बंगले को देखकर। बहुत सारे लोग यही देखते हैं कि इसने बेईमानी की और आज दस बिल्डिंगे खड़ी कर लीं। इस बेचारे ने ईमानदारी से काम किया और आज किराए के मकान में गुजारा कर रहा है। एक भाई ने कहा कि मैं भारत सरकार के एक संस्थान में नौकरी करता हूं। मेरे हाथ में इतने अधिकार हैं कि मैं चाहूं तो अनेक कोठियां खड़ी कर सकता हूं, पर मन नहीं मानता कि ऐसा करूं।

यह सारा व्यक्ति की रीति-नीति पर निर्भर करता है, लेकिन इसे धर्म के साथ जोड़ दिया गया। कभी-कभी हम आत्म-भ्रांतियों में बह जाते हैं। हम विरोधाभासी चिंतन में पलते रहते हैं। धर्म का मानदंड बना दिया कोठियों, सुख-सुविधाओं और कारों को। धर्म के साथ इनका कोई संबंध नहीं है। कर्मवाद के विषय में चर्चा करते समय हम इस प्रश्न पर बहुत गहराई से विचार करें। यह प्रश्न जटिल और उलझाने वाला है। न जाने कितने लोग इस प्रश्न के आधार पर नैतिक आस्था खोकर अनैतिक बन जाते हैं।

एक व्यक्ति बहुत प्रामाणिकता के साथ चला और जीवन की संध्या में सोचने लगा–मैं नैतिकता और सचाई पर रहा, इसलिए आज कठिनाइयां झेलनी पड़ रही हैं। अनैतिकता का आचरण करने वाले आज मौज कर रहे हैं। उनके बाल-बच्चे आराम का जीवन जी रहे हैं और मेरे बच्चे दीनता का जीवन जी रहे हैं। नैतिकता, सचाई आदि कुछ नहीं है। इनसे कुछ भी होना जाना नहीं है। वह व्यक्ति जीवन की संध्या में नैतिकता को तिलांजलि देकर, अनैतिकता की शरण में आ गया। ऐसा न जाने कितने लोग करते होंगे।

हम यदि किसी निष्कर्ष पर पहुंचना चाहते हैं तो हमें दोनों बातों को पृथक्-पृथक् करना होगा। चेतना और चिंतन का परिवर्तन करना होगा। आज आदमी ने धर्म के साथ जिन परिणामों को जोड़ रखा है, यदि ये परिणाम धर्म के हैं तो चिंतन करना होगा। धर्म से यदि धन और मकान मिलता है, सुख-सुविधा के साधन मिलते हैं तो यह प्रश्न उचित है, महत्त्वपूर्ण है। इस प्रश्न को टाला नहीं जा सकता।

धर्म है बुराई का शोधन

धर्म का कार्य यदि पुराने संस्कारों को क्षीण करना, बुराई के संस्कारों को क्षीण करना, चेतना के आवरण को हटाना, मूर्च्छा और लालसा को मिटाना, भय-क्रोध, अभिमान, माया आदि वृत्तियों का परिष्कार करना, शोधन करना है तो फिर उस प्रश्न की कोई सार्थकता नहीं है। धन आदि उपलब्ध करना धर्म का काम नहीं है। आज आदमी यदि यह सोचता है कि मैंने धर्म किया, नैतिक आचरण किया और घाटे में रह गया तो मानना चाहिए कि आदमी ने धर्म को समझा ही नहीं, धर्म का आचरण किया ही नहीं। धार्मिक व्यक्ति कभी ऐसा सोच नहीं सकता। वह सोचता है, मैंने जो धर्म में पाया है, वह अधर्म करने वाला कभी नहीं पा सकता।

एक संन्यासी काले कपड़े पहनकर गृहस्थ के घर भिक्षा लेने गया। गृहस्थ समझदार था। उसने पूछा–'महात्माजी! काले कपड़े क्यों पहन रखे हैं?' संन्यासी बोला–'मेरा मित्र मर गया, इसलिए उसके शोक में मैंने काले कपड़े पहने हैं। यह शोक-चिह्न है।' आपका मित्र कौन था, क्या मैं जान सकता हूं?' गृहपति ने पूछा। संन्यासी ने कहा–'महाशय! मेरे मित्र थे-काम, क्रोध, भय, लोभ, माया। ये मेरे चिरपरिचित और दीर्घकाल से मेरे साथ रहने वाले मित्र थे। आज उनका अता-पता भी नहीं है। वे सब मुझसे अलग हो गए, मर गए। उनके वियोग में मैंने ये काले कपड़े पहने हैं।'

गृहपति ने सोचा, यह कोई धूर्त है। मनुष्य-जीवन हो और काम, क्रोध आदि न हो, ऐसा हो नहीं सकता। यह कोई ठग है। उसने अपने नौकर से कहा–'यह संन्यासी धूर्त है, निकाल दो इसको घर से बाहर।' नौकर ने हाथ पकड़कर उसे बाहर कर दिया। संन्यासी आगे बढ़ा। दस-बीस कदम गया होगा कि गृहपति ने पुनः नौकर से कहा–'जाओ, संन्यासी को बुला लाओ। बेचारा भूखा होगा। उसे भोजन तो करा दो।' नौकर गया। संन्यासी मुड़ा और घर के दरवाजे पर आ गया। गृहपति ने रोष में कहा–'फिर आ गए! अभी-अभी यहां से निकाला था, फिर आ गए? शर्म नहीं आती?' फिर धक्का देकर निकाल दिया। नौकर को पुनः भेजकर उसे बुलाया। वह आया, फिर तिरस्कार कर निकाल दिया।

ऐसा आचरण एक-दो बार नहीं, तीन बार किया। संन्यासी आता गया और तिरस्कृत होकर लौटता गया। अंत में गृहपति ने संन्यासी से क्षमायाचना करते हुए कहा–'क्षमा करें! मैंने बहुत दुर्व्यवहार किया आपके साथ। मुझे वास्तव में यह प्रतीत हो गया कि आपके चिरपरिचित मित्र मर गए हैं। यदि आपका मित्र क्रोध नहीं मरता तो आप ऐसा व्यवहार कभी नहीं कर पाते।'

संन्यासी बोला–'महाशय! मैंने कौन-सी बड़ी बात की? आपने बार-बार बुलाया, मैं आ गया। ऐसा तो एक कुत्ता भी करता है, उसे दिन में कितनी बार दुत्कारा जाता है, फिर भी वह आना-जाना नहीं छोड़ता, पर एक फर्क है। जब काम-क्रोध मर जाते हैं, तब आदमी का व्यवहार बदल जाता है, चेतना बदल जाती है। कुत्ते में सत्कार-तिरस्कार की चेतना नहीं होती। उसमें कुछ बदलता नहीं। यह मर्म तुमने नहीं समझा।'

चेतना में परिवर्तन घटित होना, चेतना को प्रभावित करने वाली कर्मवर्गणा का बदल जाना, उन संस्कारों का क्षीण हो जाना, यह महत्त्वपूर्ण घटना है। हम केवल व्यवहार को देखते हैं, किंतु व्यवहार के पीछे उसको प्रभावित करने वाली जो चेतना है, उसको नहीं देखते। जब तक वह चेतना नहीं बदलती, संस्कार नहीं बदलते, तब तक उसका कोई प्रभाव नहीं होता। मुझे प्रतीत होता है कि धर्म करने वालों की चेतना अभी बदली नहीं है। यदि चेतना का रूपांतरण होता है तो यह प्रश्न खड़ा नहीं हो सकता कि धर्म करने वाला दुःखी होता है और न करने वाला सुखी होता है। ईमानदार आदमी घाटे में रहता है और बेईमान नफे में रहता है। ऐसा प्रश्न कभी उठ नहीं सकता। यह प्रश्न तभी उठता है, जब चेतना का रूपांतरण नहीं होता। हमने धर्म को स्थूल

रूप में पकड़ा है, धर्म के मर्म का स्पर्श नहीं किया। धर्म आंतरिक प्रक्रिया है संस्कारों को क्षीण करने की। ध्यान धर्म का ही एक घटक है। वह शक्तिशाली प्रक्रिया है, जिसके द्वारा आंतरिक चेतना के साथ हमारा संपर्क स्थापित होता है और तब कर्म क्षीण होते हैं।

एक धार्मिक व्यक्ति है। उसके पुत्र का वियोग हो गया। एक धार्मिक व्यक्ति है, उसकी पत्नी की मृत्यु हो गई। एक धार्मिक महिला है, उसके पति का वियोग हो गया। अब धर्म का आचरण करने वालों के मन में प्रश्न खड़ा होता है कि देखो, मैंने इतना धर्म किया, इतना ध्यान किया, सत्संग किया, फिर भी इतनी बड़ी विपत्ति आ गई, इतना भयंकर कष्ट आ गया, फिर अंतर क्या आया धर्म करने वालों में और धर्म न करने वालों में? बड़ी समस्या है। ऐसा कोई नियम होना चाहिए था कि जो धर्म की शरण में नहीं जाएगा, उसके बेटे भी मर सकते हैं, पत्नी भी मर सकती है और दूसरे वियोग भी हो सकते हैं, किंतु जो व्यक्ति धर्म की शरण में चला जाता है, उसके न पति का वियोग होगा, न पत्नी का वियोग होगा, न पुत्र मरेगा, न बाप मरेगा, कोई वियोग नहीं होगा। यदि ऐसा कोई नियम होता तो कोई भी व्यक्ति अधर्म नहीं करता। कोई अधर्म में नहीं जाता, परंतु ऐसा कोई नियम नहीं है।

नियम इसलिए नहीं है कि धर्म करने वाले के पास भी पुराना भंडार भरा हुआ है। दोनों अतीत के साथ जुड़े हुए हैं। आज जिस व्यक्ति ने धर्म की आराधना शुरू की, क्या उसका अतीत समाप्त हो गया? नहीं, अतीत उसके साथ सदा जुड़ा रहता है। भविष्य में अंतर आ सकता है, पर अतीत का भंडार खाली नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति के साथ अनंत अतीत जुड़ा रहता है। वह एक साथ समाप्त नहीं होता। जब तक वह समाप्त नहीं होता, जुड़ा रहता है, तब तक धर्म करने वाले और धर्म न करने वाले में कोई अंतर नहीं होता। केवल वर्तमान के आधार पर चिंतन करना और निर्णय लेना तथा अतीत को विस्मृति के गर्त में डाल देना समझदारी नहीं है। हम ऐसा क्यों नहीं सोचते कि हमने आज धर्म की आराधना प्रारंभ की, ध्यान का प्रयोग शुरू किया, इससे हम अतीत के संस्कारों और बंधनों को कम कर पाएंगे, पर अनंत अतीत को एक साथ समाप्त कैसे कर देंगे? इस भ्रांति को मिटाना चाहिए। इस भ्रांति के कारण न जाने कितने लोग मार्गच्युत होकर धर्म और ध्यान के विरोधी बन जाते हैं।

अतीत का शोधन करना, अतीत के खजाने को खाली करना, अतीत के

बंधन को काट डालना, अतीत के संस्कारों को समाप्त कर देना, यह है धर्म और ध्यान का परिणाम या उद्देश्य। अतीत के परिणामों से बच जाना धर्म का उद्देश्य नहीं है। यह हो सकता है कि आज किसी व्यक्ति ने धर्म की आराधना प्रारंभ की, वह अतीत के प्रति जागरूक बन गया, अतीत में जो भंडार भरा था, उसके प्रति इतना जागरूक हो गया कि वह उसे प्रभावित कर सकेगा। अतीत के संस्कारों के उदय में उसने एक रुकावट पैदा कर दी।

धर्म है वर्तमान में जागरूकता

धर्म की आराधना का अर्थ है वर्तमान के प्रति जागरूक रहना। वर्तमान में जागरूक रहने वाला व्यक्ति एक प्रतिरक्षा पंक्ति खड़ी कर देता है और तब वह अतीत के संस्कारों के प्रभाव से बच जाता है। शरीर रोग से बचता है तो वह दवाइयों से नहीं बचता। वह अपनी प्रतिरक्षा पंक्ति से बचता है। हमारे शरीर में एक प्रतिरक्षा पंक्ति है, जो रोग के कीटाणुओं से लड़ती रहती है। पूरा शरीर रोग के कीटाणुओं से भरा पड़ा है। वे उसी में पल रहे हैं, पुष्ट हो रहे हैं, फिर प्रश्न होता है कि आदमी स्वस्थ कैसे रह पाता है? शरीर में कीटाणु हैं, फिर भी हम स्वस्थ इसलिए रह पाते हैं कि शरीर में प्रतिरोधात्मक शक्ति होती है। वह एंटीबॉडी है। वह प्रतिरोधी शरीर रोग से बचाता है, कीटाणुओं को समाप्त करता है। उनके आक्रमण को विफल बना देता है।

यदि यह प्रतिरोधात्मक शक्ति नहीं होती, तो कभी आदमी बिस्तर को छोड़ ही नहीं सकता। हम ध्यान का प्रयोग करते हैं, धर्म की आराधना करते हैं तो इसका अर्थ है कि हम संस्कार के सामने प्रति-संस्कार पैदा कर रहे हैं। जो कर्म का खजाना हमें प्रभावित करता है, जो संस्कार हमें प्रभावित कर रहे हैं, उनके समक्ष ऐसी प्रतिरोधात्मक पंक्ति खड़ी कर देते हैं कि हम संस्कारों के प्रहारों से बच जाते हैं। यह है धर्म का परिणाम और ध्यान का परिणाम।

हम इस तथ्य को विस्मृत कर कह देते हैं कि धार्मिक के जीवन में यह विपत्ति क्यों आई? अरे, धार्मिक कौन-सा बड़ा आदमी है? ध्यान करने वाला कौन-सी तीसरी दुनिया से आया हुआ है। न जाने अतीत में उसने क्या-क्या किया था? अपराध का चित्त उसमें विद्यमान था। कितने लोगों के जीवन में उसने कितने प्रकार के विघ्न पैदा किए थे, बाधाएं डाली थीं। आज यदि उसके जीवन में विघ्न-बाधाएं आती हैं तो वह कहता है, मैं अच्छा काम करना चाहता था, पर विघ्न आ गया। अरे, तुम अपने अतीत को देखो। तुमने कितने

विघ्न डाले थे, कितनी अंतराय पैदा की थी? उन सबका परिणाम आज तुम्हें भुगतना पड़ रहा है।

आदमी अच्छे काम प्रारंभ करता है तो हजारों विघ्न सामने आकर खड़े हो जाते हैं। बुरे काम करो, अवरोध पैदा करने वाले कम मिलेंगे। अच्छे काम करो, अवरोध पैदा करने वाले एकत्रित हो जाएंगे। ऐसा होता है। यह संसार का क्रम है।

हमारे संघ की घटना है। लगभग पचास वर्ष पूर्व उदयपुर के संभ्रांत परिवार का एक दस वर्षीय बालक दीक्षित होने जा रहा था। सारे नगर में दीक्षा की बात फैल गई। हर्ष के साथ-साथ लोगों में विरोध भी उभर गया। बाजार में सब्जियां बेचने वाली औरतों ने भी विरोध के स्वर में स्वर मिला दिया। विरोध से पूर्व किसी को यह ज्ञात भी नहीं था कि वह बालक उदयपुर में बस रहा है, जी रहा है, किंतु जब दीक्षा के लिए वह तैयार हुआ, तब विरोध का स्वर प्रबल हुआ और एक कोने में अज्ञात बालक सारे नगर में ज्ञात हो गया। विरोध करने वालों का उस बालक से न कोई पारिवारिक संबंध था और न कोई लेन-देन का संबंध और न कोई व्यावसायिक संबंध ही था, फिर भी उनका विरोध था कि वह दीक्षित न हो। ऐसी स्थितियों की कोई तर्कसंगत व्याख्या नहीं हो सकती। इससे एक ही निष्कर्ष निकलता है कि जहां अच्छाई की बात आती है, वहां अवरोध पैदा होता है।

ध्यान करने वाले व्यक्ति में जब विपत्ति आती है, तब उसे सोचना चाहिए कि मैंने अतीत में न जाने कितने अवरोध पैदा किए होंगे, दीवारें खड़ी की होंगी, उनका परिणाम आज मुझे भुगतना पड़ रहा है। आदमी में मूर्च्छा का चित्त, आवरण का चित्त, अंतराय का चित्त होता है। ऐसी स्थिति में कैसे कल्पना की जाए कि अतीत का परिणाम न आए, धार्मिक व्यक्ति में विपत्ति न आए? यदि ऐसा चिंतन किया जाता है तो यह सचाई पर पर्दा डालने जैसी बात होती है। ऐसे चिंतन से धर्म और ध्यान के प्रति विमुखता का भाव पैदा होता है। चिंतन यह होना चाहिए कि वर्तमान में मैं जागरूक होता हूं, ध्यान का प्रयोग करता हूं तो इसका अर्थ होगा कि भविष्य में अंतराय, आवरण और मूर्च्छा के कारण जो मैंने संचित किए हैं, उन्हें भुगतना होगा और यदि वर्तमान की प्रक्रिया तीव्र होगी तो उन संस्कारों को क्षीण करने की शक्ति भी पैदा हो जाएगी, किंतु वर्तमान में आने वाली घटना के आधार पर हम कोई भी निर्णय लेते हैं तो निर्णय यथार्थ नहीं हो सकता, वह धर्म के प्रतिकूल होगा, मिथ्या दृष्टिकोण होगा।

इस संदर्भ में एक प्रश्न आता है कि तब वर्तमान में क्या होना चाहिए? यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है। इसका उत्तर इतना ही है कि वर्तमान में जागरूकता बढ़नी चाहिए। ध्यान करने वाले व्यक्ति में घटना और उसके परिणाम के संवेदन का अंतर स्पष्ट होना चाहिए। यह है वर्तमान की जागरूकता।

बच्चा घटना और परिणाम में स्पष्ट फर्क नहीं कर सकता, क्योंकि वह अनजान है। मां इधर-उधर कुछ ढूंढ़ रही थी। बच्चे ने पूछा–'मम्मी! क्या खोज रही हो?' वह बोली–'डॉक्टर का बिल खोज रही हूं।' बच्चा बोला–'डॉक्टर का बिल मैं नहीं जानता। चूहे का बिल इस कोने में है।' बच्चे के लिए डॉक्टर के बिल और चूहे के बिल में कोई अंतर नहीं होता।

जब तक व्यक्ति की धारणाएं या मान्यताएं स्पष्ट नहीं होतीं, तब तक डॉक्टर का बिल, चूहे का बिल ही बना रहता है। हमारी धारणा स्पष्ट होनी चाहिए कि धर्म और ध्यान करने वाले और न करने वाले व्यक्ति में क्या अंतर होता है? जो व्यक्ति धर्म और ध्यान का प्रयोग करता है, वह घटना के घटित हो जाने पर भी संवेदन से नहीं भरता और जो धर्म और ध्यान का प्रयोग नहीं करता, वह घटना के साथ बह जाता है, संवेदना से भर जाता है। घटना और संवेदन दोनों पृथक्-पृथक् बातें हैं।

एक व्यक्ति के पास लक्षपाक तैल था। उसका निर्माण लाख औषधियों के मिश्रण से होता है। वह बहुमूल्य होता है और उसका मिलना भी बहुत दुर्लभ है। नौकर ने उस तैल भरे मर्तबान को उठाया। वह हाथ से फिसला और फूट गया। इतना बहुमूल्य तैल! मालिक शांत था। घटना उसके सामने घटित हुई, पर उसको कोई संवेदन नहीं हुआ।

एक व्यक्ति कांच के गिलास में दूध पी रहा था। गिलास हाथ से छूटा और चूर-चूर हो गया। दूध गया, गिलास गया। उस गिलास से टूटने की झंकार एक घंटे तक होती रही। मालकिन उस व्यक्ति को खरा-खोटा सुनाती रही।

लक्षपाक तैल का बर्तन फूटा। एक मिनट में झंकार बंद हो गई। कांच का गिलास फूटा और झंकार एक घंटे तक होती रही। एक में संवेदन नहीं था, इसलिए झंकार नहीं हुई। एक में संवेदन की अधिकता रही, इसलिए झंकार होती रही।

धर्म की आराधना और ध्यान करने वाले व्यक्ति में अंतर यह आता है

कि वह घटना से प्रभावित नहीं होता। वह घटना को जान जाता है, पर संवेदन में नहीं बहता। जिसका ज्ञान जाग जाता है, उसका संवेदन सो जाता है। जिसमें ज्ञान सुप्त होता है, उसका संवेदन जाग जाता है।

हम पदार्थ की उपलब्धि के साथ ध्यान को न तोलें। पदार्थ को सामने रखकर ध्यान की कसौटी न करें। धर्म को नीचे स्तर पर घसीटकर न ले जाएं। धर्म महान तत्त्व है। धर्म और ध्यान की आराधना के द्वारा चेतना में महान परिवर्तन घटित होता है। जैसे-जैसे धर्म की चेतना जागती है, वैसे-वैसे संवेदन की चेतना कम होती जाती है, सुखी या दुःखी होने की चेतना कम होती जाती है। जैसे-जैसे धर्म और ध्यान की चेतना सुप्त रहती है, वैसे-वैसे चारों ओर दुःख की संवेदना जाग जाती है। वैसे लोग चाहे अरबपति भी क्यों न हों, थोड़े से नुकसान से तिलमिला जाते हैं।

सौ रुपये खोने मात्र से उनकी नींद हराम हो जाती है। ध्यान का काम घटना को बदलना नहीं है। उसका काम है घटना से होने वाली संवेदना की चेतना को रूपांतरित कर देना, बदल देना। यदि हम इस सचाई को समझ लेते हैं तो ध्यान की सार्थकता होती है, श्रम की सार्थकता होती है, कर्म के संस्कार क्षीण होते हैं और एक नई चेतना का जागरण होता है।

२४. करे कोई, भोगे कोई

एक भाई ने पूछा कि आनुवंशिकता के कारण बच्चों में अनेक रोग संक्रांत होते हैं। यह बड़ी अजीब बात है। अपराध दूसरे का और उसका परिणाम भुगतना पड़ता है संतान को। यह क्यों?

यह प्रश्न कर्मवाद के संबंध में भी हो सकता है? लोग पूछते हैं, कर्म वैयक्तिक होता है या सामाजिक? जो कर्म सामाजिक होता है, उसका संक्रमण होता है। वैयक्तिक कर्म का संक्रमण नहीं होता। वैयक्तिकता और सामाजिकता के बीच में एक भेदरेखा है और वह है संक्रमण होना, विनिमय होना या संक्रमण न होना, विनिमय न होना। सामाजिकता में संक्रमण होता है, विनिमय होता है। जो व्यक्तिगत विशेषता है, चैतन्य है, उसमें न संक्रमण होता है और न विनिमय होता है। संवेदन व्यक्तिगत होता है, इसलिए उसमें न वह संक्रांत होता है और न उसमें विनिमय होता है।

प्रश्न होता है—कर्म वैयक्तिक है या सामाजिक? क्या ऐसा होता है कि कर्म करे कोई और भोगे कोई?

कर्म वैयक्तिक और सामाजिक

कर्मवाद एक सिद्धांत है, एक नियम है कि जो कर्म करता है, वही उसे भोगता है, किंतु इसके विपरीत भी देखा जाता है कि एक व्यक्ति धर्म-कर्म करता है और समूचे समाज और राष्ट्र को उसका परिणाम भुगतना पड़ता है। अच्छे कर्म का अच्छा फल और बुरे कर्म का बुरा फल। इस प्रकार की घटनाओं से भी इतिहास भरा पड़ा है। एक शासक लड़ाई लड़ता है और सारा राज्य बरबाद हो जाता है। समूचा देश कठिनाइयों में फंस जाता है। साम्राज्यलिप्सु शासक अपनी लिप्सा की पूर्ति के लिए युद्ध लड़ता है, तब सारा राज्य उस युद्ध की ज्वाला में झुलस जाता है। एक व्यक्ति कोई ऐसा कार्य करता है कि पूरा समाज या राष्ट्र उससे लाभान्वित हो जाता है। परिवार में तो ऐसा होता ही है। पिता धन कमाता है और

पुत्र को वह अनायास ही मिल जाता है। धन पैतृक विरासत में प्राप्त होता है। इसी प्रकार पैतृक विरासत के रूप में कुछ गुण-दोष भी मिलते हैं। पिता का लाभ संतति को लाभान्वित करता है और पिता की हानि संतति को हानि पहुंचाती है। यह पैतृक विरासत है। एक वर्ग ने जुआ खेला और महाभारत के युद्ध की पीड़ा अनेक को भोगनी पड़ी। कामुकता किसी सम्राट में थी और पूरा देश परतंत्र हो गया। ये सारी घटनाएं यह सोचने के लिए विवश करती हैं कि कर्म सामाजिक भी होता है। यदि वह सामाजिक नहीं होता तो कर्म करने वाले को ही उसका परिणाम भोगना पड़ता है। वह सामाजिक है, इसलिए एक व्यक्ति के कर्म का परिणाम अनेक व्यक्तियों को भुगतना पड़ता है। पृथ्वीराज चौहान ने कुछ किया, उसका परिणाम पूरे भारतवर्ष को भुगतना पड़ा। चंद्रगुप्त मौर्य ने कुछ किया, उसका परिणाम पूरे राष्ट्र को मिला। एक के कारण पूरा देश कठिनाइयों में फंस गया और दूसरे के कारण पूरा राष्ट्र संगठन-सूत्र में बंध गया। एक अकेले व्यक्ति के द्वारा वांछनीय या अवांछनीय कर्म किया जाता है और उसका परिणाम व्यापक रूप में भुगतना पड़ता है। क्या इन सारी घटनाओं से हम यह स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं हो जाते कि कर्म सामाजिक भी होता है, फिर प्रश्न होता है कि यदि कर्म सामाजिक होता है, तो 'जो कर्म करता है, वही फल भोगता है' कर्मवाद का यह सिद्धांत कैसे टिक पाएगा? दोनों ओर प्रश्नचिह्न हैं। इस स्थिति में हमें कुछ गहरे में उतरकर सोचना होगा।

सामाजिक जीवन के बहुत सारे व्यवहार और कार्य दो तत्त्वों से संबंधित होते हैं। इसी बिंदु पर हमने आचरण और व्यवहार में एक भेदरेखा खींची थी। आचरण होता है व्यक्तिगत और व्यवहार होता है सामाजिक। जहां दो नहीं होते, वहां व्यवहार नहीं होता। व्यवहार दूसरे के प्रति होता है और आचरण एकनिष्ठ होता है, स्वगत होता है। व्यवहार सदा द्विष्ठ होगा। उसके लिए कम से कम दो चाहिए। पूरा सामाजिक जीवन दो से जुड़ा हुआ है। द्वंद्व के बिना व्यवहार नहीं होता। समाज का जीवन नहीं होता। व्यवहार का अर्थ होता है भेद। भेद का अर्थ होता है द्वैत। जहां दो हैं, वहां भेद होगा और वहां व्यवहार होगा, किंतु कर्म दो से संबंध नहीं रखता। यदि वह दो से संबंधित होता है तो वह वैयक्तिक नहीं हो सकता, किंतु व्यवहार में देखा जाता है कि कर्म सबसे संबंध रखता है, इसलिए हमें एक भेदरेखा खींचनी होगी।

दो प्रकार के कारण होते हैं उपादान कारण और निमित्त कारण। उपादान

की दृष्टि से कर्म नितांत वैयक्तिक होता है। हम जो यह कहते हैं कि अपना किया हुआ स्वयं अपने को भुगतना होगा, यह उपादान की दृष्टि से कहा है। कर्म का उपादान व्यक्ति स्वयं होता है। व्यक्ति स्वयं कर्म करता है और स्वयं ही उसे भुगतना पड़ता है। यदि वह उपादान नहीं होता तो उसे भोगना नहीं पड़ता।

निमित्त कारण वैयक्तिक नहीं होता। वह सामूहिक या सामाजिक होता है। सौ आदमी चिलचिलाती धूप में यात्रा कर रहे हैं। सबको गर्मी का अनुभव होता है, पीड़ा होती है। किसी एक को नहीं, सबको कष्ट होता है, क्योंकि यह निमित्त है और निमित्त सामुदायिक होता है।

संवेदन वैयक्तिक : परिणाम सामुदायिक

इसी प्रकार संवेदन वैयक्तिक होता है और परिणाम सामुदायिक। कर्म किया। उसको जब भुगतना पड़ता है, तब कर्म का फल या संवेदन वैयक्तिक होता है। व्यक्ति संवेदन करता है, पर परिणाम सामाजिक हो सकता है। एक घटना घटी। उसका परिणाम अनेक व्यक्तियों को भुगतना पड़ता है। वांछनीय या अवांछनीय, प्रिय या अप्रिय, कोई स्थिति बनी, उससे यदि सौ व्यक्ति संबंधित हैं तो सबको उसका परिणाम भुगतना पड़ेगा। घर का मुखिया है। वह सट्टे में धन हार गया। परिवार में पचास आदमी हैं। सबको उस हानि को भुगतना पड़ेगा। सबको अर्थाभाव का सामना करना पड़ेगा। यह परिणाम सामुदायिक बन गया, किंतु संवेदन सामुदायिक नहीं बनता। सौ व्यक्तियों का संवेदन एक-जैसा नहीं होता। सबका संवेदन अलग-अलग होता है। सबमें तारतम्य रहेगा। घटना एक होती है, पर इतने प्रकार के संवेदन होते हैं कि एक व्यक्ति का संवेदन दूसरे व्यक्ति से नहीं मिलता। उदाहरण के लिए देखें, एक व्यक्ति का धन चला गया। बाप ने व्यवसाय में लाखों रुपये गंवा दिए। पुत्र सोचेगा–पिताजी ने यह क्या कर डाला? ऐसा व्यवसाय क्यों किया? हम कितने संपन्न थे, आज गरीब हो गए। वह रोता है, दुःख प्रदर्शित करता है। दूसरा पुत्र सोचता है–पिताजी ने ही तो धन कमाया था और वह उन्हीं के हाथों चुक गया। व्यवसाय में हानि-लाभ होता ही है। चिंता की क्या बात है? तीसरा पुत्र कहता है कि जैसा होना था, हो गया। शोक करने से क्या लाभ? चौथा पुत्र सोचता है–धन की प्रकृति है जाना-आना। हमारे पास दो हाथ हैं, दस अंगुलियां हैं, पुरुषार्थ करेंगे और फिर से पैरों पर खड़े हो जाएंगे। सबकी प्रतिक्रियाएं अलग-अलग हैं। सबका संवेदन भिन्न है। यह है संवेदन की वैयक्तिकता और परिणाम की सामूहिकता।

इस प्रकार के दो वर्ग बन जाते हैं–

१. उपादान और संवेदन–ये दोनों वैयक्तिक होते हैं।

२. निमित्त और परिणाम–ये दोनों सामूहिक होते हैं।

इस संदर्भ में यदि कर्मवाद को समझा जाए तो जो करता है, वह भोगता है, यह कर्म की वैयक्तिकता भी सच है और एक के किए कर्म का परिणाम समूह को भुगतना पड़ता है, यह कर्म की सामाजिकता भी सच है। दोनों पक्ष मिलकर ही एक पूरा चित्र प्रस्तुत करते हैं। एक पक्ष पूरा चित्र नहीं बना सकता। हम अपनी दृष्टि को दोनों पक्षों के आधार पर संतुलित करें कि जब निमित्त की दृष्टि से विचार करते हैं तो कर्म सामाजिक होता है और जब उपादान की दृष्टि से विचार करते हैं तो कर्म वैयक्तिक होता है। संवेदन की दृष्टि से सोचते हैं तो कर्म वैयक्तिक होता है और परिणाम की दृष्टि से सोचते हैं तो कर्म सामाजिक होता है।

समाज नेता के आधार पर चलता है, फिर चाहे एकाधिपत्य हो या प्रजातंत्र हो। यह नहीं होता कि समाज में सब के सब नेता हों, अग्रणी हों। समाज कुछेक व्यक्तियों के सहारे चलता है, इसलिए परिणाम का भी कुछ व्यक्तियों पर निर्भर होना स्वाभाविक है, पर उसकी संचारिता, संक्रमणशीलता और प्रभाव पूरे समाज पर होना जरूरी है।

एक मुख्य तो दूसरा गौण

इसका एक अन्य पहलू है। मनोविज्ञान की दृष्टि से माना जाता है कि जीन में दो प्रकार की विशेषताएं होती हैं। माता-पिता के गुण संतान में संक्रांत होते हैं, विरोधी गुण भी संक्रांत होते हैं। उसमें एक प्रभावी होता है और दूसरा अप्रभावी। जो प्रभावी होता है, वह व्यक्त हो जाता है और जो अप्रभावी होता है, वह पर्दे के पीछे रह जाता है। कर्मवाद की यही प्रकृति है। हमारे साथ जितने कर्मों का संबंध है, उन सभी कर्मों की विरोधी प्रकृतियां बनी रहती हैं। जैसे सुखवेदनीय कर्म है तो दुःखवेदनीय कर्म भी है। इसी प्रकार शुभ नाम कर्म-अशुभ नाम कर्म, उच्च गोत्रकर्म-नीच गोत्रकर्म, शुभ आयुष्य-अशुभ आयुष्य। दोनों विरोधी प्रकृतियां हैं। ये इतनी विरोधी हैं कि एक के आने पर दूसरी प्रकृति बदल जाती है। दोनों एक साथ नहीं हो सकतीं। जिस समय सुखवेदनीय कर्म का उदय रहेगा, वह कर्म फल देगा, उस समय दुःखवेदनीय कर्म का उदय नहीं होगा। वह फल नहीं देगा। वह पर्दे के पीछे चला जाएगा। जिस क्षण

असुखवेदनीय कर्म का उदय होता है तो उस क्षण में सुखवेदनीय कर्म नीचे चला जाएगा। यह चक्र चलता रहता है। यदि ऐसा नहीं होता है तो पुरुषार्थ की बात ही समाप्त हो जाती है।

एक भाई ने पूछा था–रोग होता है, तब औषधि ली जाती है। यह औषधि का सेवन भुलावा तो नहीं है? भुलावा नहीं है। दवा भी निमित्त बनती है। रोग के कारण जो असुखवेदनीय कर्म विपाक में था, वह दवा के निमित्त से चला गया, अविपाक में चला गया, अनुदय में चला गया। उसका प्रभाव नहीं रहा। वह सुखवेदनीय के प्रकट होते ही समाप्त हो गया। एक स्थिति आती है, दूसरी तिरोहित हो जाती है। गर्मी का मौसम है। आदमी धूप में बैठा है। उसे कष्ट का अनुभव होता है। उसे कष्ट की संवेदना हुई और वह पेड़ की सघन छांह में जाकर बैठ गया। वहां सुख का संवेदन प्रारंभ हो गया। कर्म बदल गया, कर्म का विपाक बदल गया। प्यास लगी, भूख लगी, असुखवेदनीय का उदय हो गया। पानी पीया, प्यास मिट गई। भोजन किया, भूख मिट गई। सुखवेदनीय का उदय हो गया।

प्रभाव निमित्त का

दो विरोधी कर्म-प्रकृतियां निरंतर चलती रहती हैं। निमित्तों के अनुसार कभी कोई प्रकृति प्रकट हो जाती है और कभी कोई प्रकृति प्रकट हो जाती है। एक आदमी ने कोई अच्छा काम किया। उससे हजार आदमियों को सुख मिला। इस स्थिति में उपादान की दृष्टि से हम नहीं कह सकते कि वह आदमी सुख देने वाला है, किंतु निमित्त की दृष्टि से कहा जा सकता है कि वह सुख देने वाला है। एक आदमी ने अणुबम का प्रयोग किया। लाख आदमी एक साथ मारे गए। उपादान की दृष्टि से नहीं कहा जा सकता कि वह मारने वाला है, किंतु निमित्त की दृष्टि से कहा जा सकता है कि वह मारने वाला है। यदि मनुष्य मरणधर्मा नहीं होता, उसमें मरने की क्षमता नहीं होती तो हजार अणुबमों का विस्फोट करने पर भी आदमी कभी नहीं मरता। आदमी तभी तो मरता है कि उसमें मरने की अर्हता है, योग्यता है। मरने का उपादान आदमी है, बस निमित्त मिला और वह मर गया। निमित्त का उतना ही काम है कि जो उपादान है, उसे व्यक्त कर देना।

हमारा सारा व्यवहार निमित्तों के आधार पर चलता है। इसीलिए आदमी मानता है कि अमुक ने उसे सुखी बना दिया, अमुक ने उसे दुःखी बना डाला। वह कभी किसी की प्रशंसा करता है और कभी किसी की निंदा करता है। यह

सोचकर प्रशंसा करता है कि इसने मेरा भला किया है और यह सोचकर निंदा करता है कि इसने मेरा अहित किया है। दोनों सही हैं। दोनों बातें चलती हैं। निमित्त के बिना हमारा काम नहीं चलता, किंतु निमित्त पर अटक जाना सचाई को वहीं समाप्त कर देना है। उपादान को समझना भी बहुत जरूरी है।

निमित्त के आधार पर परिस्थितिवाद का विकास हुआ। परिस्थितिवाद मिथ्या नहीं है, किंतु जहां केवल परिस्थिति पर ही सारा बोझ डाल दिया जाता है, उसे ही सर्वोपरि मूल्य दे दिया जाता है, वहां व्यक्ति छिप जाता है, फिर बुराई करने में उसे कोई संकोच नहीं होता, क्योंकि वह मान लेता है कि उसका कोई लेना-देना नहीं है। परिस्थिति व्यापक है, सामूहिक है, वह बच जाता है। इससे बड़ी समस्या पैदा होती है। व्यक्ति बुरा न बने, इसलिए वैयक्तिक चेतना बहुत जरूरी है और व्यक्ति दूसरों के प्रति बुरा न बने, इसलिए सामूहिक चेतना का विकास भी बहुत आवश्यक है। परिस्थितिवाद या निमित्तवाद तथा कर्मवाद या उपादानवाद, दोनों का योग हुए बिना काम ठीक नहीं बनता।

कर्म : उदित और उदीरित

कर्मवाद के संदर्भ में भगवान महावीर ने दो महत्त्वपूर्ण सूत्र दिए हैं–स्वयं उदित और परेण उदीरित। कर्म की दो अवस्थाएं होती हैं। एक है, कर्म स्वयं उदय में आता है। व्यक्ति अपने पुरुषार्थ के द्वारा कर्म को उदीर्ण करता है, कर्म को विपाक अवस्था में लाता है और उसका फल भोगता है। यह नितांत वैयक्तिक है। कर्म की दूसरी अवस्था है कि वह दूसरे निमित्त के द्वारा उदीरित होता है। कर्म स्वयं विपाक अवस्था को प्राप्त नहीं हो रहा है, किंतु दूसरा उस कर्म को, उपादान या संस्कार को, उदय अवस्था में ला देता है। यह है उदीरितावस्था। इसे हम एक घटना के माध्यम से समझें।

एक व्यक्ति स्वस्थ है। उसे किसी भी प्रकार की बीमारी नहीं है। वह रास्ते पर आराम से चल रहा है। पीछे से कोई आकर शस्त्र का प्रहार करता है और उस व्यक्ति की वहीं मृत्यु हो जाती है। यह मृत्यु स्वयं-प्राप्त मृत्यु नहीं है, स्वयं द्वारा उदीर्ण नहीं, किंतु दूसरे व्यक्ति द्वारा उदीरित मृत्यु है। यह मृत्यु दूसरे व्यक्ति द्वारा लाई गई है। जो मृत्यु बीस-तीस वर्ष बाद होने वाली थी, वह शस्त्र-प्रहार से अभी हो गई। यह उदीरित मृत्यु है। यह कर्म का सामाजिक संबंध है। प्रत्येक कर्म का उदय इन दो स्थितियों में होता है–स्वयं उदीर्ण और दूसरे के द्वारा उदीरित।

सामाजिक कर्म का अर्थ है उदीरित कर्म। एक ऐसा काम होता है कि जिससे हजारों व्यक्तियों के एक साथ कर्म की उदीरणा हो जाती है, कर्म

का विपाक हो जाता है। जो कर्म न जाने कब विपाक में आता, वह तत्काल विपाक में आ गया। जितनी संक्रामक बीमारियां होती हैं, वे सब उदीरित होती हैं। प्लेग, हैजा आदि संक्रामक बीमारियां अचानक आती हैं, फैलती हैं और अनेक व्यक्तियों को अपना शिकार बना लेती हैं। वे उदीरित बीमारियां हैं। प्लेग का एक रोगी गांव में आता है और सारा गांव महामारी की बीमारी से संक्रांत हो जाता है। ऐसी स्थिति में कहा जा सकता है, 'करता कोई है और भोगना किसी दूसरे को पड़ता है।' अच्छा काम किसी ने किया और उसका परिणाम मिला दूसरों को। बुरा काम किसी ने किया और उसका परिणाम भोगना पड़ा दूसरों को। इस संदर्भ में कर्म सामाजिक बन जाता है। अगर कर्म को सामाजिक न मानें तो व्यक्ति इतना 'कट' हो जाता है कि दूसरे से प्रभावित होता ही नहीं, फिर तो व्यक्ति व्यक्ति ही रह जाता, समाज बनता ही नहीं। समाज तभी बनता है, जब संक्रमणशीलता रहती है। एक का प्रभाव दूसरे तक पहुंचता है, तभी समाज बनता है। यदि कोई किसी से प्रभावित होता ही नहीं, अप्रभावी अवस्था बनी रहती है तो यह नितांत वैयक्तिक अवस्था है। इसमें सामाजिकता का विकास नहीं होता।

इस संदर्भ में हम इस प्रश्न पर विचार करें कि ध्यान वैयक्तिक है या सामाजिक? कर्म के साथ ध्यान की चर्चा भी करनी होगी, क्योंकि दोनों जुड़े हुए हैं। कर्म बंधन है और ध्यान बंधनमुक्ति का उपाय है। कर्म वैयक्तिक और सामाजिक दोनों प्रकार का होता है तो क्या ध्यान भी दोनों प्रकार का होता है? जैनेन्द्रकुमारजी ने भी यह प्रश्न रखा कि ध्यान का प्रयोग ठीक है, पर यह व्यक्ति को ही आत्मरति में ले जाता है यानी व्यक्ति अपने आपमें लीन हो जाता है, अंतर्मुखी बन जाता है।

ह्यूम ने व्यक्तियों को दो वर्गों में बांटा। एक वर्ग में वे व्यक्ति आते हैं, जो बहिर्मुखी (एक्स्ट्रोवर्ट) होते हैं और दूसरे वर्ग में वे व्यक्ति आते हैं, जो अंतर्मुखी (इन्ट्रोवर्ट) होते हैं। जो अंतर्मुखी होता है, वह अपने बारे में सोचता है, अपने भीतर देखता है, सबकुछ अपने लिए करता है, दूसरे के विषय में कोई चिंता नहीं करता। यह आत्मरति है। प्रश्न है कि क्या ध्यान आत्मरति में ले जाता है? यदि वह आत्मरति में ले जाता है तो वह समाज के लिए हानिकारक है। ध्यान करने वाले समाज के विकास में बाधक बनते हैं, साधक नहीं। ध्यान करने वाले जब अंतर्मुखी बन जाएंगे, फिर व्यवहार नहीं चल सकेगा। सारा विकास ठप्प हो जाएगा, फिर न समाज का अस्तित्व रहेगा और

न राष्ट्र की उपयोगिता ही रहेगी। यह सारा आत्मरति का परिणाम है, किंतु जब कर्म वैयक्तिक और सामाजिक दोनों प्रकार का होता है तो ध्यान भी इन दोनों स्थितियों में विलग नहीं हो सकता। कोई भी व्यक्ति नितांत अंतर्मुखी या बहिर्मुखी नहीं हो सकता। ध्यान करने वाला नितांत वैयक्तिक नहीं हो सकता और यदि एक प्रतिशत होता है तो वह अपवाद ही माना जाएगा। यह सामान्य स्थिति नहीं हो सकती। जो व्यक्ति ध्यान नहीं करता, कोरा बहिर्मुखी होता है, केवल बाहर ही बाहर देखता है, वह समाज के लिए सिरदर्द बन जाता है। जो नितांत अंतर्मुखी होता है, वह समाज के लिए सिरदर्द नहीं बनता, किंतु अनुपयोगी बन जाता है, किंतु मुझे लगता है कि ध्यान करने वाला न सिरदर्द बनता है और न अनुपयोगी बनता है।

ध्यान : वैयक्तिक और सामाजिक

तर्कशास्त्र का एक नियम है, देहली-दीपक न्याय। दीये को दहलीज पर रख दिया जाए। भीतर भी प्रकाश होगा और बाहर भी प्रकाश फैलेगा। ध्यान करने वाला स्वयं प्रकाशित होता है और समाज में अंधकार नहीं फैलता, कुछ प्रकाश ही फैलता है। एक व्यक्ति ने ध्यान-साधना की। वह परिवार में गया। उसके परिवर्तित जीवन व्यवहार से पूरा परिवार सुखी हो गया। ध्यान किया एक व्यक्ति ने और लाभ मिला पूरे परिवार को। एक व्यक्ति ने ध्यान-साधना की, उसकी स्मृति बढ़ी, मानसिक संतुलन बढ़ा, एकाग्रता का विकास हुआ, उसका बौद्धिक स्तर बढ़ा और वह परिवार का संभ्रांत सदस्य बन गया। उसका परिणाम पूरे परिवार को मिला। लोग पूरे परिवार की प्रशंसा करने लगे।

वैयक्तिकता और सामुदायिकता को अलग नहीं किया जा सकता। दोनों साथ-साथ चलते हैं। निमित्त और उपादान के बिना कोई काम नहीं होता। कर्मवाद का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है कि कर्म पुद्गल को और पुद्गल-परिणाम को प्राप्त कर फल देता है–पोग्गलं पप्प, पोग्गलपरिणामं पप्प। इनके बिना कर्म फल नहीं दे सकता। आज का शरीरशास्त्री (फिजियोलॉजिस्ट) कहता है कि शरीर का छोटा-बड़ा होना, लंबा-ठिगना होना यह सारा पीयूष ग्रंथि के स्राव पर निर्भर रहता है। यह स्राव पूरी शरीर-रचना पर प्रभाव डालता है। यह है पुद्गल-परिणाम। कर्मशास्त्री इस भाषा में कहेगा कि शरीर की लंबाई-चौड़ाई, सुंदरता-असुंदरता–ये सब कर्म से जुड़े हुए हैं। जब पुद्गल का परिणमन होता है तब कर्म फल देता है। यदि पुद्गल का परिणमन नहीं होता तो

कर्म अपना फल नहीं दे सकता। यह संबंध उपादान तक पहुंच जाता है। उपादान हैं पुद्गल और पुद्गल का परिणमन।

रात को दस बजते ही आंखों में नींद घुलने लग जाती है। रात्रि का यह समय नींद का निमित्त बनता है। यदि यह निमित्त नहीं मिलता तो नींद नहीं आती। निमित्त बदल जाता है तो नींद भी बदल जाती है। इसमें भी कर्म जुड़ जाता है। वही कर्म प्रभावी होता है, जिसे निमित्त मिल जाता है, पुद्गल और पुद्गल का परिणमन प्राप्त हो जाता है।

ध्यान से संतुलन

ध्यान करने वाले व्यक्ति को संतुलन स्थापित करना होता है। ध्यान-काल में शारीरिक कष्ट होता है, पर यह कष्ट अच्छे परिणाम लाता है। आदमी इन शारीरिक कष्टों से घबराकर ध्यान-साधना को छोड़ देता है। यह उसकी कमजोरी है। बिलौना किया, मक्खन निकाला। अब उसको तपाकर घी प्राप्त करना है। तो क्या मक्खन को सीधा अग्नि पर रखने से घी हो जाएगा? नहीं, सीधा अग्नि पर रखने से आग भभकेगी, मक्खन ही नष्ट हो जाएगा। यदि मक्खन को एक बर्तन में रखकर आग पर तपाते हैं तो अग्नि भी रहती है और घी भी मिल जाता है। प्रश्न होता है, बेचारे बर्तन को क्यों तपाते हैं? बर्तन का क्या लेना-देना है मक्खन से? घी बनना है मक्खन को, बर्तन को घी नहीं बनना है, पर मक्खन को बर्तन में रखे बिना घी मिलता नहीं। हम अच्छे विचार और भाव लाना चाहते हैं, पर जब तक यह बर्तनरूपी शरीर अच्छा नहीं बनेगा, तब तक वह अच्छे विचारों और भावों का संवाहक या उत्पादक नहीं हो सकेगा। चूल्हे पर तो शरीर को ही रखना होता है। मन तो उसके भीतर है। मक्खन तो शरीर के भीतर है। यदि यह बर्तन ही ठीक नहीं होगा तो घी सीधा आग में जाएगा, खराब हो जाएगा। कोरे मन को सुधारने की बात या भावों को अच्छा करने की बात प्राप्त नहीं होती।

यदि हम उपादान को ठीक कर देते हैं तो परिस्थिति स्वयं ठीक हो जाती है। उपादान को ठीक करना हमारे वश की बात है। आज चक्र उल्टा चलता है। आदमी परिस्थिति को सबसे पहले ठीक करना चाहता है, व्यक्ति को नहीं। व्यक्ति उपादान है। उसको ठीक किए बिना परिस्थिति ठीक नहीं हो सकती। पहले हम उपादान को ठीक करें, साथ-साथ परिस्थिति का भी परिवर्तन हो। ध्यान के परिकर, ध्यान के विघ्न, शरीर और मन की बाधाएं, विचार के विघ्न आदि को सही-सही समझने में सहयोग मिलेगा।

२५. भाव का जादू

अध्यापक ने कहा–'सेठ साहब! आपका लड़का पढ़ने में बहुत कमजोर है, पर चिंता की कोई बात नहीं है। मैंने अनेक गधों को पढ़ाकर योग्य आदमी बनाया है।' सेठ ने कहा–'धन्यवाद! आश्चर्य है कि आज के आनुवंशिकी विज्ञान ने इतनी प्रगति कर ली कि गधे को भी आदमी बनाना संभव हो सका है।'

आनुवंशिकी विज्ञान इतना आगे बढ़ा या नहीं, पर अंतर्जगत में ऐसा होता है कि आदमी गधा बन जाता है और गधा आदमी बन जाता है। भीतर जगत में बहुत आश्चर्यकारी परिवर्तन होते हैं। सूक्ष्म जगत के परिवर्तनों के आधार पर कर्मवाद का सिद्धांत बना। उसका एक सूत्र है–**सव्वजोणिया खलु जीवा**–जीव सार्वयोनिक होते हैं। किसी भी योनि का जीव किसी भी योनि में जाकर उत्पन्न हो सकता है। वह सार्वयोनिकवाद कर्मवाद का महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। जीव की उत्पति में योनि की कोई प्रतिबद्धता नहीं है। गधा मरकर आदमी बन सकता है और आदमी मरकर गधा बन सकता है। अंतर इतना-सा है कि आनुवंशिकी विज्ञान के अनुसार जीते-जी इतना बदला जा सकता है और कर्मविज्ञान के अनुसार बदलने के लिए मरना पड़ता है। बिना मरे ऐसा परिवर्तन नहीं हो सकता। तब प्रश्न होता है कि क्या प्रत्येक परिवर्तन के लिए आदमी को मरना ही पड़ता है या और कोई उपाय भी है?

कर्मवाद के अनेक नियम हैं, अनेक रहस्य हैं। आदमी उन रहस्यों और नियमों को पूरा नहीं जानते। इसीलिए अनेक भ्रांतियां उत्पन्न होती हैं। कर्मवाद का एक नियम है शक्ति का अल्पीकरण और शक्ति का संवर्धन। कर्म की जो फलदान की शक्ति है, उसको कम भी किया जा सकता है और बढ़ाया भी जा सकता है। फलदान की काल-अवधि को बढ़ाया भी जा सकता है और कम भी किया जा सकता है। यह है शक्ति-परिवर्तन का सिद्धांत। कर्मवाद

का दूसरा नियम है—जाति-परिवर्तन। कर्म की जाति को बदला जा सकता है। बंधकाल में कर्म के एक प्रकार के परमाणु बंधते हैं। तत्पश्चात् उन परमाणुओं की जाति को बदला जा सकता है। यह आज का नस्ल-परिवर्तन का सिद्धांत है। नस्ल बदली जा सकती है। प्रश्न होता है कि यह संभव कैसे हो सकता है? इसका समाधान है कि जाति-परिवर्तन के द्वारा ऐसा हो सकता है। यह बहुत बड़ा रहस्य है कर्मवाद का। इसके आधार पर अनेक बातें बदल जाती हैं, बहुत बड़ा परिवर्तन होता है।

पुण्य का बंध हुआ। इस बंध में सारा कर्म परमाणु-संग्रह पुण्य से जुड़ा हुआ है, किंतु बाद में ऐसा कोई पुरुषार्थ हुआ कि उस संग्रह का जात्यंतर हो गया। जो पुण्य के परमाणु थे, वे पाप के परमाणु बन गए। जो सुख देने वाले परमाणु थे, वे दुःख देने वाले परमाणु बन गए। इसी प्रकार पाप का बंध हुआ। इस बंध में कर्म का सारा परमाणु-संग्रह पाप से जुड़ा हुआ है, किंतु बाद में ऐसा पुरुषार्थ हुआ, इतनी घोर तपस्या की गई, साधना की गई कि उस संग्रह का जात्यंतर हो गया। जो पाप के परमाणु थे, वे पुण्य के परमाणु बन गए, जो दुःख देने वाले परमाणु थे, वे सुख देने वाले परमाणु बन गए। ये दो विकल्प बन गए। परमाणुओं का संग्रह हुआ पुण्य रूप में और उसका परिणाम घटित हुआ पाप के रूप में। परमाणुओं का संग्रह हुआ पाप के रूप में और उसका परिणाम घटित हुआ पुण्य के रूप में। यह जात्यंतर का उत्कृष्ट उदाहरण है। यह आमूलचूल परिवर्तन का उदाहरण है।

कर्मवाद का दूसरा महत्त्वपूर्ण उदाहरण है जाति-परिवर्तन। इस जाति-परिवर्तन या शक्ति-परिवर्तन की प्रक्रिया को जानना आवश्यक है। कोई भी आदमी पाप का फल पाना नहीं चाहता। सभी पुण्य का फल पाना चाहते हैं, इसलिए उस प्रक्रिया की जिज्ञासा होना स्वाभाविक है।

कौन देव, कौन दानव?

उसकी प्रक्रिया के तीन घटक हैं—मन, मस्तिष्क और चित्त। इन तीनों को प्रशिक्षित करना होता है। मन और मस्तिष्क दो हैं। यह आज की वैज्ञानिक धारणा से बहुत स्पष्ट हो गया। विज्ञान की भाषा में ब्रेन अलग है और माइंड अलग है। दोनों स्वतंत्र हैं, किंतु दर्शन की भाषा में चित्त तत्त्व को भी जोड़ना होगा। इस प्रकार मन, मस्तिष्क और चित्त—ये तीनों स्वतंत्र हैं। जिस व्यक्ति ने चित्त को अनुशासित कर डाला, उसका मस्तिष्क अनुशासित होगा, उसका

मन अनुशासित होगा और वह व्यक्ति स्थितप्रज्ञ या समाधिस्थ कहलाएगा।

यदि मस्तिष्क मन और चित्त पर हावी हो जाता है तो वह व्यक्ति शैतान बन जाता है। देव और दानव में इतना ही अंतर है। प्रत्येक व्यक्ति देव बन सकता है। प्रत्येक व्यक्ति दानव बन सकता है। जिस व्यक्ति ने मस्तिष्क, मन और चित्त पर अनुशासन स्थापित कर डाला, वह देव बन जाता है और जिस व्यक्ति के मस्तिष्क का मन और चित्त पर अनुशासन स्थापित नहीं होता है, वह दानव बन जाता है। ध्यान के द्वारा हमें मस्तिष्क को प्रशिक्षित करने का प्रयास करना है। ध्यान के द्वारा मस्तिष्क, मन और चेतना-चित्त पर स्वामित्व स्थापित करना है। एक संन्यासी बाजार से गुजर रहा था। उसने देखा, एक टोकरी में खजूर पड़े हैं। बड़े-बड़े और मीठे खजूर। मन ललचा गया। सोचा, खजूर खाऊं, पर पास में पैसा नहीं था। उसने सोचा, खजूर अवश्य खाने हैं, पर मैं मुफ्त में मांगूंगा नहीं। वह सीधा जंगल में गया। लकड़ियां काट लकड़ियों का एक भारा अपने कंधे पर लादकर लड़खड़ाता हुआ बाजार की ओर चला। पसीने से तरबतर हो गया। कभी भार को उतारता, कभी बैठता, कभी चलता। मन में खजूर खाने की लालसा उत्कट होती गई। बाजार में आया, लकड़िया बेची। पैसा मिला। खजूर खरीदे और जंगल में चला गया। एक वृक्ष के नीचे बैठा। कोई विचार आया और वह अनुप्रेक्षा करने लग गया।

जब तक व्यक्ति अनुप्रेक्षा में नहीं जाता, स्वभाव नहीं बदलता। प्रेक्षा के साथ अनुप्रेक्षा बहुत जरूरी है। प्रेक्षा से सचाइयां ज्ञात हो जाती हैं और अनुप्रेक्षा से स्वभाव के परिवर्तन में सहयोग मिलता है। संन्यासी अनुप्रेक्षा के क्षणों में चला गया। उसने सोचा–देखो, मैं इतना बूढ़ा हो गया हूं, फिर भी मैंने लकड़ियों का इतना बोझ ढोया, इतने कष्ट सहे। यह सब इसलिए कि मैं मन का चाकर बन गया। मन मेरा स्वामी बन गया। मैंने अनगिन कष्ट सहे, इन गिनती के खज़ूरों के लिए। मैं अब इस दासता को तोड़ूंगा। मैं खजूर नहीं खाऊंगा। आज मेरा मस्तिष्क मन पर हावी हो गया। मांग पैदा हुई, कल और कोई दूसरी मांग पैदा हो सकती है। परसों कोई तीसरी-चौथी मांग हो सकती है। मांगों का कहीं अंत नहीं है। इन मांगों के पीछे मैं इस बूढ़े शरीर को कहां-कहां झोंकता रहूंगा। अच्छा है कि मैं अपने मन का स्वामी बनूं। अपने मन पर अपना अनुशासन करूं।

संन्यासी में स्वामी बनने की अनुप्रेक्षा जागी। वह उस अनुप्रेक्षा में बहता रहा। अब उसे खजूर उतने प्रिय नहीं रहे। उसने राह गुजरते एक चरवाहे के

लड़के को बुलाया और सारे खजूर उसे दे दिए। संन्यासी बिना खजूर खाए अपने स्थान पर लौट आया।

अपना स्वामी बने

जब मस्तिष्क स्वामी बनता है, तब व्यक्ति को अनेक कठिनाइयों का बोझ ढोना पड़ता है। जब चित्त मस्तिष्क और मन पर अपना अधिकार जमाता है, तब स्थिति बदल जाती है। व्यक्ति-व्यक्ति में इतना ही तो अंतर है। व्यक्ति-व्यक्ति के रूप, रंग, आकार-प्रकार का अंतर इतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता। व्यक्ति की वैयक्तिक विशेषता इस बात पर निर्भर करती है कि कौन व्यक्ति मन के सहारे चलता है, मन का अनुशासन मानता है, मस्तिष्क के अधीन रहता है और कौन व्यक्ति मन और मस्तिष्क को अपने अधीन रखकर चलता है, उन पर अनुशासन करता है। मनुष्यों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। एक श्रेणी उन मनुष्यों की है, जो मन के अनुशासन में चलते हैं। दूसरी श्रेणी उन मनुष्यों की है, जो मन और मस्तिष्क को अपने अनुशासन में चलाते हैं।

रेटीकुलर व्यवस्था और कर्म

मस्तिष्क-विज्ञान की खोजों से कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएं अभी-अभी प्राप्त हुई हैं। उसके अनुसार मस्तिष्क का जो रेटीकुलर फॉरमेशन-तांत्रिक जालक है, वह उन न्यूरोंस से बना है, जहां भय, क्रोध, लालसा आदि भाव जन्म लेते हैं और वह रेटीकुलर फॉरमेशन उन भावों पर नियंत्रण भी करता है। वे पैदा भी होते हैं और नियंत्रित भी होते हैं। दोनों कार्य साथ-साथ चलते हैं। यदि उत्पन्न हों और साथ में नियंत्रण की क्षमता न हो तो मनुष्य इतने आवेग में आ जाए कि शरीर की व्यवस्था ही लड़खड़ा जाए। शरीर के साथ यह वैज्ञानिक बात भी जुड़ी हुई है कि एक भाव पैदा होता है तो साथ में नियंत्रण की बात भी रहती है। यह स्वाभाविक प्रक्रिया है।

इस रेटीकुलर फॉरमेशन की क्रिया को कर्मवाद की भाषा में औदयिक व्यक्तित्व और क्षायोपशमिक व्यक्तित्व कहा जाता है। ये दोनों व्यक्तित्व साथ-साथ चलते हैं। औदयिक व्यक्तित्व है, इसलिए क्रोध, भय आदि भाव उत्पन्न होते हैं और क्षयोपशमिक व्यक्तित्व (चेतना की निर्मलता) है, इसलिए उन पर नियंत्रण होता है। उत्पन्न होना और नियंत्रण होना-दोनों अवस्थाएं साथ में चलती हैं।

मैं मानता हूं कि कर्मवाद की जो आंतरिक धाराएं हैं, उनके अनुसार ही स्थूल शरीर के सभी अवयवों का निर्माण होता है। यह स्थूल शरीर, कर्म शरीर

(सूक्ष्मतम शरीर) का संवादी शरीर है। जितनी प्रवृत्तियां, जितने प्रकंपन सूक्ष्म शरीर में होते हैं, उतने ही अंग, प्रत्यंग, अवयव इस स्थूल शरीर में बन जाते हैं। यह बिल्कुल संवादी है। जो भाव जन्म लेते हैं, वे सारे कर्म के द्वारा संचालित हैं और वे नए कर्म का पुनः निर्माण करते हैं। यह एक वर्तुल है। कर्म के द्वारा निषेधक भावों का उत्पन्न होना और इन निषेधक भावों के द्वारा फिर कर्म का आगमन होना यह चक्र निरंतर चलता रहता है। जब तक यह चक्र नहीं तोड़ा जाता, चक्रव्यूह को नहीं भेदा जाता, तब तक समस्या का समाधान नहीं हो सकता। समस्या को समाहित करने के लिए इस चक्र का भेदन अत्यावश्यक है और इस भेदन में ध्यान का बहुत महत्त्व है। यह एक उपाय है, जिसके द्वारा परिवर्तन घटित हो सकता है। ध्यान का अर्थ ही है–भावों का परिवर्तन। भावों का परिवर्तन होता है तो चक्रव्यूह अपने-आप टूट जाता है। भय, क्रोध, ईर्ष्या, अहंकार, कामवासना–ये सारे भाव हैं। इन भावों को बदलकर समस्या का समाधान निकालना है।

भाव परिवर्तन की प्रक्रिया

प्रश्न होता है कि भाव-परिवर्तन की प्रक्रिया क्या है? एक व्यक्ति, भय का कारण हो या न हो, बहुत डरता है। उसके मन में दिन-रात भय की कल्पनाएं उठती रहती हैं। अब इस अवस्था को कैसे बदलें?

दो प्रयोग हैं। एक है ध्यान का प्रयोग और दूसरा है अनुप्रेक्षा का प्रयोग। एकाग्रता का अभ्यास करना, एक विचार, एक आलंबन पर एकाग्र होना ध्यान है, पर यह परम ध्यान नहीं है, पर्याप्त नहीं है। एकाग्रता बहुत बुरी भी हो सकती है। क्या एक निशानेबाज कम एकाग्र होता है? क्या गोली दागने वाला कम एकाग्र होता है? क्या बगुला कम एकाग्र होता है? सब एकाग्र होते हैं। परम सिद्धि है–एकाग्रता के उपयोग का विवेक। ध्यान से ऊर्जा बढ़ती है, शक्ति बढ़ती है। ऊर्जा या शक्ति का बढ़ना ही श्रेयस्कर नहीं है। ऊर्जा और शक्ति के बढ़ने से क्रोध आदि आवेग भी बढ़ सकते हैं, इसलिए यदि ऊर्जा या शक्ति का समुचित उपयोग नहीं होता है तो वे खतरनाक भी बन जाते हैं। एकाग्रता एक शक्ति है, ऊर्जा है।

ध्यान का अर्थ है उसका कब, कहां और कैसे उपयोग करना। जो व्यक्ति ऊर्जा के उपयोग की बात नहीं जानता और केवल ऊर्जा बढ़ा लेता है, वह समस्याएं पैदा करता है, अनेक कठिनाइयों को जन्म देता है। जहां ऊर्जा के उपयोग का प्रश्न आता है, वहां अनुप्रेक्षा की बात आ जाती है।

अनुप्रेक्षा का सूत्र है–चिंतन, मनन और स्वाध्याय। जो शक्ति बढ़ गई, उसका उपयोग कहां करें, कैसे करें, इसमें अनुप्रेक्षा बहुत सहायक बनती है। जिस व्यक्ति को भय लगता है, वह यदि मैत्री की अनुप्रेक्षा का प्रयोग करता है, भयमुक्त हो जाता है। भय और मैत्री दोनों साथ नहीं रह सकते। दोनों विरोधी हैं। मित्र से डर नहीं लगता। डर लगता है शत्रु से। जिस किसी के प्रति शत्रुता का भाव हो गया, जिस किसी के प्रति यह भाव बन गया कि यह हानि पहुंचाएगा तो उससे भय लगता है, उससे खतरे की संभावना बनी रहती है। जिससे खतरे की अनुभूति होती है, जिससे हानि की अनुभूति होती है, उससे डर लगता है। जिससे खतरे की अनुभूति नहीं होती, हानि की अनुभूति नहीं होती, उससे कभी डर नहीं लगता। जहां लाभ की बात आती है, वहां डर नहीं लगता। सब लाभ की ओर जाते हैं, क्योंकि वह अभय का स्थान है। हानि भय का स्थान है। जिस व्यक्ति ने मैत्री भावना का विकास किया है, जिसने मैत्री की अनुप्रेक्षा की है, उसने अपने भाव-परिवर्तन के द्वारा भय के व्यूह को छिन्न-भिन्न कर डाला। यह है जाति का परिवर्तन, शक्ति का परिवर्तन। कर्म का परिणाम है भय। उसको अभय में बदल दिया। यह जात्यंतर हो गया। जात्यंतर की प्रक्रिया का नाम है–अनुप्रेक्षा।

प्रेक्षाध्यान करने वाला जानता है कि अनुप्रेक्षा से पूर्व कायोत्सर्ग करना होता है। वह गहन सघनता, एकाग्रता, निष्ठा और आस्था के साथ निश्चित शब्दावली में पांच-दस मिनट तक सुझाव का प्रयोग करता है। पहले कुछ क्षणों तक उच्चारणपूर्वक, फिर मन-ही-मन, इससे आंतरिक परिणमन प्रारंभ हो जाता है। भाव में वह शक्ति है कि वह पदार्थ को भी बदल सकता है, पदार्थ में परिणमन कर सकता है। हमारे आसपास भय के परमाणु हैं, भीतर भी भय के परमाणु हैं। हमारा प्रत्येक भाव परमाणु से जुड़ा होता है, फिर चाहे वह किसी सीमा में रसायन बन जाए, किसी सीमा में विद्युत का प्रवाह बन जाए, कुछ भी बन जाए। ये सारे कार्य परमाणुओं से घटित होते हैं। वे परमाणु अनुप्रेक्षा से रूपांतरित होने लग जाते हैं।

परा-मनोविज्ञान की चार महत्त्वपूर्ण स्वीकृतियां हैं–

१. पूर्वाभास, २. विचार-संप्रेषण,

३. प्रत्यक्ष-बोध, ४. चेतना के द्वारा पदार्थ का परिवर्तन।

ये परा-मनोविज्ञान के चार मूल तत्त्व हैं। इसमें भाव एक शक्तिशाली साधन है, जिसके द्वारा परमाणुओं का संघटन-विघटन होता है, परिवर्तन होता है। भय अभय में बदल जाता है। क्रोध करने वाला आदमी शांत हो जाता है। नशा करने वाला नशे से घृणा करने लग जाता है। यह सारा घटित होता है भाव-परिवर्तन के द्वारा। भाव-परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण सूत्र है अनुप्रेक्षा।

कायोत्सर्ग की मुद्रा में अनुप्रेक्षा का प्रयोग न केवल शारीरिक बीमारियों को मिटाने में सक्षम है, बल्कि मानसिक बीमारियों को मिटाने में भी इसका बहुत बड़ा योग है। एक व्यक्ति अत्यंत शोकग्रस्त रहता है। निरंतर चिंतित रहता है। इस भाव को बदला जा सकता है। मोह-कर्म से मूर्च्छा पैदा होती है, शोक और क्रोध पैदा होता है। मूर्च्छा के बिना न शोक होता है और न क्रोध होता है, कुछ भी नहीं होता। भाव-परिवर्तन की प्रक्रिया के द्वारा, अनुप्रेक्षा के द्वारा शोक को प्रसन्नता और क्रोध को क्षमा या शांति में बदला जा सकता है। हर्ष और शोक का एक युगल है। दोनों जुड़े हुए हैं। इनको अलग नहीं किया जा सकता। जहां हर्ष होता है, वहां शोक भी होता है और जहां शोक होता है, वहां हर्ष भी होता है। जिसने शोक का अनुभव किया है, उसे हर्ष का अनुभव भी करना होगा। जिसने हर्ष का अनुभव किया है, उसे शोक का अनुभव भी करना होगा।

थावच्चापुत्र ने देखा कि पड़ोसी बच्चे के जन्म के उपलक्ष में हर्ष में झूम रहे हैं। वह क्षण हर्ष का था। कुछ घंटों बाद बच्चा मर गया। सारा कुटुंब शोक के महासागर में डूब गया। वह क्षण शोक का था। एक क्षण हर्ष का होता है तो दूसरा क्षण शोक का होता है। एक क्षण शोक का होता है तो दूसरा क्षण हर्ष का हो जाता है।

लाभ के क्षणों में आदमी परम प्रसन्नता का अनुभव करता है। पदार्थ की प्राप्ति उसमें हर्ष उत्पन्न करती है। आदमी हर्ष के क्षणों में सबकुछ भूल जाता है। वह यह भी भूल जाता है कि पदार्थ का संयोग हुआ है तो निश्चित ही उसका वियोग भी होगा। जब वियोग होता है, तब वह छटपटाता है, शोक करता है। यह भ्रांति अनुप्रेक्षा के द्वारा ही टूट सकती है।

अति खुशी का परिणाम भी दूसरा होता है। कुछेक लोग इस भाषा में सोचते हैं कि अनुकूल परिस्थिति में ज्यादा खुशी प्रकट की, इसी का यह परिणाम है कि आज अत्यंत शोक करना पड़ रहा है, इसलिए समझदार व्यक्ति अनुकूल परिस्थिति में अति हर्षित नहीं होता और प्रतिकूल परिस्थिति में अति

दुःखी नहीं होता। अति हर्ष और खुशी को प्रकट करना शायद शोक और दुःख को निमंत्रण देना है।

प्रसन्नता तीसरा तत्त्व है। जिस व्यक्ति ने प्रसन्नता के भाव का विकास किया है, वह न कभी हर्ष मनाता है और न कभी शोक मनाता है। हर्ष और शोक से परे की स्थिति है प्रसन्नता। जिस व्यक्ति ने प्रसन्नता की अनुप्रेक्षा की है, उसने भाव-परिवर्तन कर लिया। जितने भाव हैं, उन सबके लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की अनुप्रेक्षाएं हैं।

अज्ञान एक समस्या है, बहुत बड़ा कष्ट है। एक विद्यार्थी जब पढ़ नहीं पाता, बौद्धिक विकास कम होता है, स्मृति-शक्ति पर्याप्त नहीं होती, तब स्थिति जटिल बन जाती है। कुछ दिन पहले पिता अपने पुत्र को साथ लेकर मेरे पास आया। वह बोला–महाराज! बड़ी समस्या हो गई है। मेरा यह लड़का परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गया। उसी दिन से यह आत्महत्या की बात सोचता रहता है। न जाने क्या हो गया इसे।

मैंने सोचा–अनुत्तीर्ण होने पर प्रतिवर्ष अनेक आत्महत्याएं होती हैं, पर ऐसा क्यों होता है? मेरी दृष्टि में इसका कारण यह है कि जब बच्चा अच्छे अंकों में उत्तीर्ण होता है, तब माता-पिता प्रसन्नता बांटते हैं, हर्ष मनाते हैं, मिठाइयां बांटते हैं, भोज करते हैं और भी न जाने क्या-क्या करते हैं। जब उत्तीर्ण होने पर अधिक हर्ष बांटा जाएगा तो अनुत्तीर्ण होने पर अधिक शोक भी बांटा जाएगा। शोक बांटा नहीं जाता, भोगा जाता है।

हर्ष तो बांटा जाता है, क्योंकि सभी लोग उसमें सहभागी बनते हैं। शोक बांटा नहीं जाता, क्योंकि कोई भी उसे नहीं लेता। शोक को भोगना ही पड़ता है। भूख का कोई भी व्यक्ति हिस्सा नहीं बांटता। भोज में अनामंत्रित हजारों लोग अनायास ही आ जाते हैं। भोज में निमंत्रण दिया जाता है। भूख का कभी निमंत्रण नहीं दिया गया। भूख व्यक्ति को ही भोगनी पड़ती है। हर्ष और शोक में कौन शक्तिशाली है, कौन अच्छा है, कौन बुरा है, नहीं कहा जा सकता। हर्ष भी अच्छा नहीं है, क्योंकि उसके साथ शोक जुड़ा हुआ है। शोक भी बुरा नहीं है क्योंकि उसके साथ हर्ष जुड़ा हुआ है। जब दोनों जुड़े हुए हैं तो यही कहा जा सकता है कि हर्ष आते समय अच्छा लगता है और शोक जाते समय अच्छा लगता है। ये दोनों प्रणम्य हैं। जिस व्यक्ति में प्रसन्नता का भाव विकसित हो जाता है, वह हर्ष-शोक, सुख-दुःख आदि द्वंद्वों से ऊपर उठ जाता है।

प्रेक्षाध्यान का मुख्य उद्देश्य है भावात्मक परिवर्तन। भाव का संबंध कर्मों के साथ है। हमारी आंतरिक चेतना के साथ वे सब जुड़े हुए हैं। वे भाव विकृतियां और बीमारियां पैदा करते हैं। बीमारियां शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की होती हैं। भावों में परिवर्तन आने पर विकृतियां और बीमारियां मिट जाती हैं।

भाव को भाव के द्वारा ही बदला जा सकता है। हीरे को हीरा ही काट सकता है। सजातीय को सजातीय काट सकता है। इसी प्रकार भाव के द्वारा ही भावात्मक परिवर्तन घटित हो सकता है। प्रेक्षा और अनुप्रेक्षा, ये दोनों भाव हैं। हम इनके प्रयोग से विधायक भावों का प्रयोग कर निषेधात्मक भाव को समाप्त कर सकते हैं। इससे कर्म का वलय टूटता है, छिन्न-भिन्न होता है।

२६. अकर्म और पलायनवाद

एक महिला साहित्यकार ने पूछा–'क्या ध्यान पलायनवाद नहीं है?' मैंने सोचा, आदमी में कर्म से इतना प्रेम हो गया है कि अकर्म में उसे पलायन की गंध आने लगी है। आदमी निरंतर कर्म करना चाहता है, पर सचाई यह है कि वह निरंतर कर्म कर नहीं पाता, फिर भी इस दुनिया का आदमी यह कभी नहीं चाहता कि कोई व्यक्ति कर्म को छोड़कर अकर्म की दिशा में प्रस्थान करे। कर्म से प्रेम है और अकर्म से डर लगता है। वह स्वयं अकर्म होना नहीं चाहता और यदि कोई अकर्म होता है तो उसे होने नहीं देता। वह चाहता है कि सभी कर्म से बंधे रहें। पता नहीं, यह प्रवृत्ति कब हुई? क्यों हुई? कैसे हुई? इसलिए बहुत लोग संन्यास, ध्यान और त्याग को पलायनवादी मनोवृत्ति मानते हैं। हम इस विषय में कुछ विमर्श करें कि क्या ध्यान करना पलायन है? यदि पलायन है तो वह सामाजिक व्यक्ति को मान्य नहीं हो सकता। ध्यान की बात ही समाप्त हो जाती है और उससे समाज तथा राष्ट्र को खतरा हो सकता है, इसलिए भय लगता है कि कोई भी व्यक्ति ध्यान में चला न जाए, त्याग में जुड़ न जाए।

समाज संघर्ष और समस्याओं से जुड़ा हुआ है। यहां अनेक समस्याएं हैं। प्रश्न होता है, समस्या क्यों उत्पन्न होती है? जहां कर्म होगा और जहां संघर्ष होगा, वहां समस्या होगी। इस समस्या को टाला नहीं जा सकता। कर्म संघर्ष को पैदा करता है और संघर्ष स्वयं एक समस्या है। वह अनेक समस्याओं का उत्पादक है। प्रश्न होता है कि क्या समाज और व्यक्ति को निरंतर समस्याओं में ही जीना है? क्या ऐसा कोई उपाय भी है, जिससे समाज और व्यक्ति शांतिपूर्ण जीवन जी सके? मैं श्मशान की शांति की बात नहीं कर रहा हूं। मैं मानसिक तनाव से मुक्त होकर एक सौहार्दपूर्ण, मैत्रीपूर्ण जीवन की बात कर रहा हूं। और यह संभव भी है। जब कर्म की पृष्ठभूमि में अकर्म बना रहे। ज्ञान की पृष्ठभूमि में ध्यान बना रहे। जब ज्ञान के साथ ध्यान रहता है तो सारे खतरे टल जाते हैं।

कर्म के साथ अकर्म

सचाई यह है कि कोई भी कर्म अकर्म के बिना चल नहीं सकता। हम मानते हैं कि हृदय धड़कता है, इसलिए आदमी जीता है। यह एक सचाई है, पर इसके पीछे यह बड़ी सचाई है कि हृदय नहीं धड़कता, इसलिए वह भी चलता है और आदमी भी जीता है। हृदय धड़कता है, विश्राम लेता है, फिर धड़कता है, फिर विश्राम करता है। इसीलिए धड़कता है। यदि हृदय विश्राम न करे, निरंतर धड़कता रहे तो वह टूट जाएगा। हृदय इसलिए नहीं टूटता कि वह धड़कता है और विश्राम लेता है। विश्राम और श्रम दोनों साथ-साथ चलते हैं। इसी प्रकार कर्म और अकर्म दोनों साथ-साथ चलते हैं। अकर्म न हो तो कर्म चल नहीं सकता।

एक आदमी सोचता है और यदि वह निरंतर सोचता ही रहे तो अधिक दिनों तक सोच नहीं सकेगा। अतियोग हो जाएगा। अतियोग का अर्थ है समाप्ति। एक आदमी चलना प्रारंभ करे तो कुछ दिनों तक चल सकता है, पर बहुत दिनों तक दिनरात चल नहीं पाएगा। थक जाएगा, बैठ जाएगा। इसीलिए प्रत्येक क्रिया के साथ अक्रिया का योग होना चाहिए। क्रिया और अक्रिया, कर्म और अकर्म, प्रवृत्ति और निवृत्ति इन युगलों का योग होता है, तब क्रिया अच्छी होती है, कर्म अच्छा होता है और प्रवृत्ति अच्छी होती है।

हम इस सचाई को न भूलें कि ध्यान करना जीवन से पलायन करना नहीं है, प्रवृत्ति से हट जाना नहीं है, किंतु प्रवृत्ति के दोषों को समाप्त करना है। प्रवृत्ति और कर्म में आने वाली मलिनताएं, दोष, भ्रांतियां, समस्याएं–ये सब ध्यान के द्वारा दूर होते हैं। यह बात समझ में आने पर ध्यान पलायनवाद है, इसका निरसन हो जाता है। प्रेक्षाध्यान अकर्म का प्रयोग है। हमारी क्रिया के साथ तीन बातें जुड़ी रहती हैं–

पहली बात है कि मैं जानता हूं। प्रश्न होता है, क्या जानें? कुछ भी जानें। ज्ञान में कोई प्रतिबंध नहीं होता। प्रत्येक पदार्थ ज्ञेय है। ज्ञेय सबकुछ है, चाहे अच्छा हो या बुरा हो। ज्ञेय की दृष्टि में न कोई अच्छा होता है और न कोई बुरा होता है। वहां मात्र जानना होता है।

दूसरी बात है–मैं करता हूं। यहां अच्छा और बुरा, आवश्यक और अनावश्यक, उपयोगी और अनुपयोगी जुड़ जाएगा। एक आदमी एक समय में अच्छा काम करता है, आवश्यक और उपयोगी काम करता है। वही आदमी

दूसरे समय में बुरा काम करता है, अनावश्यक और अनुपयोगी काम करता है। करने के साथ विभाजन हो जाता है। ज्ञान के साथ विभाजन नहीं होता।

तीसरी बात है–मैं भोगता हूं। भोगने की बात कर्म में दोष उत्पन्न करती है। क्रिया अपने आप में दोषपूर्ण नहीं होती। उसमें दोष आता है भोक्ता की स्थिति से। एक कार्य किया, उसके साथ भाव कैसा रहा? उसके पीछे भोगने की मनःस्थिति क्या रही? भोगने का अर्थ है–अच्छा काम करने पर अहंकार का आ जाना, बुरा काम करने पर निराशा का आ जाना, हीनभावना का आ जाना। आदमी इन सारी वृत्तियों को भोगता है। वह इन वृत्तियों की परिधि में घूम रहा है। आदमी कभी अहंकार को भोगता है, कभी विषाद का अनुभव करता है। कभी वह सुख और कभी दुःख का अनुभव करता है। सुखःदुख, हर्ष-विषाद, अहंकार-हीनभावना-इन सारी वृत्तियों के साथ आदमी कार्य को भोगता है। ये सारी वृत्तियां व्यक्ति में उत्पन्न होती हैं। मनुष्य में ही नहीं, प्रत्येक प्राणी में ये वृत्तियां होती हैं।

एक बार जंगल के सारे खरगोश एकत्रित हुए। परस्पर चर्चा चली कि हमारा भी जीवन कोई जीवन है? निरंतर इधर-उधर दौड़ते रहते हैं। अनेक प्राणियों का भय बना रहता है। इससे तो अच्छा है कि हम अपने जीवन को समाप्त कर दें। ऐसे जीवन से तो मौत अच्छी है। सब एकमत हुए और पास की नदी में डूब मरने की बात सोच ली। सब नदी के तट पर पहुंचे। खरगोशों की पदचाप सुनकर नदी के मेंढक इधर-उधर फुदकने लगे। मेंढकों को फुदकते देखकर एक बूढ़े खरगोश ने अपने साथियों से कहा–'अरे! सबने यह क्या सोचा? इतने छोटे-छोटे जीव भी मजे में जी रहे हैं। हम तो इनसे बहुत बड़े हैं।' तत्काल सबका भाव बदला। उनके मन से मरने की बात निकल गई।

ध्यान है समस्या का समाधान

आशा-निराशा, अहंभाव-हीनभाव–ये प्रत्येक घटना और दृश्य के साथ आते रहते हैं। यह भोक्ताभाव है। भोक्तृता है। ध्यान का प्रयोजन है–ज्ञाता भाव को विकसित करना, भोक्ताभाव को कम करना। जब भोक्ताभाव कम होता है, तब समस्याओं का समाधान होता है। जानो और देखो। जब जानने और देखने की स्थिति पुष्ट होती है, तब भोगने की स्थिति अपने आप कमजोर हो जाती है।

जो आदमी भोगता है, उसकी स्थिति विचित्र बन जाती है। वह हर घटना के साथ तादात्म्य जोड़ लेता है और तब उसमें उसी प्रकार के भाव उभर आते

हैं। जब वह रंगमंच के सामने बैठा होता है, अभिनय को देखता है, तब रुदन को देखकर स्वयं रोने लग जाता है, करुण दृश्य को देखकर स्वयं करुण बन जाता है। कभी हंसने लग जाता है और कभी रोने लग जाता है। कभी हीन बनता है और कभी दीन बन जाता है। यह घटना के साथ बह जाने की मनोवृत्ति है। यह कर्म की प्रखर मनोवृत्ति है। इस मनोवृत्ति को समाप्त करना, कर्म की मलिनता को समाप्त करना, कर्म को शुद्ध करना–यह है अकर्म। अकर्म का अर्थ कर्म न करना नहीं है। ज्ञाता-द्रष्टा बनने का अर्थ कर्म से पलायन नहीं है। ज्ञाता-द्रष्टा बनने से भूख मिट जाएगी, प्यास बुझ जाएगी, अर्थ मिल जाएगा, ऐसा नहीं होता। आदमी कर्म को छोड़ नहीं सकता। उसके दोष को मिटाया जा सकता है। कर्म को मिटाना नहीं है, उसके दोष को समाप्त करना है। जब तक शरीर है, तब तक कर्म रहेगा। कोई भी शरीरधारी सभी कर्मों को छोड़ नहीं सकता। शरीर और जीवन की आवश्यकता है, तब कर्म रहेगा ही। आदमी कर्म को नहीं छोड़ सकता, पर कर्म को अकर्म बना सकता है।

उस व्यक्ति का कर्म कर्म होता है, जिसके साथ आसक्ति है, लेप है, तीव्र राग-द्वेष का अध्यवसाय है। उस व्यक्ति का कर्म अकर्म होता है, जिसमें प्रिय-अप्रिय संवेदन कम हो जाते हैं, आसक्ति और लिप्तता कम हो जाती है। अकर्म बनना ही ध्यान का प्रयोजन है। जो व्यक्ति इस सचाई को समझ जाता है, वह पलायनवाद की भाषा में नहीं सोच सकता। वह सोचेगा कि सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिए, उन समस्याओं से जूझने के लिए ध्यान बड़ी शक्ति है, अचूक उपाय है।

जब यह शक्ति आती है, तब समाज में शुद्धियां आती हैं। सभी अपराध इसीलिए पनपते हैं कि आदमी कर्म को अधिक महत्त्व देता है। चोरी, डकैती, संघर्ष, झगड़े–ये सारे कर्म के परिणाम हैं। इन्हें कभी रोका नहीं जा सकता।

एक ओर धर्म को महत्त्व दिया जा रहा है और दूसरी ओर इन सभी अपराधों की रोकथाम की बात सोची जा रही हैं। वे लोग ऐसे समाज की कल्पना करते हैं, जिसमें हत्याएं, मारकाट, चोरियां और डकैतियां न हों। अपराध न हों। ये सारे कर्म के परिणाम हैं, स्फुलिंग हैं। कर्म हो और ये न हों, ऐसा कैसे हो सकता है। आग जलेगी तो चिनगारियां उछलेंगी। आग जले और चिनगारियां न हों, ऐसा हो नहीं सकता।

जब कर्म की आग जलती रहती है, तब अपराध की चिनगारियों को

मिटाया नहीं जा सकता, पर हम एक व्यवस्था कर सकते हैं। आग को अनुशासित करना होगा। चूल्हा इसीलिए बना कि आग अनियंत्रित न हो, नियंत्रित रहे। आग नियंत्रित रहती है, तभी वह उपयोगी होती है। आग को अनुशासित करना आवश्यक है। कर्म को अनुशासित करना होता है। कर्म को अनुशासित करने का उपाय है अकर्म।

कर्म से अकर्म की ओर

आचार्य उमास्वाति ने कहा–जगत्कायस्वभावः संवेगवैराग्याभ्याम्– जगत और शरीर के स्वभाव को जानना बहुत जरूरी है। उसको जानने के दो साधन हैं–संवेग और वैराग्य। यह जानने की प्रक्रिया अनुप्रेक्षा की प्रक्रिया है। जगत और शरीर को जानने का परिणाम होता है कर्म की शुद्धि। जगत को समझने से संवेग होता है और काया को समझने से वैराग्य उत्पन्न होता है। जो व्यक्ति जगत के स्वरूप और स्थिति को जानता है, वह संवेग से भर जाता है। जो काया की स्थिति और स्वरूप को जान लेता है, वह वैराग्य से भर जाता है। जब वह सूक्ष्म शरीर कर्मशरीर को देखता है, जब वहां होने वाले प्रकंपनों को जानने लगता है और वह समझ जाता है कि अमुक कर्म का अमुक परिणाम हो रहा है। उससे मन में विरक्ति पैदा होती है।

जो व्यक्ति कर्म को नहीं जानता, कर्म के स्वभाव को नहीं जानता, वह पदार्थ के आकर्षण से मुक्त नहीं हो सकता। उसमें पदार्थासक्ति बनी रहती है। जो व्यक्ति कर्म के विषय में अनुचिंतन करता है, कर्म की अनुप्रेक्षा करता है, वह वैसे कर्मों से बचेगा, जिसका परिणाम अनिष्ट होता है। परिणाम-प्रेक्षा, विपाक-दर्शन, कर्मबंध की स्थिति इनका अनुचिंतन वैराग्य उत्पन्न करता है। ऐसा अनुचिंतन करने वाला व्यक्ति अनेक कर्मों से बचने का प्रयत्न करता है, इसलिए आध्यात्मिक व्यक्ति के लिए कर्म को जानना बहुत आवश्यक है। इतना आवश्यक है कि जितना जीने के लिए श्वास आवश्यक है। जो कर्म के विषय में नहीं जानता, वह अध्यात्म के अर्थ को नहीं समझता।

अध्यात्मवाद का सबसे महत्त्वपूर्ण संधिस्थल है कर्म का ज्ञान। प्रत्येक भाव के पीछे कर्म बना हुआ होता है। मन में हिंसा, झूठ, चोरी के भाव आते हैं, बुरे सपने आते है, उनमें शारीरिक और रासायनिक, दोनों कारण हैं। उन सबकी जड़ में जो छिपा हुआ कारण है, वह है कर्म। इस कर्म को जान लिया जाता है, तब स्थिति बहुत स्पष्ट हो जाती है। कर्म को समझना अकर्म की दिशा में प्रस्थान करना है।

कर्म के दो रूप हैं–एक भीतर में है, जो परमाणु के रूप में विद्यमान है। एक कर्म जो प्रवृत्ति के रूप में सामने आ रहा है। जब तक आंतरिक कर्म का शोधन नहीं होता, तब तक व्यावहारिक कर्म का शोधन नहीं हो सकता। उसके अभाव में सौहार्द, मैत्री, मृदुता आदि-आदि धर्मों का भी विकास नहीं हो सकता। जिसके मन में भय रहता है कि बुरे कर्म के परिणाम बुरे होते हैं, वह बुरे कर्मों से बच जाता है। सबसे बड़ा नियंत्रण है कर्म का बोध और कर्म का विवेक। जो इस नियंत्रण से नियंत्रित हैं, वे निश्चित ही बुरे कर्मों से भय खाते हैं। जो इस नियंत्रण से बाहर हैं, वे भय नहीं खाते।

अध्यापक ने विद्यार्थी से पूछा–'बताओ, शेर से कौन जानवर नहीं डरता?' बच्चा बुद्धिमान था, वह तत्काल बोला–'महाशयजी! शेर से शेरनी नहीं डरती और सभी जानवर शेर से डरते हैं, पर शेरनी शेर से कभी नहीं डरती।'

कर्म को जान लेने के बाद सबमें प्रकंपन होता है। बस, कोई शेरनी जैसे व्यक्ति में प्रकंपन नहीं होता। कर्म की सचाई को समझना, ध्यान की सचाई को समझना है। अकर्म का महत्त्वपूर्ण पहलू है देखना, जानना। अकर्म का अर्थ न करना नहीं है। कोई भी आदमी यथार्थ की समस्याओं से मुक्त नहीं हो सकता। भूख, प्यास आदि शारीरिक समस्याएं हैं और क्रोध, अहंभाव, हीनभाव आदि मानसिक समस्याएं हैं। ये भावात्मक समस्याएं यथार्थ की समस्याएं हैं। इन समस्याओं के कारण ही सामाजिक और पारिवारिक जीवन में जटिलताएं आती हैं। इन समस्याओं का समाधान करने के लिए कर्म का दोष मिटाना, अकर्म में जाना, ध्यान करना अत्यंत आवश्यक है। इस बात को हम स्पष्ट समझ लें कि शारीरिक समस्याओं को सुलझाने के लिए ध्यान की उतनी उपयोगिता नहीं है जितनी उपयोगिता भावात्मक समस्याओं से निपटने के लिए है।

काम, क्रोध, भय, प्रमाद, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, कामवासना, प्रिय-अप्रिय भाव–ये भावात्मक समस्याएं आदमी को बहुत सताती हैं। उनका तनाव दीर्घ समय तक बना रहता है। भूख आदि शारीरिक आवश्यकताओं का तनाव दीर्घ समय तक नहीं रहता। इसीलिए काम, क्रोध, आदि वृत्तियां बहुत खतरनाक होती हैं। ये वृत्तियां ही कर्म में दोष उत्पन्न करती हैं। ध्यान से कर्म में शुद्धता आती है। यह पलायन नहीं है। यह जीवन की सार्थकता है।

एक समय की घटना है। मंत्री ने राजा से कहा–'राजन्! आप राज्य की पूरी देखभाल नहीं कर रहे हैं, इसलिए राज्य की स्थिति बिगड़ती जा रही है। आपका अधिक समय रानियों के साथ अंतःपुर में बीतता है। इस प्रमाद के

कारण अनेक समस्याएं उभर रही हैं। आप क्षमा करें। मेरी बात पर ध्यान दें।'

राजा ने सुना-अनसुना कर दिया। मंत्री की बात पर ध्यान नहीं दिया। मंत्री ने सोचा–अब कहने से कुछ होने वाला नहीं है। मुझे कोई दूसरा ही उपाय करना चाहिए।

एक दिन मंत्री राज्य को छोड़कर चला गया। वह संन्यासी बनकर एक गुफा में साधना करने लगा। मंत्री की अनुपस्थिति में राज्य की स्थिति और अधिक बिगड़ गई, क्योंकि वही सारे कार्यभार को संभाले हुए था। राजा को पता चला। उसने पूछा–'मंत्री कहां है?' सभासदों ने कहा–'वह राज्य को छोड़कर संन्यासी बन गया है।' राजा ने सोचा–मैं राज्य का संचालन नहीं कर सकता। मंत्री को ही बुलाना होगा। वह कुछेक कर्मचारियों को साथ लेकर पहाड़ी पर पहुंचा, जहां मंत्री संन्यासी के वेष में साधना कर रहा था। राजा ने कहा–'मंत्री! पलायन कर गए? यहां आकर संन्यासी का वेष बनाकर बैठ गए? राज्य का कार्य कैसे चलेगा?' मंत्री बोला–'राजन्! मुझे विरक्ति हो गई है। मैं संन्यासी ही बना रहूंगा।'

राजा कर्म की भाषा को जानता था। अकर्म के रहस्य से वह अनजान था। वह बोला–'मंत्रीवर! यह क्या सोचा तुमने! जब तुम मंत्री पद पर थे, तब सर्वाधिकार संपन्न थे। इतने बड़े राज्य के तुम सर्वोच्च अधिकारी थे। अब बताओ, तुम साधु बन गए? क्या मिला तुमको? रोटी के लिए भी तुम्हें आज दूसरों के आगे हाथ पसारना होता है।' संन्यासी बोला–'राजन्! बहुत कुछ मिला है। जो पहले प्राप्त नहीं था, आज मुझे वह प्राप्त है। देखें, पहले मुझे आपके पास आना पड़ता था, आज इस संन्यस्त अवस्था में आपको मेरे पास आना पड़ा है। यह संन्यास का चमत्कार है। यह अकर्म का चमत्कार है।' कोई इसे पलायन कह सकता है, पर पलायन कोई बुराई नहीं है। कभी-कभी पलायन स्थिति का समाधान दे देता है, समस्या को सुलझा देता है।

ध्यान पलायन नहीं

ध्यान को भी कुछेक व्यक्ति पलायन कह सकते हैं और परिवार वाले समझ सकते हैं कि घर का काम न संभाल सकने के कारण आंखें मूंदकर बैठ जाना ही ध्यान है। ऐसा पलायन भी संभवतः पारिवारिक और सामाजिक स्थिति को नया मोड़ दे सकता है। नई चेतना का जागरण हो सकता है और उससे व्यवहार की शुद्धि, प्रामाणिकता, सचाई का प्रादुर्भाव हो सकता है। उस स्थिति में परिवार एक नया परिवार बन सकता है और समाज एक नया समाज बन सकता है। ऐसा पलायन बुरा भी क्या है?

अनेकांत को समझने वाला किसी पलायन से नहीं डरता। वह सापेक्षता से अर्थ की मीमांसा करता है। वह जान जाता है कि पलायन अच्छा भी होता है और बुरा भी होता है। ध्यान को कोई पलायन माने तो भले ही माने, पर यह पलायन भी समस्या का समाधान दे सकता है। जब संवेग और वैराग्य की स्थिति बनती है, तब समस्याएं सुलझती हैं।

तीन बातें हैं–कर्म, बंधन और अकर्म। हमारे साथ कर्म का बंधन है और कर्म का यह बंधन नए बंधन को पैदा करता है। बंधन बंधन को जन्म देता है। सजातीय सजातीय को जन्म देता है। कर्म से कर्म का बंधन नहीं टूटता। अकर्म से कर्म का बंधन टूटता है। हमें अकर्म में जाना होगा। कर्म को क्षीण करने का एकमात्र उपाय है अकर्म। प्रश्न था कि क्या ध्यान से कर्म का क्षय होता है? यदि होता है तो ध्यान की बहुत बड़ी सार्थकता है। यदि ध्यान से बंधन टूटता है तो उसकी बहुत बड़ी सार्थकता है। यदि ध्यान से कर्म का क्षय नहीं होता, बंधन नहीं टूटता तो फिर ध्यान का कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता। एक घंटा ध्यान किया और कुछ ताजगी आ गई, विश्राम मिला, शांति मिली तो यह ध्यान का प्रासंगिक फल है, गौण फल है।

यदि इतने मात्र से ही संतोष कर लिया जाता है तो ध्यान के मुख्य फल की ओर ध्यान नहीं जाता। ध्यान का मुख्य प्रयोजन है कार्मिक बंधन और पुराने संस्कारों से छुटकारा पाना। ये पुराने संस्कार ही भावों को दूषित बनाते हैं, मलिनता पैदा करते हैं। जब ये संस्कार टूटते हैं, तब व्यक्तित्व का पूरा रूपांतरण होता है। कर्म का निर्जरण ही ध्यान का मुख्य प्रयोजन है। इस प्रयोजनपूर्ति के लिए यदि दस दिन लगाए जाते हैं तो थोड़े हैं, दस हजार दिन भी थोड़े होंगे।

कर्मवाद और ध्यान की मीमांसा से हम फिर एक निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ध्यान के द्वारा हम कर्म से अकर्म की ओर प्रस्थान करते हैं। वैदिक ऋषियों ने मंगलकामना की थी 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' अधंकार से प्रकाश की ओर ले चलो। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने वाला व्यक्ति यह मंगल-भावना करे–कर्मणः अकर्मगमय–कर्म से अकर्म की ओर ले चलो। अकर्म प्रकाश है, कर्म अंधकार है। अकर्म भयमुक्त है, कर्म भयमय है। प्रत्येक ध्यान-साधक यह मंगलभावना करे कि कर्म के सारे दोष और सारी मलिनताएं समाप्त हों, कृत्रिम समस्याएं और कल्पनाएं नष्ट हों।

वह इस सचाई का अनुभव करे कि अकर्म का विकास किए बिना कर्म के साथ उत्पन्न होने वाला दोष कभी समाप्त नहीं होता, इसलिए हम अकर्म की दिशा में आगे बढ़ें और ध्यान जीवन का अनिवार्य अंग बने।

२७. कर्मवाद

कुछ प्राणी संवेदन करते हैं, जानते नहीं। कुछ प्राणी जानते हैं, संवेदन नहीं करते। कुछ प्राणी जानते भी हैं और संवेदन भी करते हैं। अचेतन न जानता है और न संवेदन करता है। ये चार विकल्प हैं।

पहले विकल्प में संवेदन है, ज्ञान नहीं। यह चेतना का निम्न स्तर है। यह वृत्ति का स्तर है। इसके आधार पर जीवन जीया जा सकता है, पर चैतन्य का विकास नहीं किया जा सकता।

दूसरा विकल्प शुद्ध ज्ञान का है। इसमें संवेदन नहीं है, कोरा ज्ञान है। संवेदन का माध्यम शरीर है। मुक्त आत्मा के शरीर नहीं होता। जिसके शरीर नहीं होता, वह प्रिय और अप्रिय दोनों का स्पर्श नहीं करता।

तीसरे विकल्प में ज्ञान और संवेदन दोनों हैं। यह मानसिक और बौद्धिक विकास का स्तर है। इस स्तर में चैतन्य के विकास की पर्याप्त संभावना होती है। जैसे-जैसे हमारा ज्ञान विकसित होता चला जाता है, वैसे-वैसे हम संवेदन के धरातल से उठकर ज्ञान की भूमिका को विकसित करते चले जाते हैं। जैसे-जैसे हमारी ज्ञान की भूमिका विकसित होती है, वैसे-वैसे हम आत्मा के अस्तित्व में प्रवेश पाते हैं। हम अपने अस्तित्व में तब तक प्रवेश नहीं पाते, जब तक संवेदन का धरातल नीचे नहीं रह जाता है।

आचार्य अमितगति के शब्दों में–'अज्ञानी संवेदन के धरातल पर जीता है और ज्ञानी ज्ञान के धरातल पर।' मनुष्य दो धरातल पर जीते हैं। ज्ञानी मनुष्य जानते हैं, किंतु संवेदन नहीं करते। जो घटना घटित होती है, उसे जानते-देखते हैं, किंतु उसका संवेदन नहीं करते। भार नहीं ढोते। अज्ञानी मनुष्य जानते नहीं, संवेदन करते हैं। वे स्थिति का भार ढोते हैं। वेदान्त का साधन-सूत्र है कि साधक द्रष्टा होकर जीए। वह घटना के प्रति साक्षी रहे, उससे देखे, किंतु उससे प्रभावित न हो, उसमें लिप्त न हो।

ज्ञान और संवेदन

ज्ञान होना और संवेदन न होना–यह द्रष्टा का जीवन है। मेरे हाथ में कपड़ा है। मैं इस कपड़े को जानता हूं, देखता हूं। मैं इस कपड़े को कपड़ा मानता हूं। इससे अधिक कुछ नहीं मानता। यह ज्ञान का जीवन है, यह आत्मदर्शन है। प्रश्न हो सकता है, यह आत्म दर्शन कैसे? यह तो वस्त्र-दर्शन है। वस्त्र-दर्शन को हम आत्मदर्शन कैसे मान सकते हैं? इसका उत्तर बहुत साफ है। मैं वस्त्र को जानता हूं। मैं केवल जानता हूं, उसके साथ कोई संवेदनात्मक संबंध स्थापित नहीं करता। इसका अर्थ है, मैं ज्ञान को जानता हूं और ज्ञान को जानने का अर्थ है, मैं अपने आपको जानता हूं। ज्ञान और ज्ञानी सर्वथा अभिन्न नहीं हैं और सर्वथा भिन्न भी नहीं हैं। बहुत सारे लोग आत्मदर्शन करना चाहते हैं। आत्मदर्शन का उपाय बहुत जटिल माना जाता है। मैं आपको बहुत सरल उपाय बता रहा हूं। आप वस्त्र को देखें। यह आपका आत्मदर्शन है। आप वस्त्र को देख रहे हैं, तब केवल वस्त्र को नहीं देख रहे हैं। जिससे वस्त्र को देख रहे हैं, उसे भी देख रहे हैं, अपने ज्ञान को भी देख रहे हैं। जहां केवल ज्ञान का प्रयोग होता है, वहां अपने अस्तित्व का अनुभव होता है। अपने अस्तित्व का अर्थ है केवल ज्ञान का अनुभव। ज्ञान में किसी दूसरी भावना का मिश्रण हुआ कि वह संवेदन बन गया। ज्ञान का धरातल छूट गया। केवल ज्ञान का अनुभव करना, अपने अस्तित्व का अनुभव करना है। अपना अस्तित्व उससे पृथक् नहीं है। मैं ज्ञान का अनुभव कर रहा हूं, इसका अर्थ है कि जहां से ज्ञान की रश्मियां आ रही हैं, उस आत्म-सत्ता का अनुभव कर रहा हूं, क्योंकि आत्मा और ज्ञान भिन्न नहीं हैं। केवल ज्ञान का प्रयोग करने का अर्थ है अपने आपको जानना और अपने आपको जानने का अर्थ है–केवल ज्ञान का प्रयोग करना। इस अर्थ में केवल ज्ञान का प्रयोग और आत्मदर्शन एक ही बात है।

ज्ञान की निर्मल धारा में जब राग और द्वेष का कीचड़ मिलता है, अहं और मोह की कलुषता मिलती है, तब वह केवल ज्ञान या शुद्ध ज्ञान की धारा संवेदन की धारा बन जाती है। इस धारा में न शुद्ध चैतन्य का अनुभव होता है और न आत्मदर्शन होता है।

ज्ञान और संवेदन–यह कर्मवाद की पृष्ठभूमि है।

अविभक्त बंगाल में चौबीस परगना जिला था। उस जिले में एक गांव है–कोल्हू। वहां एक व्यक्ति रहता था। उसका नाम था भूपेशसेन। वह

बंगाली गृहस्थ था। बहुत बड़ा भक्त था। इतना बड़ा भक्त कि वह भक्ति में बैठता, तब तन्मय हो जाता। बाहरी दुनिया से उसका संबंध टूट जाता। एक दिन वह भक्ति में बैठा और तन्मय हो गया। बाहर का भान समाप्त हो गया। अंतर में पूरा जागृत, किंतु बाहर से सुप्त। एक व्यक्ति आया और चिल्लाया, 'भूपेश! क्या कर रहे हो? उठो और संभलो।' वह बहुत जोर से चिल्लाया, किंतु भूपेश को कोई पता नहीं चला। उसने भूपेश का हाथ पकड़कर झकझोरा। तब भूपेश ने आंखें खोलीं और कहा–'कहिए, क्या बात है?' आगंतुक बोला–'मुझे पूछते हो, क्या बात है? यहां आंखे मूंदे बैठे हो। तुम्हें पता नहीं, तुम्हारे इकलौते बेटे को सांप काट गया और वह तत्काल ही मर गया।' भूपेश ने कहा–'जो होना था, सो हुआ।' आगंतुक बोला–'अरे! तुम कैसे पिता? मैंने तो दुःख का संवाद सुनाया और तुम वैसे ही बैठे हो? लगता है कि पुत्र से तुम्हें प्यार नहीं है। तुम्हें शोक क्यों नहीं हुआ? तुम्हें चिंता क्यों नहीं हुई? तुम्हें दुःख क्यों नहीं हुआ? तुम्हारी आंखों से दो आंसू क्यों नहीं छलक पड़े?' भूपेश ने कहा–'जिस दिन बेटा आया था तो मुझे पूछकर नहीं आया था और आज वह लौट गया तो मुझे पूछकर नहीं लौटा। उस दिन मैंने कुछ नहीं किया था। आज भी मुझे कुछ नहीं करना है। यह जन्म और मरण की अनिवार्य शृंखला है, जिसमें मेरा हाथ नहीं है। मनुष्य आता है, चला जाता है। तुम्हें इतनी क्या चिंता है?' आगंतुक चुप हो गया। उसके पास बोलने के लिए कुछ नहीं बचा। कुछ क्षण रुककर वह बोला–'अब उसकी चिता जलानी है, साथ चलो।' भूपेश उसके साथ गया। पुत्र की अर्थी श्मशान में पहुंची। चिता में पुत्र को सुला, आग लगाकर कहा–'बेटे, तुम जिस घर से आए थे, उसी घर में जा रहे हो। आज से हमारा संबंध विच्छिन्न हो गया है।'

यह घटना का केवल ज्ञान है। इसके साथ संवेदना का कोई तार जुड़ा हुआ नहीं है। जो घटित हुआ, उसे उसी रूप में स्वीकार किया गया है। मनुष्य जब इस स्थिति में पहुंच जाता है, तब ज्ञान की भूमिका प्रशस्त हो जाती है। भगवान महावीर की वाणी में इसी का नाम संवर है। जहां केवल ज्ञान रहता है, केवल आत्मा की अनुभूति रहती है, वहां विजातीय तत्त्व का आकर्षण बंद हो जाता है।

आत्मा की दो स्थितियां हैं–एक अस्वीकार की और दूसरी स्वीकार की। केवल ज्ञान का अनुभव होना अस्वीकार की स्थिति है। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव की अवस्था में विजातीय तत्त्व का कोई प्रवेश, संक्रमण

या प्रभाव नहीं होता। संवेदन स्वीकार की स्थिति है। संवेदन के द्वारा हमारा बाह्य जगत के साथ संपर्क होता है। हम बाहर से कुछ लेते हैं और उसे अपने साथ जोड़ते हैं। जोड़ने की भावधारा का नाम 'आश्रव' और विजातीय तत्त्व के जुड़ने का नाम 'बंध' है। आत्मा के साथ जुड़ा हुआ विजातीय तत्त्व, परिपक्व होकर अपना प्रभाव डालता है, तब उसका नाम 'कर्म' हो जाता है। वह अपना प्रभाव दिखाकर विसर्जित हो जाता है। कोई भी विजातीय तत्त्व आत्मा के साथ निरंतर चिपका नहीं रह सकता। या तो वह अवधि का परिपाक होने पर अपना प्रभाव दिखलाकर स्वयं चला जाता है या प्रयत्न के द्वारा उसे विलग कर दिया जाता है। यह विलग करने का प्रयत्न 'निर्जरा' है। तपस्या से कर्म निर्जीर्ण होते हैं, इसलिए उसका (तपस्या का) नाम निर्जरा है। निर्जरा का चरम बिंदु मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ है केवल आत्मा। आत्मा और पुद्गल का जो योग है, वह बंधन है, संसार है। केवल आत्मा के अस्तित्व का होना, पुद्गल का योग न होना ही मोक्ष है। इसकी अनुभूति धर्म के हर क्षण में की जा सकती है।

आश्रव और संवर, बंध और निर्जरा–इन चार तत्त्वों को समझने पर ही कर्म की वास्तविकता को समझा जा सकता है। केवल चैतन्य का अनुभव होना संवर है। चैतन्य के साथ राग-द्वेष का मिश्रण होना आश्रव है। इसके द्वारा कर्म परमाणु आकर्षित होते हैं। वे चैतन्य को आवृत करते हैं, ज्ञान और दर्शन की क्षमता पर आवरण डालते हैं। वे आत्मा के सहज आनंद को विकृत कर, उसके दृष्टिकोण और चारित्र में विकार उत्पन्न करते हैं। वे आत्मा की शक्ति को स्खलित करते हैं। कुछ कर्म-परमाणु शरीर-निर्माण और पौद्गलिक उपलब्धि के हेतु बनते हैं। इस प्रकार आश्रव बंध का निर्माण करता है और बंध पुण्य-कर्म और पाप-कर्म के द्वारा आत्मा को प्रभावित करता है। जब तक आत्मा केवल ज्ञान के अनुभव की अवस्था को प्राप्त नहीं होता, तब तक वह वर्तुल चलता ही रहता है।

जीव में भी अनंत शक्ति है और पुद्गल में भी अनंत शक्ति है। जीव में दो प्रकार की शक्तियां होती हैं–

१. लब्धिवीर्य–योग्यतारूप शक्ति।

२. करणवीर्य शक्ति–क्रियात्मक शक्ति।

गौतम ने भगवान महावीर से पूछा–'भंते! जीव कांक्षामोहनीय कर्म का बंध करता है?'

भगवान–'करता है।'

'भंते! कैसे?'

'प्रमाद से।'

'भंते! प्रमाद किससे होता है?'

'योग (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति) से।'

'भंते! योग किससे होता है?'

'वीर्य (प्राण) से।'

'भंते! वीर्य किससे होता है'?

'शरीर से।'

'भंते! शरीर किससे होता है?'

'कर्म-शरीर से।'

'भंते! कर्म-शरीर किससे होता है?'

'जीव से।'

आप उल्टे चलिए। जीव से शरीर, शरीर से क्रियात्मक शक्ति, क्रियात्मक शक्ति से योग, योग से प्रमाद और प्रमाद से कर्म-बंध, यह एक वर्तुल है।

कौन है कर्म का कर्ता?

कर्म की कर्ता आत्मा है या कर्म? इस प्रश्न पर दो अभिमत हैं। सूत्रकार की भाषा में कर्म की कर्ता आत्मा है। आचार्य कुन्दकुन्द की भाषा में कर्म का कर्ता कर्म है। ये दोनों सापेक्ष दृष्टिकोण हैं। इसमें तात्पर्य-भेद नहीं है। मूल आत्मा (चिन्मय अस्तित्व) और आत्म-पर्याय (मूल आत्मा के निमित्त से निष्पन्न विभिन्न अवस्थाएं)–ये दो वस्तुएं हैं। इन्हें हम अभेद और भेद-दोनों दृष्टियों से देखते हैं। जब हम अभेद की दृष्टि से देखते हैं, तब कहा जाता है–आत्मा कर्म की कर्ता है और जब भेद की दृष्टि से देखते हैं, तब कहते हैं कि कर्म कर्म का कर्ता है।

कर्म का कर्ता कषाय आत्मा है। वह मूल आत्मा का एक पर्याय है। यदि मूल आत्मा कर्म की कर्ता हो तो वह कभी भी कर्म का अकर्ता नहीं हो सकती। उसका स्वभाव चैतन्य है, इसलिए वह चैतन्य की ही कर्ता हो सकती है। कर्म पौद्गलिक है, अचेतन है। वह उसकी कर्ता नहीं हो सकती। मूल

आत्मा के आयतन में कषाय आत्मा (राग और द्वेष) का वलय है। उसमें कर्म-पुद्गलों का आकर्षण होता है। वे कषाय को पुष्ट करते हैं। इस प्रकार कषाय से कर्म और कर्म से कषाय चलता रहता है। मिथ्या दृष्टिकोण, आकांक्षा और आत्मविस्मृति–ये तीनों आत्म-पर्याय भी कर्म के कर्ता हैं, किंतु वास्तव में ये सब कषाय के उपजीवी हैं। मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति भी कर्म की कर्ता है, किंतु उसमें कर्म-पुद्गलों को बांधकर रखने की क्षमता नहीं है। कषाय के क्षीण हो जाने पर केवल प्रवृत्ति के द्वारा जो कर्म-पुद्गल का प्रवाह आता है, वह पहले क्षण में कर्म-शरीर से जुड़ता है, दूसरे क्षण में मुक्त होकर तीसरे क्षण में निर्जीर्ण हो जाता है। ठीक उसी तरह जैसे सूखी रेत दीवार पर डाली गई, दीवार का स्पर्श किया और नीचे गिर गई।

कर्म की तीन अवस्थाएं होती हैं–स्पृष्ट, बद्ध और बद्ध-स्पृष्ट। कषाय का वलय टूट जाता है, तब कोरी प्रवृत्ति से कर्म आत्मा से स्पृष्ट होते हैं। कर्म का दीर्घकालीन या प्रगाढ़ बंध कषाय के होने पर ही होता है। हमारी बहुत सारी अनुभूतियां कषाय-चेतना की अनुभूतियां हैं। आवेश, अहंकार, प्रवंचना, लालसा–ये सब कषाय की ऊर्मियां हैं। उन ऊर्मियों की अनुभूति के क्षण क्षुब्ध और उत्तेजनापूर्ण होते हैं। जिन क्षणों में हम केवल चेतना की अनुभूति करते हैं, वह शांत-कषाय का क्षण होता है। जिन क्षणों में हम संवेदन करते हैं, उनमें प्रत्यक्षतः या परोक्षतः कषाय-मिश्रित चेतना होती है।

संत राबिया के घर एक फकीर आया। उसने मेज के पास पड़ी एक पुस्तक को देखा। उसके पन्ने उलटने शुरू किए। एक पन्ने में लिखा था–'शैतान से नफरत करो।' राबिया ने उसे काट दिया था। फकीर बोला–'यह क्या? इस पवित्र पुस्तक का वाक्य किसने काटा?' संत राबिया ने कहा–'यह मैंने काटा है।' फकीर ने पूछा–'क्यों?' राबिया ने कहा–'अच्छा नहीं लगा।'

'यह कैसे हो सकता कि पवित्र पुस्तक की बात अच्छी न लगे? क्या यह सही नहीं है?', फकीर ने पूछा। संत राबिया ने कहा–'एक दिन मुझे भी सही लगता था, किंतु आज लगता है कि सही नहीं है।'

'वह कैसे?', फकीर ने पूछा।

संत राबिया ने कहा–'जब तक मेरा प्रेम जागृत नहीं था, मेरी प्रेम की आंख खुली नहीं थी, मुझे भी लगता था कि शैतान से नफरत करो, प्यार नहीं–यह वाक्य बहुत सही है, किंतु अब मैं क्या करूं? मेरी प्रेम की आंख

खुल गई है। अब घृणा करने के लिए मेरे पास कुछ नहीं बचा है। मैं घृणा कर ही नहीं सकती। प्रेम की आंख यह भेद करना नहीं जानती कि इसके साथ प्रेम करो और इसके साथ घृणा।'

हम जब कषाय-चेतना में होते हैं तब किसी को प्रिय मानते हैं और किसी को अप्रिय। किसी को अनुकूल मानते हैं और किसी को प्रतिकूल। हमारी कषाय-चेतना शांत होती है, तब ये सब विकल्प समाप्त हो जाते हैं, फिर कोरा ज्ञान ही हमारे सामने शेष रहता है। उसमें न कोई प्रिय होता है और न कोई अप्रिय। न कोई इष्ट होता है और न कोई अनिष्ट। न कोई अनुकूल होता है और न कोई प्रतिकूल। इस स्थिति में कर्म का बंध नहीं होता।

भेद-विज्ञान से आत्मोपलब्धि

कषाय-चेतना पर पहला प्रहार तब होता है, जब भेद-ज्ञान का विवेक जागृत होता है। आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है यह विवेक जब अपने वलय का निर्माण करता है, तब कर्म-शरीर से लेकर कषाय तक के सारे वलय टूटने लग जाते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने बहुत ही सत्य कहा है–

भेदविज्ञानतः सिद्धाः, सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धाः, बद्धा ये किल केचन॥

–इस संसार में वे ही लोग कर्म से बद्ध हैं, जिनमें भेद-विज्ञान का अभाव है। आत्मा की उपलब्धि उन्हीं व्यक्तियों को हुई है, जिनका भेद-विज्ञान सिद्ध हो गया, अचेतन से भिन्न चेतन की सत्ता अनुभव में आ गई।

ऐसा होते ही कर्म का मूल हिल उठता है। जिसने अचेतन और चेतन का भेद समझ लिया, उसने कर्म और कषाय को आत्मा से भिन्न समझ लिया। समझ कर्म के मूल स्रोत पर प्रहार करती है। जिस कषाय से कर्म आ रहे हैं, उसके मूल पर कुठाराघात करती है। कर्म-बंधन को तोड़ने का मूल हेतु भेद का विज्ञान है। कर्म-बंध का मूल हेतु भेद का अविज्ञान है।

मूल आत्मा और उसके परिपार्श्व में होने वाले वलयों का भेद-ज्ञान जैसे-जैसे स्पष्ट होता चला जाता है, वैसे-वैसे कर्म-बंधन शिथिल होता चला जाता है। जिन्हें भेद-ज्ञान नहीं होता, मूल चेतना और चेतना के वलयों में एकता की अनुभूति होती है, उनका बंधन तीव्र होता चला जाता है। कर्म पुद्गल है और वह अचेतन है। अचेतन चेतन के साथ एकरस नहीं हो सकता। हमारी कषाय-आत्मा ही कर्म-शरीर के माध्यम से उसे एकरस करती है। मुक्त

आत्मा के साथ पुद्गल एकरस नहीं होता, क्योंकि उसमें केवल शुद्ध चैतन्य की अनुभूति होती है। शुद्ध चैतन्य की अनुभूति का क्षण 'संवर' कर्म पुद्गलों के संबंध को रोकने वाला क्षण है और आत्मा का स्वरूप है।

कषाय-मिश्रित चैतन्य की अनुभूति का क्षण आश्रव है। वह कर्म-पुद्गलों को आकर्षित करता है। यहां जातीय-सूत्र कार्य करता है अर्थात् सजातीय सजातीय को खींचता है। कर्मशरीर की विद्यमानता एवं उसके साथ आत्मा के एकत्व की अनुभूति से होने वाली कषाय-चेतना की परिणतियां पुद्गल-मिश्रित होती हैं। पुद्गल पुद्गल को आकर्षित करता है। यह तथ्य हमारी समझ में आ जाए तो हमारी आत्म-साधना की भूमिका बहुत सशक्त हो जाती है। हम अधिक से अधिक शुद्ध चैतन्य के क्षणों में रहने का अभ्यास करें, जहां कोरा ज्ञान हो, संवेदन न हो। यह साधना की सर्वोच्च भूमिका है। इसीलिए जैन आचार्यों ने ध्यान के लिए 'शुद्ध उपयोग' शब्द का प्रयोग किया है।

'शुद्ध उपयोग' अर्थात् केवल चैतन्य की अनुभूति। साधना के अभाव में कर्म का प्रगाढ़ बंध होता है और साधना के द्वारा उसकी ग्रंथि का भेदन होता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि साधना के रहस्य को समझे बिना कर्म के रहस्य को नहीं समझा जा सकता और कर्म के रहस्य को समझे बिना साधना के रहस्य को नहीं समझा जा सकता। हम कर्म-पुद्गल की जिन धाराओं को ग्रहण करते हैं, उन्हें अपनी क्रियात्मक शक्ति के द्वारा ही ग्रहण करते हैं। उस समय हमारी चेतना की परिणति भी उसके अनुकूल होती है। आंतरिक और बाह्य परिणतियों में सामंजस्य हुए बिना दोनों में संबंध स्थापित नहीं हो सकता। जैन दर्शन ने कर्मवाद की मीमांसा की है, उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन अभी नहीं हुआ है। यदि वह हो तो मनोविज्ञान और योग के नए उन्मेष हमारे सामने आ सकते हैं तथा जैन साधना-पद्धति का नया रूप भी प्रस्तुत हो सकता है।

हम जैसी भावना करते हैं, वैसी ही हमारी परिणति होती है। जैसी परिणति होती है, वैसे ही पुद्गलों को हम ग्रहण करते हैं। उन पुद्गलों का अपने आपमें परिपाक होता है। परिपाक के बाद उनकी जो परिणति होती है, वही हमारी आंतरिक परिणति हो जाती है। यह एक शृंखला है। एक व्यक्ति ने ज्ञान के प्रति अवहेलना का भाव प्रदर्शित किया, ज्ञान की निंदा की, उस समय उसकी परिणति ज्ञान-विमुख हो गई। उस परिणति-काल में वह कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करता है।

वे कर्म-पुद्गल आत्मा की सारी शक्तियों को प्रभावित करते हैं, किंतु ज्ञान-विरोधी परिणति में गृहीत पुद्गल मुख्यतया ज्ञान को आवृत करेंगे। उनका परिपाक ज्ञानावरण के रूप में होगा। इस प्रकार हम सारे कर्मों की मीमांसा करते चलें। जिसकी चेतना की परिणति ठगने की होती है, उस समय ग्रहण किए जाने वाले कर्म-पुद्गल अनुभव दशा में उसके चरित्र को विकृत बनाते हैं। उनकी परिणति यदि दूसरे को कष्ट देने की होती है तो उस समय ग्रहण किए जाने वाले कर्म-पुद्गल अनुभव दशा में उसके सुख में बाधा डालते हैं। यह परिणति का सिद्धांत है। हम किस रूप में परिणत होते हैं, किस प्रकार की क्रियात्मक शक्ति के द्वारा पुद्गल धारा को स्वीकार करते हैं, इसका ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है। इसके आधार पर ही वह जीवन की सफलता का निर्धारण कर सकता है, जीवन-संघर्ष में आने वाली बाधाओं को पार कर सकता है।

जिस व्यक्ति को यह लगे कि मुझे ज्ञानावरण अधिक सता रहा है, उसे ज्ञानावरण को क्षीण करने की साधना का मार्ग चुनना चाहिए। किसी को मोह अधिक सताता है, किसी की क्षमताओं में अवरोध पैदा होता है, ये भिन्न-भिन्न समस्याएं हैं। साधना के द्वारा इनका समाधान पाया जा सकता है। क्रोध पर चोट करनी हो तो एक प्रकार की साधना करनी होगी और यदि मान पर चोट करनी हो तो दूसरे प्रकार की साधना करनी होगी। जिस समस्या से जूझना है, उसी के मूल पर प्रहार करने वाली साधना चुननी होगी। यह बहुत सूक्ष्म पद्धति है। रहस्य हमारी समझ में आ जाए तो जीवन की समस्याओं को सुलझाने में हम बहुत सफल हो सकते है।

२८. समाजवाद में कर्मवाद का मूल्यांकन

मैं कल्पना करने में कठिनाई का अनुभव करता हूं कि एक आदमी भारत में जन्मा हो और कर्मवाद को न जानता हो, नियति, प्रारब्ध और भाग्य के विषय में कुछ न जानता हो। भारत के सभी आस्तिक दर्शनों ने किसी न किसी रूप में कर्म के अस्तित्व को स्वीकारा है। भारत की मिट्टी में कर्म के सिद्धांतों की जड़ें गहरे तक जमी हुई हैं। खेतों-खलिहानों में भी यदा-कदा कर्म का स्वर सुनाई देता है।

घटना की सफलता और असफलता–दोनों में कर्म की दुहाई सुनने को मिलती है। सफल होने वाला व्यक्ति अपनी सफलता का श्रेय पूर्वजन्म में किए हुए पुण्य को देता है और कहता है–'पूर्वजन्म में अच्छे कर्म किए थे, इसलिए मुझे यह सफलता मिली है।' असफल होने वाला भी अपनी असफलता का दायित्व कर्म पर डाल देता है–'ऐसा ही कोई कर्म किया हुआ था, मैं क्या करूं?' कर्म का इतना गहरा संस्कार है कि उसके लिए मुझे विशेष चर्चा की आवश्यकता का अनुभव नहीं होता।

आज के युग में जीने वाला, थोड़ा-बहुत भी जनसंपर्क में आनेवाला, पढ़ने-लिखने वाला और राजनीतिक वातावरण से परिचित रहनेवाला कौन व्यक्ति ऐसा होगा, जो समाजवाद के नाम से अनजान हो? भारत में इन वर्षों में कई बार समाजवाद की स्थापना के संकल्प को दोहराया गया है। समाजवाद एक राजनीतिक प्रणाली है, एक आर्थिक प्रणाली है। कर्मवाद एक आध्यात्मिक प्रणाली है। दोनों का क्षेत्र भिन्न है। दोनों की सीमाएं और मर्यादाएं भिन्न हैं।

समाजवाद के सिद्धांत

समाजवाद कोरी आर्थिक प्रणाली ही नहीं है, कोरा राजनीतिकवाद ही नहीं है। उसके तीन पहलू हैं–दार्शनिक, राजनीतिक और आर्थिक। यदि वह केवल आर्थिक आंदोलन होता तो आज तक नहीं चल पाता। यदि वह कोरा

राजनीतिक आंदोलन होता तो भी वह आज तक नहीं चल पाता। वह चल रहा है और इसलिए चल रहा है कि उसके पीछे एक दर्शन है, एक सुनियोजित विचारधारा है। वही आंदोलन लंबे समय तक टिक सकता है जिसकी पृष्ठभूमि में दर्शन होता है। समाजवाद के दार्शनिक पक्ष को ऐतिहासिक द्वंद्वात्मक भौतिकवाद कहा जाता है। इसका पहला या मूलभूत सिद्धांत यह है इस जगत का आधार अचेतन है, अचित्त है। इस जगत का आधार कोई सचेतन नहीं है। इससे एक परिस्थिति उभरती है। वह है, केवल वर्तमान, न अतीत और न भविष्य। आदमी जन्म लेता है। उसके पीछे कोई अतीत नहीं होता, उसका कोई भविष्य नहीं होता, कोरा वर्तमान होता है। आप सोच सकते हैं कि भारतीय दर्शन में जो भाषा चार्वाक की थी, वही भाषा समाजवादी दर्शन की है।

चार्वाक ने भी केवल वर्तमान को स्वीकारा था और समाजवादी दर्शन भी केवल वर्तमान को स्वीकारता है, लेकिन दोनों की उद्देश्यगत वास्तविकता बहुत भिन्न है। चार्वाक दर्शन पुनर्जन्म और कर्मवाद को अस्वीकार कर वर्तमान जीवन को सुख से जीने के उद्देश्य से अस्तित्व में आया था और समाजवाद विषमतापूर्ण समाज-व्यवस्था को बदलने के उद्देश्य से अस्तित्व में आया था। उद्देश्य की दृष्टि से दोनों में कोई तुलना नहीं की जा सकती। केवल इतनी तुलना की जा सकती है कि चार्वाक भी अनात्मवादी दर्शन है और द्वंद्वात्मक भौतिकवाद भी अनात्मवादी दर्शन है।

जो दर्शन केवल वर्तमान सम्मत होता है, अतीत और भविष्य सम्मत नहीं होता, उसे लंबी-चौड़ी चर्चा में जाने की जरूरत नहीं होती, कोई लंबी चिंता करने की जरूरत नहीं होती। उसे अदृश्य जगत में जाने की चिंता नहीं होती और बहुत सूक्ष्म अवगाहन करने की भी कोई जरूरत नहीं होती। जो दृष्ट है, उपलब्ध है, उसी की जरूरत होती है। इससे समाजवाद का दूसरा सिद्धांत फलित होता है। वह है परिस्थितिवाद।

जब केवल वर्तमान है तो केवल वर्तमान में परिस्थितिवाद पनपता है। निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि व्यक्ति परिस्थिति की देन है। व्यक्ति के समूचे व्यक्तित्व का निर्माण परिस्थिति से होता है। जैसी परिस्थिति होती है, वैसा ही व्यक्ति का निर्माण हो जाता है। व्यक्तित्व के निर्माण का दायित्व परिस्थिति पर होता है। केवल वर्तमान और केवल परिस्थिति के आधार पर समाजवाद का तीसरा सिद्धांत बनता है समाज व्यवस्था का परिवर्तन। परिवर्तन

की प्रक्रिया का मूल आधार आर्थिक पक्ष है। आर्थिक समस्या मूलभूत समस्या है। इसे सुलझाए बिना सामाजिक समस्याएं सुलझ नहीं सकतीं।

समाज व्यवस्था की रीढ़

मार्क्स ने इस भाषा में सोचा था कि समाज अर्थ के आधार पर बनता-बिगड़ता है। अर्थ-व्यवस्था ही समाज की रीढ़ है और उसके आधार पर ही समाज अच्छा या बुरा बनता है। केवल मार्क्स ही ऐसा सोचने वाला व्यक्ति हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। भारतीय चिंतकों में भी इस प्रकार का चिंतन प्रस्फुटित हुआ था। पूरे समाज के संदर्भ में भारतीय चिंतन तीन वर्ग (धर्म, अर्थ और काम) अथवा चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) में विभाजित था। यह प्रश्न चलता था कि त्रिवर्ग या चतुर्वर्ग में मुख्य कौन? भिन्न-भिन्न मत थे। कोई धर्म को मुख्य मानता, कोई काम को मुख्य मानता और कोई मोक्ष को मुख्य मानता। भारतीय राजनीति के नक्षत्र महात्मा कौटिल्य ने इन सब मतों का उल्लेख कर अंत में अपने अभिमत का उल्लेख किया है। यह उल्लेख मार्क्स के चिंतन से भिन्न नहीं है। कौटिल्य के अनुसार सब वर्गों में अर्थ ही प्रधान है। धर्म और काम इन दोनों के मूल में अर्थ है।

अर्थ है तो धर्म (न्यायाधिकरण) होता है और अर्थ है तो काम होता है। अर्थ के बिना कुछ नहीं होता, न धर्म और न काम। अर्थ को प्रधानता देने वाले चिंतक भारत में बहुत प्राचीन काल में हुए हैं और यह एक सचाई है कि समाज के बनने-बिगड़ने में अर्थ का बहुत बड़ा हाथ होता है। समाजवाद का दूसरा पक्ष है आर्थिक। मार्क्स ने इस बात पर ध्यान दिया कि जब तक अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन नहीं किया जाता, तब तक समाज का विकास नहीं हो सकता, सामाजिक परिवर्तन नहीं हो सकता। आर्थिक व्यवस्था समाजवाद का ध्येय बन गया।

अब प्रश्न यह रहा कि ध्येय को प्राप्त कैसे किया जाए? केवल दार्शनिक समाजवाद, दार्शनिक समतावाद या दार्शनिक साम्यवाद से ध्येयसिद्धि नहीं हो सकती। यह उन्हें स्पष्ट प्रतीत हुआ। इतिहास के अध्ययन के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि दार्शनिक साम्यवाद का बखान करते-करते हजारों वर्ष बीत गए, पर समाज नहीं बदला। वे समाज को बदलना चाहते थे। ध्येय की पूर्ति के लिए उन्होंने तीसरा पक्ष चुना, जो समाजवाद का राजनीतिक पक्ष है, ध्येय की पूर्ति का एकमात्र साधन है। समाजवादी धारणा के अनुसार जब तक

राज्य की सत्ता हाथ में नहीं आती, तब तक समाज को नहीं बदला जा सकता। समाजवादी उद्देश्यों की पूर्ति की अनिवार्य शर्त है राज्य-सत्ता को हथियाना। राज्य-सत्ता शोषित वर्ग के हाथ में होनी चाहिए।

धनिकों और गरीबों तथा मिल-मालिकों तथा मजदूरों के बीच जो वर्ग-संघर्ष चल रहा है वह तब तक नहीं मिटेगा, जब तक शोषित वर्ग के हाथ में राज्य-सत्ता नहीं आएगी। इनके हित परस्पर विरोधी हैं। उनमें कोई समझौता नहीं हो सकता। समाजवाद के आचार्यों ने यह प्रतिपादन किया कि पूंजीवादी लोगों के हित और शोषित लोगों के हित इतने विरोधी हैं कि उनमें समझौते की कोई संभावना नहीं है। इस विरोध को मिटाने का एक ही उपाय है और वह है शोषित वर्ग के हाथ में सत्ता आना।

कर्मवाद के सिद्धांत

समाजवाद के तीन पक्ष-दार्शनिक, आर्थिक और राजनीतिक हमारे सामने हैं। इन तीनों पक्षों के संदर्भ में हमें कर्मवाद को समझना है, उसकी मीमांसा करनी है। कर्मवाद का दार्शनिक पक्ष समाजवाद के दार्शनिक पक्ष से बिल्कुल उल्टा है। कर्म का अस्तित्व उन दार्शनिकों ने स्वीकार किया जो जगत का आधार चेतन-अचेतन इस तत्त्वद्वयी को या केवल चेतन को स्वीकार करते हैं। केवल अचेतन को जगत का आधार मानने वाला कर्म के सिद्धांत को स्वीकार नहीं करता।

आत्मवादी दर्शनों की मुख्य दो धाराएं हैं–द्वैतवाद और अद्वैतवाद। द्वैतवादी धारा के अनुसार चेतन और अचेतन–इन दोनों का अस्तित्व है। अद्वैतवादी धारा केवल चेतन तत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार करती है। जिन दर्शनों ने कर्म को स्वीकार किया, उनमें एक भी दर्शन ऐसा नहीं है, जो कर्म को स्वीकृति नहीं देता हो और चेतन तत्त्व को स्वीकार किए बिना कर्म का कोई मूल्य नहीं होता, कोई अर्थ नहीं होता। कर्मवाद की धारणा के साथ भूत जुड़ा हुआ है। यदि हमारा कोई अतीत नहीं है तो कर्मवाद को स्वीकार करने की कोई जरूरत नहीं है। यदि हमारा कोई भविष्य नहीं है तो कर्मवाद को स्वीकार करने की कोई जरूरत नहीं है। कर्मवाद के साथ भूत, भविष्य और वर्तमान–ये तीनों काल जुड़े हुए हैं।

कर्मवाद का दूसरा सिद्धांत है परिस्थितिवाद का अस्वीकार। केवल वर्तमान को स्वीकार करने वालों को परिस्थितिवाद मान्य हो सकता है, किंतु कर्म को स्वीकार करने वालों को मान्य नहीं हो सकता। परिस्थिति को निमित्त

माना जा सकता है, एक हेतु या कारण माना जा सकता है, पर सारा भार परिस्थिति पर नहीं लादा जा सकता, नहीं थोपा जा सकता। वह इतना भार उठाने में सक्षम भी नहीं है। जहां कर्मवाद की स्वीकृति है, वहां चेतन की स्वीकृति है, पूर्वजन्म और भावीजन्म की स्वीकृति है। जहां इनकी स्वीकृतियां हैं, वहां परिस्थितिवाद की एकाधिकार स्वीकृति नहीं हो सकती।

तीसरा प्रश्न है आर्थिक पक्ष का। वहां कर्मवाद की प्रचलित धारणा यह है कोई आदमी धनी होता है तो लोग कहते हैं बहुत भाग्यशाली है, बड़ा पुण्य किया है, इसलिए इतना धन मिल गया। कोई गरीब होता है तो लोग कहते हैं भाग्यहीन आदमी है, अच्छा कर्म नहीं किया, इसलिए दुःख भोग रहा है, संताप भोग रहा है। कर्मवाद को इस रूप में समझा गया है कि धनी होना पुण्य कर्म का योग है और निर्धन होना पाप कर्म का योग है। कोई आदमी बड़े से बड़ा धनी होता है तो उसे मान्यता मिल जाती है। बहुत धन के संग्रह को बुरा नहीं माना जाता, कर्मवाद के संदर्भ में उसका समर्थन किया जाता है। किसी आदमी को रोटी नहीं मिलती तो कर्मवाद के संदर्भ में इसका समाधान इस प्रकार दिया जाता है कि इसने पिछले जन्म में बहुत बुरे कर्म किए हैं। यदि रोटी न मिले तो कोई क्या करे। स्वयं का किया हुआ कर्म है, यह भोगेगा, हमें इससे क्या? कर्मवाद के संदर्भ में धनी और निर्धन–दोनों अवस्थाओं के बारे में निर्णय दिया जाता है, उन्हें भाग्य के साथ जोड़ दिया जाता है।

यह आर्थिक पक्ष ऐसा है, जहां समाजवाद और कर्मवाद की भारी टक्कर होती है। यद्यपि दार्शनिक पक्ष भी दोनों के भिन्न हैं। वहां कोई मेल नहीं है। वहां इतना मेल नहीं है तो इतना संघर्ष भी नहीं है। संघर्ष का मुख्य बिंदु है आर्थिक व्यवस्था। समाजवाद की यह स्थापना है। केवल स्थापना ही नहीं, प्रयोग कर चुका है कि संपत्ति समाज की है। उस पर व्यक्ति का स्वामित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता, समाज का स्वामित्व स्थापित होना चाहिए।

उत्पादन, विनिमय और वितरण पर समाज का स्वामित्व स्थापित होना चाहिए। समाजवाद की मर्यादा में संपत्ति का व्यक्तिगत स्वामित्व मान्य नहीं है। कर्मवाद की व्याख्या करने वाले संपत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व को भी न्यायपूर्ण और उचित ठहराते हैं। यह बहुत उलझनभरा प्रश्न है, इसलिए यह प्रश्न बार-बार सामने आता है कि समाजवाद या साम्यवाद की स्थापना होने पर कर्मवाद का क्या होगा? कर्मवाद कैसे टिक पाएगा? ऐसा लगता है कि

दुनिया में गरीब और धनवान दोनों टिके रहें, तब तो कर्मवाद टिकेगा और ये दोनों न रहे तो कर्मवाद का सारा महल ढह जाएगा। पता नहीं यह सिद्धांत क्यों बन गया, पर सचमुच बन गया।

जब-जब विज्ञान के द्वारा नई उपलब्धियों की घोषणा होती है, तब-तब पहला प्रश्न यह होता है कि अब धर्म कैसे टिकेगा? आत्मा और पुनर्जन्म का सिद्धांत कैसे टिकेगा? कर्मवाद कैसे टिकेगा? मुझे लगता है कि बहुत ही छिछले चिंतन के कारण इस प्रकार के तात्कालिक विचार बन जाते हैं। क्या गरीब और अमीर का भेद मिट जाने मात्र से कर्मवाद समाप्त हो जाएगा? यदि कर्मवाद का आधार इतना कमजोर है तो मैं भगवान से प्रार्थना करूंगा कि उसे समाप्त होने दें। यद्यपि मैं जैन मुनि हूं। भगवान को मानता हूं, पर भाग्यविधाता नहीं मानता, फिर भी भावना के आवेग में प्रार्थना करता हूं कि ऐसे कर्मवाद को समाप्त हो जाने दें। हमें कोई प्रयोजन नहीं है। जिसकी भित्ति इतनी कमजोर हो, जिसकी नींव इतनी कमजोर हो, उसे टिकाकर भी हम क्या कर पाएंगे? उसे कब तक टिका पाएंगे? ये व्यवस्थाएं तो बदलती रहेंगी। कभी समाजवाद का अगला चरण भी आ सकता है। दुनिया के बहुत बड़े हिस्से में समाजवाद या साम्यवाद का प्रयोग हो चुका है। वहां आर्थिक व्यवस्था को सर्वथा बदल दिया गया है। तो क्या हम मान लें कि उन देशों में कर्मवाद समाप्त हो गया है।

रूस में कर्मवाद समाप्त, चीन में कर्मवाद समाप्त। जितने भी साम्यवादी या समाजवादी राष्ट्र हैं, उन सब में भी कर्मवाद समाप्त। कुछ वर्षों पूर्व 'धर्मयुग' के संपादक धर्मवीर भारती की चीन-यात्रा के संस्मरण पढ़े। चीन जैसे विशाल देश में किसी भी व्यक्ति के पास अपनी व्यक्तिगत कार नहीं है। वहां कोई बड़ा उद्योगपति या भू-स्वामी नहीं मिलेगा। व्यक्तिगत स्वामित्व इतना सीमित कर दिया गया कि संपत्ति के आधार पर कोई बड़ा या छोटा आदमी नहीं होगा। कोई भिखारी नहीं मिलेगा। एक कृपा कर रोटी देने वाला और दूसरा दीनतापूर्वक रोटी लेने वाला नहीं मिलेगा। जिसे रोटी न मिलती हो, ऐसा गरीब नहीं मिलेगा। जिसने लाखों और करोड़ों की संपदा कमा ली हो, ऐसा भाग्यशाली भी नहीं मिलेगा तो क्या कर्मवाद समाप्त हो गया? यही वह बिंदु है, जिस पर विमर्श जरूरी है। कर्म के विषय में बहुत भ्रांतियां पैदा हो गई हैं। उन्हें तोड़ना आवश्यक है। कभी-कभी भ्रांतियों का वात्याचक्र इतना बड़ा बन जाता है कि आदमी मूल तक पहुंच ही नहीं पाता, परिधि में ही उलझ जाता है।

कर्म व्यक्ति की आंतरिक अवस्था में होने वाले परिवर्तन का घटक है। प्राणिमात्र में निरंतर आंतरिक परिवर्तन होता है, वह सारा का सारा कर्मकृत होता है। एक व्यक्ति क्रोधी है। कोई क्रोध क्यों करता है? इसलिए करता है कि उसके भीतर कर्म है। अभिमान, माया, लोभ, राग और द्वेष–ये सारे उसके आंतरिक कर्म के परिणाम हैं, आंतरिक व्यक्तित्व के परिणाम हैं। कर्म की दो प्रमुख प्रकृतियां हैं–जीव-विपाकी और पुद्गल-विपाकी। पहली प्रकृति का जीव में परिपाक होता है। दूसरी प्रकृति का पुद्गल के रूप में परिपाक होता है। शरीर मिलता है, वचन मिलता है, मन मिलता है। ये सब पुद्गल-विपाकी प्रकृति के परिणाम हैं। कर्म के बिना इनकी व्याख्या नहीं की जा सकती।

कर्म और मनोविज्ञान

मनोविज्ञान ने आंतरिक व्यक्तित्व की बहुत सारी व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। मैं मानता हूं, कर्मवाद की जो व्याख्याएं अस्पष्ट थीं, वे आज मनोविज्ञान के संदर्भ में समझी जा सकती हैं। मनोविज्ञान ने सचमुच बहुत बड़ा उपकार किया है। मेरी यह धारणा बन गई है कि कर्मवाद को समझे बिना मनोविज्ञान को पूरा नहीं समझा जा सकता और मनोविज्ञान को समझे बिना कर्मवाद की पूरी व्याख्या नहीं की जा सकती। कर्मवाद को समझने के लिए मनोविज्ञान को समझना बहुत जरूरी है और मनोविज्ञान को समझने के लिए कर्मवाद को समझना बहुत जरूरी है। दोनों में गहरा संबंध है।

मनोविज्ञान ने व्यक्तित्व की और व्यक्ति के अंतर्मन, अवचेतन मन और अर्द्धचेतन मन की जो व्याख्याएं की हैं, वे कर्म के द्वारा ही घटित होती हैं। कर्म हमारे समूचे व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। अर्थ-व्यवस्था को बदल देने, गरीबी को समाप्त कर देने और गरीब और अमीर के भेद को कम कर देने से क्या ऐसा हो गया कि रूस और चीन में कोई आदमी गुस्सा नहीं करता, कोई अभिमान नहीं करता, राग और द्वेष नहीं करता, प्रियता और अप्रियता की अनुभूति नहीं करता? व्यक्तिगत स्वामित्व की व्यवस्था होने पर भी क्या कोई बेईमानी नहीं करता? भ्रष्टाचार नहीं करता? अप्रामाणिकता और भ्रष्टाचार वहां कम अवश्य हुए हैं, पर समाप्त नहीं हुए हैं। बड़े-बड़े अधिकारी भी आर्थिक घोटाले करते हैं। यह सोवियत कांग्रेस और चीन की राष्ट्रीय रिपोर्टों के अध्ययन से ज्ञात होता है।

जहां मरने के बाद बाप की संपत्ति बेटे को नहीं मिलती, वहां कोई

आर्थिक घोटाला किसलिए करे–इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि व्यक्ति का स्वभाव नहीं बदलता, मनोवृत्ति नहीं बदलती, इसलिए नहीं बदलती कि परिस्थिति बदल जाने पर भी जिसके अंतःस्रावी ग्रंथियों के स्राव और उसको प्रेरित करने वाले कर्म के स्राव नहीं बदलते, वहां स्वभाव नहीं बदलता, आचरण और व्यवहार नहीं बदलता। मनुष्य का आंतरिक व्यक्तित्व जो है, वह सारा कर्म से प्रभावित होता है, कर्म के द्वारा संचालित होता है। कर्म के आंतरिक संचालन को जब हम पदार्थ के साथ जोड़ देते हैं, वहां हमारी भ्रांति बढ़ जाती है।

राज्य सत्तारहित राज्य : एक कल्पना

सामाजिक व्यवस्था का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करना चाहता हूं। वह ऐसी व्यवस्था का निदर्शन है, जैसी व्यवस्था समाजवादी और साम्यवादी भी नहीं कर पाएंगे। मार्क्स ने स्टेटलेस स्टेट (राज्य सत्तारहित राज्य) की कल्पना की। समाजवाद का अंतिम ध्येय है, राज्य सत्तारहित राज्य। अभी यह बहुत दूर है। आज साम्यवादी देशों में पूरा एकाधिनायकवाद है। शासनतंत्र इतना कठोर है कि आदमी को उसे सहने में भी कुछ कठिनाई होती है। पता नहीं आदमी कब इतना आत्मानुशासित होगा और कब एक आदमी दूसरे आदमी पर इतना भरोसा करेगा और वह दिन कब आएगा कि जिस दिन शासनतंत्र की व्यर्थता सिद्ध होगी, उसकी कोई अपेक्षा प्रतीत नहीं होगी। जैन आगमों में ऐसी व्यवस्था का उल्लेख मिलता है, भले फिर वह देवताओं के लिए हो। वैसी व्यवस्था में जीने वाला अपने आप उच्चकोटि का देव बन जाता है, वह साधारण मनुष्य नहीं रहता। आज की व्यवस्था और परिस्थिति में जीने वाला मनुष्य तो नहीं ही रहता। कल्पातीत देवों की व्यवस्था में कोई इन्द्र नहीं होता, कोई प्रेष्य नहीं होता, कोई स्वामी नहीं होता, कोई सेवक नहीं होता। सब समान होते हैं और सब के सब आत्मानुशासित होते हैं। अनुशासन और तंत्र जैसी कोई व्यवस्था नहीं होती है। सब के सब ऋद्धि, बल और द्युति में समान होते हैं। हमारे कुछ दार्शनिकों या योगियों ने सुपर ह्यूमन (अतिमानव) और सुपर कांशियसनेस (अतिचेतना) अवतरण की कल्पना की है। उसका सुव्यवस्थित वर्णन प्रस्तुत पद्धति में मिलता है।

समाजवादी व्यवस्था में संपत्ति का उत्तराधिकार नहीं होता, पर सबके पास समान ऋद्धि नहीं है। किसी के पास धन कम होता है और किसी के पास

अधिक धन होता है, किंतु कल्पातीत व्यवस्था में संपदा भी सबके समान होती है। न कोई बड़ा आदमी है और न कोई छोटा आदमी है। शारीरिक बल भी समान और चिंतन भी समान। ऐसा समाजवाद न जाने कब आएगा। सैकड़ों-सैकड़ों वर्षों की साधना के बाद मनुष्य उस कल्पातीत व्यवस्था तक पहुंच पाएगा या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। उस कल्पातीत व्यवस्था का आधार, वहां जन्म लेने वाले देवों का आंतरिक परिवर्तन है। उनके क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष तथा प्रियता और अप्रियता का संवेदन कम होता है, इसलिए उनमें असंभव प्रतीत होने वाली समानता सहज ही घटित हो जाती है।

समाजवादी व्यवस्था का आधार बाहरी परिवर्तन है। बाहर से घटित होने वाली समानता उतनी व्यापक और स्थायी नहीं होती, जितनी व्यापक और स्थायी आंतरिक परिवर्तन से घटित होने वाली समानता होती है। आंतरिक परिवर्तन से भी व्यवस्था का परिवर्तन होता है और व्यवस्था के परिवर्तन से भी आंतरिक अवस्था में कुछ परिवर्तन संभव हो सकता है। निमित्त न मिलने पर कुछ उपादान भी निष्क्रिय हो सकते हैं, फिर भी इस सचाई को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि आंतरिक परिवर्तन के बिना व्यवस्था का परिवर्तन नियंत्रण के साथ ही चल सकता है। उसमें राज्यसत्ता रहित राज्य की परिकल्पना संभव नहीं हो सकती। जब तक मनुष्य का आंतरिक व्यक्तित्व नहीं बदलेगा, उत्तेजना, आवेश और वासना कम नहीं होगी, तब तक वह स्थिति उपलब्ध नहीं होगी।

कर्मवाद : आंतरिक परिवर्तन

उक्त विश्लेषण से इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुंचा जा सकता है कि समाजवाद या साम्यवाद की स्थापना होने पर भी कर्मवाद के सिद्धांत में कोई बाधा नहीं आती। यदि समानता के कारण कोई बाधा आती तो कर्मवाद का सबसे अधिक विशद वर्णन करने वाले जैन आगमों में कल्पातीत समानता का कोई उल्लेख नहीं मिलता और वह मिलता है, इससे हम समझ सकते हैं कि आर्थिक समानता और कर्मवाद का सिद्धांत एक-दूसरे की उत्थापना करने वाले नहीं हैं। कर्मवाद का संबंध व्यवस्था से नहीं, हमारी आंतरिक प्रक्रियाओं से है। जहां कर्मवाद को व्यवस्थाओं के साथ, समाज की बदलती हुई परिस्थितियों के साथ जोड़ देते हैं, वहां उसकी व्यर्थता प्रतीत होने लग जाती है और उसके विषय में अनेक भ्रांतियां पनप जाती हैं।

यदि कर्मवाद को हमारे आंतरिक व्यक्तित्व के साथ जोड़ें तो भ्रांतियां कभी नहीं पनप पाएंगी। हमारे स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और अतिसूक्ष्म शरीर में होने वाले परिवर्तनों, रासायनिक परिवर्तनों और बदलते हुए विद्युत प्रवाहों की सर्वांगीण व्याख्या कर्मवाद के संदर्भ को छोड़कर नहीं की जा सकती। हम कर्म और कर्म की सहायक सामग्री (नो-कर्म) को एक मान लेते हैं, तब कठिनाई पैदा होती है, भ्रांतियां पनपती हैं।

व्यवस्था–परिवर्तन को कर्म-विपाक के निमित्त के रूप में समझा जा सकता है, किंतु उसका सीधा संबंध कर्म के साथ स्थापित नहीं किया जा सकता। इस सचाई को समझ लेने पर अकालमृत्यु, बुढ़ापा और बीमारियां–इन सबमें परिवर्तन लाया जा सकता है। आर्थिक व्यवस्था, चिकित्सा की सुविधा और जीवनयापन की सुविधा होने पर उन सारी स्थितियों में परिवर्तन हो सकता है। कर्मवाद का इस परिवर्तन में कोई विरोध नहीं है।

सौभाग्यवश भारतीय दर्शनों में और विशेषतः जैन दर्शन में कर्मवाद का गहरा चिंतन बहुत विस्तार के साथ हुआ है। मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि कर्मवाद को समझे बिना ध्यान भी ठीक से नहीं किया जा सकता, आध्यात्मिक विकास नहीं किया जा सकता। जो व्यक्ति आध्यात्मिक विकास करना चाहता है, मन को एकाग्र करना चाहता है, मानसिक स्थिरता को उपलब्ध होना चाहता है, उसके लिए कर्म का प्रकाश बहुत जरूरी है।

कर्म की प्रक्रिया को समझे बिना तात्पर्य की भाषा में आंतरिक व्यक्तित्व को समझे बिना, मन चंचल होता है और हम मान बैठते हैं कि मन चंचल है। यह मानना बहुत बड़ा झूठ है। यदि कोई मुझे कहे कि मन बहुत चंचल है तो मैं इसे बहुत बड़ा झूठ मानता हूं। मन बिल्कुल चंचल नहीं है। मेरे हाथ में कोई कपड़ा है। मैं हाथ हिलाता हूं और वह हिल जाता है। क्या यह चंचल है? आप इसे चंचल ही मानेंगे, पर यह चंचल कहां है? कपड़ा बेचारा क्या चंचल और क्या अचंचल। हाथ हिलता है तो यह चंचल है और हाथ नहीं हिलता है तो यह अचंचल है। हवा का क्या ठंडा और क्या गरम। थोड़ी-सी वर्षा होती है तो हवा बहुत ठंडी हो जाती है। थोड़ी बर्फ पड़ती है तो हवा बहुत ठंडी हो जाती है और तेज धूप तपती है तो हवा बहुत गरम हो जाती है। बालू ठंडी होती है या गरम? यदि कोई सर्दी में बालू पर चलता है तो ऐसा लगता है कि वह बर्फ में चल रहा है और कड़ी धूप में बालू पर चलता है तो ऐसा लगता है कि वह आग पर चल रहा है।

हमारे मन की भी यही स्थिति है। जब कर्म-शरीर की प्रेरणाएं जागती हैं, वृत्तियां शांत होती हैं तो मन शांत और स्थिर हो जाता है। जीवन की प्रत्येक समस्या पर चिंतन करने के लिए कर्मवाद को पढ़ना आवश्यक है। बदलती हुई सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों से हम घबराएं नहीं। बार-बार कर्मवाद के समाप्त होने की बात न सोचें, किंतु उन परिस्थितियों के संदर्भ में कर्मवाद का सही-सही मूल्यांकन करें तो ऐसा प्रतीत होगा कि जो सत्य त्रैकालिक दृष्टि तक साक्षात अनुभव के द्वारा उपलब्ध किया गया है, जो स्वयं अप्रकंप है, वह इन छोटे-छोटे झंझावातों के द्वारा कभी समाप्त नहीं हो सकता।

२९. विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था और कर्मवाद

मनुष्य का सारा प्रयत्न उद्देश्य के साथ होता है। उसका मुख्य उद्देश्य है सुख की प्राप्ति और दुःख विमुक्ति। कर्मवाद मानता है कि आदमी पुण्य करता है तो सुख पाता है और पाप करता है तो दुःख पाता है। दुनिया में कोई धनी है तो लोग कह देते हैं कि बड़ा भाग्यशाली है, बड़ा पुण्य किया है। इसीलिए धनी है। कोई गरीब होता है तो लोग कह देते हैं बेचारे ने बुरे कर्म किए थे। बुरे कर्मों का फल भोग रहा है।

लोग सुख-दुःख को कर्म के साथ जोड़ देते हैं और कर्म को जोड़ देते हैं धन और पदार्थ के साथ। इस मान्यता का फल यह हुआ कि भ्रांति बढ़ गई। लोग कहने लगे, 'धन चाहिए तो धर्म करो, पुण्य करो।' कोई धर्म नहीं करता है तो लोग कहते हैं, 'अरे, तुम कोई धर्म नहीं करते, परलोक में जाकर क्या खाओगे?' ऐसा लगता है कि लोगों ने धर्म-पुण्य और पदार्थ को बिल्कुल मिला दिया। आचार्यों ने कहा–'साधना के बिना मनुष्य का जन्म वैसे ही निष्फल हो जाता है, जैसे बकरी का सींग।' धर्म की साधना करो। धर्म की साधना की तो अर्थ और काम अपने आप प्राप्त होंगे।

धर्म की साधना इसलिए जरूरी है कि काम की वासना समाप्त हो, परिग्रह की भावना समाप्त हो, किंतु न जाने क्यों, कर्मवाद का एक ऐसा विकृत रूप सामने आया कि सबकुछ उससे मान लिया गया। यह एक प्रवाह ही चल पड़ा। धर्म के गुरु भी ऐसा ही कहने लग गए। उपाध्याय विनयविजयजी ने 'शांतसुधारस' काव्य में लिखा है–

प्राज्यं राज्यं सुभगदयिता नंदना नंदनानां,
रम्यं रूपं सरसकविताचातुरी सुस्वरत्वम्।
नीरोगत्वं गुणपरिचयः सज्जनत्वं सुबुद्धिः,
किन्नु ब्रूमः फलपरिणतिं धर्मकल्पद्रुमस्य॥

धर्म कल्पवृक्ष है। दुनिया में ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो धर्म से न मिले। राज्य धर्म से मिलता है। अच्छी पत्नी धर्म से मिलती है। बेटे और पोते धर्म से मिलते हैं। कविता की शक्ति और अच्छा कंठ भी धर्म से मिलता है। सारे गुण धर्म से मिलते हैं। यह एक ऐसा वृक्ष है, जिसमें सब प्रकार के फल लगते हैं।

एक प्रश्न है कि क्या सबकुछ धर्म से ही मिलता है? यह प्रश्न समाधान चाहता है। क्या सबकुछ अच्छे कर्मों से मिलता है? यदि सबकुछ धर्म से मिलता है तो मोक्ष के लिए धन, राज्य, परिवार आदि को छोड़ने की बात कैसे प्राप्त होती है। जब यह मान लिया गया कि सबकुछ पुण्य से मिलता है, धर्म से मिलता है तो इसका फलित यह हुआ कि प्रवृत्ति पुण्य के अर्जन में लग गई। पुण्य का अर्जन प्रधान बन गया और पुरुषार्थ गौण हो गया। जबकि पुरुषार्थ द्वारा जो प्राप्त होता है, वह प्रत्यक्ष है और पुण्य के द्वारा जो प्राप्त होता है, वह प्रत्यक्ष नहीं है।

दूसरी बात यह हुई कि अर्थ-व्यवस्था के प्रति मनुष्य का ध्यान ही नहीं गया। व्यवस्था को बदलने की ओर ध्यान नहीं दिया गया। उसका ध्यान केवल इस ओर केन्द्रित रहा कि पुण्य करो, पुण्य कमाओ। उसने यह कभी नहीं सोचा अपनी दुर्व्यवस्था को मिटाने के लिए अर्थ-व्यवस्था को ठीक करना आवश्यक है। सारा ध्यान पुण्य में अटक गया। फलतः बहुत बड़ी गरीबी छा गई। भारत की गरीबी में बहुत बड़ा हाथ है कर्मवाद, भाग्यवाद और पुण्यवाद की मान्यता का। यदि भारत में कर्मवाद की दुहाई नहीं दी जाती, भाग्यवाद और पुण्यवाद की ये धारणाएं प्रचलित नहीं होतीं तो हिन्दुस्तान आज जितना गरीब है, उतना गरीब नहीं होता।

आदमी में पुरुषार्थ की लौ ऐसी बुझी कि उसे, फिर से प्रज्वलित करना कठिन हो गया। आदमी पग-पग पर सोचता है–भाग्य में ऐसा ही लिखा है, क्या करूं?' आदमी बहुत जल्दी संतोष मान लेता है। संतोष अच्छा भी है तो बुरा भी है। संतोष जहां करना चाहिए, वहां नहीं किया जाता और जहां नहीं करना चाहिए, वहां किया जाता है–यह कठिनाइयों का मूल है। भाग्यवादी धारणाओं ने भारत का बहुत बड़ा अनर्थ किया है।

सुख और सुख के साधन दो

हमारी एक दार्शनिक भ्रांति है। वह आज भी चल रही है। धर्म या पुण्य अथवा अच्छे कर्म से सुख मिलता है, यह एक बात है और उनसे सुख के साधन मिलते हैं, यह दूसरी बात है। हमारी भ्रांति यह हुई कि हमने सुख को और

सुख के साधन को एक मान लिया। यह सच है कि सुख की अनुभूति कर्म से होती है और दुःख की अनुभूति भी कर्म से होती है, किंतु सुख के साधन अच्छे कर्म से मिलते हैं और दुःख के साधन बुरे कर्म से मिलते हैं, इसे स्वीकार करने में कर्मवाद बाधक प्रतीत होता है। वह एक व्यवधान होता है। मैं पहले कर्मवाद की धारणा के आधार पर अपनी बात स्पष्ट करूंगा।

सुख या दुःख का निमित्त पदार्थ

कर्मवाद का एक सिद्धांत है–किया हुआ कर्म फल देता है। बिना परिपाक या विपाक हुए कोई भी कर्म फल नहीं देता। विपाक की भी कुछ शर्तें हैं–क्षेत्र-विपाक, काल-विपाक, पुद्गल-विपाक और जीव-विपाक। कुछ कर्म ऐसे हैं, जिनका विपाक क्षेत्र से संबंधित है। कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिनका विपाक काल से संबंधित होता है। कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिनका विपाक पुद्गल में होता है। कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिनका विपाक जीव से संबंधित है। सुख-दुःख होना, साता-असाता होना जीव-विपाकी कर्म कहलाता है। सुख का अनुभव भी जीव को होता है। उसका परिपाक जीव में होता है, पदार्थ में नहीं, परंतु हमने मान लिया कि पदार्थ का होना सुख है और पदार्थ का न होना दुःख है। यह बहुत बड़ी भ्रांति पैदा हो गई।

अनेक मनीषी आचार्यों ने बताया कि पदार्थ के द्वारा जो होता है, वह ऐकांतिक सुख या दुःख नहीं होता। जेठ की दुपहरी है। गहरी प्यास लगी है। पानी का एक गिलास मिलता है तो सुख का अनुभव होता है। व्यक्ति को सुख का अनुभव हुआ पानी से। पानी सुख का अनुभव नहीं है। पानी सुख के अनुभव का एक साधन है। पानी एक पदार्थ है, जिसमें यह क्षमता है कि वह सुख का साधन बन सकता है, सुख का निमित्त या हेतु बन सकता है, किंतु पानी पीना सुख का अनुभव नहीं है, चेतना सुख का अनुभव करती है। चेतना को सुख होता है और पदार्थ उसका निमित्त बनता है। एक गिलास पानी पीया, फिर दूसरा गिलास पानी पीया, फिर तीसरा और चौथा गिलास पानी पीया। क्रमशः सुखानुभूति कम होती चली जाएगी और एक समय ऐसा भी आता है कि पानी पीने से सुख की अनुभूति बिल्कुल नहीं होती। जैसे-जैसे उपयोगिता कम होती है, सुखानुभूति भी कम होती चली जाती है। संगीत-श्रवण से व्यक्ति को सुख मिलता है। कानों को तृप्ति मिलती है, किंतु एक व्यक्ति नींद में सोया हुआ है, वह संगीत को पसंद नहीं करेगा।

एक आदमी खाने का शौकीन है, पर जब वह रोगग्रस्त है तो अच्छा भोजन भी उसे अच्छा नहीं लगता। उसे सबकुछ बुरा लगता है। पदार्थ में सुख देने की क्षमता नहीं है, पदार्थ सुख का निमित्त बन सकता है, किंतु यह जरूरी नहीं है कि पदार्थ सुख का निमित्त बनता ही है। वह बनता भी है और नहीं भी बनता। हमने पदार्थ को सबकुछ मान लिया, यह बहुत बड़ी भ्रांति हो गई।

एक बहुत बड़े धनपति ने कहा–'मेरा ड्राइवर जहां कहीं मोटर खड़ी कर नींद ले लेता है। वह सुख की नींद सोता है और मुझे नींद लेने के लिए गोलियां खानी पड़ती है, फिर भी गहरी नींद नहीं आती। मुझे ड्राइवर की नींद से ईर्ष्या होती है, उसके निश्चिंत जीवन से ईर्ष्या होती है।' यह जानते हुए भी उन धनपतियों में एक प्रकार की मूर्च्छा, एक प्रकार की तृष्णा काम करती है, जिसे वे छोड़ नहीं सकते। जो दुःख का साधन है, वे उसे सुख का साधन मानकर चलते हैं। जब वे दुःख के साधन को सुख मान लेते हैं, तब बेचारे गरीब आदमी सोचते हैं कि धन कमाने से यह बड़ा आदमी हो गया, सुखी हो गया। यह कहना तो सच है कि वह धनपति बन गया, बड़ा बन गया, किंतु उसे सुखी मान लेना, यह भ्रांति हो जाती है।

एक मार्मिक कहानी है हरियाणा की। एक धोबी था। उसके अनेक पत्नियां थीं। उसने एक कुत्ता पाल रखा था। उसका नाम था 'शताबा'। वह थक गया। एक दिन पड़ोस के कुत्तों ने आकर कहा–'तुम बहुत थक गए। क्या बात है? दूसरे घर क्यों नही चले जाते?' उसने कहा–'तुम बात तो ठीक कहते हो, पर कैसे जाऊं? अपनी इतनी पत्नियों को छोड़ कैसे जाऊं?' उन कुत्तों ने कहा–'कौन-सी पत्नियां? कहां से टपक पड़ीं, तुम्हारी पत्नियां?' उस कुत्ते ने कहा–'धोबी की कई पत्नियां हैं। जब वे लड़ती हैं, तब वे एक-दूसरे को कहती हैं–आई तुम शताबा की बैर। अब बताओ, वे सब मेरी पत्नियां हैं कि नहीं। उन्हें छोड़ कैसे जाऊं?'

मनुष्य भी अपने चारों ओर मोह का एक ऐसा वलय बना लेता है कि उसे तोड़ नहीं पाता। कुत्ते को 'शताबा की बैर' से कोई लेना-देना नहीं, फिर भी मन में एक मोह जाग गया कि वह अपनी पत्नियों को छोड़कर कहीं नहीं जा सकता, भले ही वह भूखा मर जाए।

क्या आप यह नहीं मानते कि धन के पीछे दौड़ने वाले बहुत सारे लोगों में एक मूर्च्छा जाग जाती है कि वे सुख के लिए धन नहीं कमाते, किंतु धन के

लिए धन कमाते हैं, धन के लिए धन का अर्जन करते हैं? वे धन से मात्र अपना बड़प्पन प्रदर्शित करना चाहते हैं। इसके सिवाय कोई सुख नहीं होता। यदि धन वाले सुखी हों और इस सिद्धांत को कोई प्रमाणित कर सके तो शायद हम कर्मवाद के प्रश्न पर पुनर्विचार करने को तैयार हो सकते हैं, किंतु आज तक यह कोई प्रमाणित नहीं कर सका कि धनपति सुखी होता है। इतना तो मैं मान सकता हूं कि धनपति सुविधापूर्ण जीवन जी सकता है। धन से सुविधाएं प्राप्त हो सकती हैं। धन से जो वस्तु चाहे, वह मिल सकती है। वस्तु का मिलना सुख का मिलना नहीं है। यदि हम वस्तु का मिलना सुख का मिलना मान लेते हैं तो भ्रांति छा जाती है। वस्तु का मिलना कुछ और है। सुख का मिलना कुछ और है। हम देखते हैं कि वस्तुओं का संग्रह करने वाले दुश्चिंताओं में जीते हैं।

वस्तु की प्राप्ति का हेतु

हम सबसे पहले यह समझें कि वस्तु का होना एक बात है और सुख का होना दूसरी बात है। दोनों की भिन्न-भिन्न दिशाएं हैं। वस्तु के न होने पर भी आदमी सुखी हो सकता है और बहुत सारी वस्तुओं की सुलभता होने पर भी आदमी सुखी नहीं हो सकता। यह बात समझ में आने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पदार्थ को कर्म या धर्म के साथ जोड़ना आवश्यक नहीं है। धर्म के द्वारा जो प्राप्त होता है, वह है हमारी आंतरिक अनुभूति। धर्म से हमारा आंतरिक व्यक्तित्व बनता है और अधर्म से वह बिगड़ता है।

कर्म की व्यवस्था हमारे आंतरिक व्यक्तित्व के निर्माण में या बिगाड़ने में है, न कि पदार्थ को जुटाने में। जब ठंडी हवा चलती है, तब सुख का अनुभव होता है। मैं पूछना चाहता हूं कि ठंडी हवा किस व्यक्ति के पुण्य कर्म से चली, किसके भाग्य से चली? वर्षा होती है, वह किसके कर्म से होती है? एक आदमी कश्मीर में जन्म लेता है और गर्मी का मौसम सुखपूर्वक बिता देता है। एक आदमी राजस्थान में जन्म लेता है और गर्मी के दिनों में बहुत कष्ट का अनुभव करता है। तो क्या हम मान लें कि कश्मीर में जन्म लेने वाले सारे भाग्यशाली हैं और राजस्थान में जन्म लेने वाले सारे लोग भाग्यहीन हैं? कश्मीर में जन्म लेने वाले सुंदर होंगे, गौर वर्ण के होंगे और रेगिस्तान में जन्म लेने वाले सारे लोग काले वर्ण के होंगे। तो क्या गोरे लोग भाग्यशाली हैं और काले लोग भाग्यहीन हैं? क्या हम इस बात को स्वीकार कर लेंगे? प्रकृति से होने वाले सारे परिवर्तनों को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर घटित

होने वाली घटनाओं को यदि हम कर्म के साथ जोड़ देते हैं, उन्हें कर्म का फल मान लेते हैं तो वहां बड़ी कठिनाई उत्पन्न हो जाती हे। हम उन्हें निमित्त मान सकते हैं, हेतु मान सकते हैं, किंतु कर्म का परिणाम नहीं मान सकते।

एक व्यक्ति को धन मिल गया तो क्या हम यह मानें कि इसने बहुत अच्छा कर्म किया था? प्रत्यक्ष में तो हम यह देखते हैं कि बड़ा धनी वही होता है, जो ज्यादा बुराइयां करता है। ऐसे बहुत कम लोग मिलेंगे, जो सदाचार, नैतिकता और पवित्रता के साथ धन का अर्जन करें और बड़े धनपति बन जाएं। यह संभव नहीं लगता। नदी में बाढ़ आएगी तो गंदा पानी आएगा। ऐसा हो नहीं सकता कि नदी में बाढ़ आए और सारा का सारा निर्मल पानी आए। अच्छे साधनों से आदमी की जीविका चले, वह उतना धन कमा सकता है, बहुत बड़ा धनी नहीं बन सकता।

नैतिकता के नियमों का पूर्ण पालन करने वाला कभी धनी नहीं बन सकता। धन कमाने के अनेक साधन हैं। साधनों से धन मिलता है। हम यह मानते चले जाएं कि सारा धन पुण्य के द्वारा ही मिलता है, यह सही नहीं है। मुझे लगता है कि अर्थ-व्यवस्था की खामियों को कर्म के साथ जोड़ दिया गया और उस भ्रांति ने आदमी को दिग्मूढ़ बना दिया। आज भी वह दिग्मूढ़ता कर्मवाद और भाग्यवाद के नाम पर हिन्दुस्तान को सता रही है। किसी का ध्यान उस ओर नहीं जाता।

कर्मवाद को पदार्थ के साथ न जोड़ें। इस बात को और गहराई से समझें कि यदि धन का संबंध कर्मवाद से होता और यदि कर्म के द्वारा ही यह सबकुछ प्राप्त होता, यदि यह कर्म का ही परिणाम होता तो अध्यात्म के आचार्य धन को छोड़ने या राज्य को त्यागने की बात क्यों कहते? वे संपदाओं को न भोगने की बात क्यों कहते?

महावीर का अपरिग्रह दर्शन

भगवान महावीर ने अपरिग्रह पर जितना बल दिया, उतना और किसी ने नहीं दिया। उन्होंने कहा–'परिग्रह एक संज्ञा है।' पदार्थ दुनिया में होता है, दुनिया का धन दुनिया में होता है। उससे हमारा न कुछ बनता है और न कुछ बिगड़ता है। कुछ भी नहीं होता। जब व्यक्ति के साथ पदार्थ का संबंध जुड़ता है, तब परिग्रह की संज्ञा उत्पन्न हो जाती है। महावीर से पूछा गया–'भंते! परिग्रह की संज्ञा क्यों उत्पन्न होती है?' महावीर ने कहा–'जब मोहनीय कर्म

का उदय होता है, तब परिग्रह की संज्ञा बनती है।' परिग्रह के प्रति आकर्षण होना, परिग्रह के प्रति आसक्ति होना और परिग्रह के साथ ममकार का जुड़ जाना, मोहनीय कर्म का, पाप कर्म का उदय होना है। पुण्य का उदय नहीं होता। उन्होंने अर्थ-व्यवस्था का कोई सूत्र नहीं दिया। जो धर्म के क्षेत्र में काम करने वाले लोग हैं, वे अर्थ के क्षेत्र में सीधा हस्तक्षेप नहीं करते। अर्थ के विषय में चिंतन करना समाज के चिंतकों का, समाज के कर्णधारों का, राजनीति के संचालकों का काम है, फिर भी अध्यात्म के लोगों ने जो मूलभूत तथ्य दिए, वे बहुत ही महत्त्व के हैं।

समाजवाद के दो रूप

हमने विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था की बात सुनी है। यह बात महात्मा गांधी के बाद बहुत उजागर हो गई। विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था भी समाजवाद का ही एक रूप है, किंतु इसका रूप कुछ भिन्न है। एक केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था का समाजवाद होता है और एक विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था का समाजवाद होता है। समाजवाद का एक उद्देश्य है कि समाज के सब लोगों के पास संपदा पहुंचे। कहीं एक जगह संपदा जमा न हो। उस संपदा पर व्यक्तिगत स्वामित्व न हो, किंतु समाज का स्वामित्व हो। समाज के सभी लोग संपदा को बांटकर उपभोग करें। इस सिद्धांत के आधार पर समाज की नींव खड़ी की गई। विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था का नाम भी समाजवाद है और केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था का नाम भी समाजवाद है, किंतु दोनों में थोड़ा अंतर है। जहां अर्थ-व्यवस्था केन्द्रित होती है, वहां शक्ति का प्रयोग अनिवार्य होता है। शक्ति के प्रयोग के बिना कोई भी व्यक्ति अपनी संपदा को छोड़ना नहीं चाहता। कुछ लोग छोड़ सकते हैं, जिनके मन में धर्म की चेतना जागृत हो। जिनके मन में धर्म की चेतना, अपरिग्रह की चेतना जागृत नहीं है, वे व्यक्ति अपना प्रभुत्व छोड़ना कभी पसंद नहीं करते, इसलिए केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था के प्रशासन में यह अनिवार्य हो जाता है कि शक्ति के प्रयोग के द्वारा संपदा छीनी जाए और वह संपदा राज्य के कोष में आए, उसका उपयोग समूचे समाज के लिए किया जाए।

केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था में शक्ति का प्रयोग अनिवार्य है और हिंसा का प्रयोग भी अनिवार्य है, क्योंकि जो कार्य बल-प्रयोग के द्वारा किया जाता है, वहां हिंसा को कभी टाला नहीं जा सकता, छीना-झपटी को भी कभी टाला नहीं जा सकता। उसमें स्पर्धा भी अनिवार्य होती है। नैतिकता की बात गौण हो जाती है। केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था में नैतिकता का मूल वह नहीं रहता, जो

विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था में हो सकता है। जो लोग अहिंसा और धर्म की दृष्टि से सोचते हैं, वे इस केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था को पसंद नहीं करते।

केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था में आदमी सुखी जीवन नहीं बिता सकता, क्योंकि आदमी को केवल रोटी ही नहीं चाहिए, कुछ और भी चाहिए। विचारों की स्वतंत्रता भी चाहिए, कर्म की स्वतंत्रता भी चाहिए, किंतु जहां केन्द्रित सत्ता और केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था होगी वहां वैचारिक स्वतंत्रता नहीं हो सकती और कर्म की स्वतंत्रता भी नहीं हो सकती। उस व्यवस्था में आदमी समाज के यंत्र का एक पुर्जा बन जाता है और यांत्रिक जीवन जीता है। उस स्थिति में रोटी की बात गौण हो जाती है, दूसरी बातें सताने लग जाती हैं।

मनुजी से पूछा गया–'सुख क्या है? दुःख क्या है?' उन्होंने कहा–**सर्वं परवशं दुःखं, सर्वं आत्मवशं सुखं**–परवशता दुःख है और स्ववशता सुख है। परतंत्रता दुःख है और स्वतंत्रता सुख है। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो रोटी के लिए स्वतंत्रता को ठुकरा देते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो रोटी के लिए स्वतंत्रता की बलि देना पसंद नहीं करते। इतिहास इस बात का साक्षी है कि ऐसे लोग भी हुए हैं, जिन्होंने स्वतंत्रता के लिए सैकड़ों कठिनाइयां झेलीं। उन्होंने किसी भी मूल्य पर स्वतंत्रता को छोड़ना नहीं चाहा।

अनुभूति और साधन

सुखी जीवन जीना, यह विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था में ही हो सकता है। केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था में सुख का जीवन नहीं जीया जा सकता, केवल उसके साधनों को प्राप्त किया जा सकता है। राजनीति का क्षेत्र सुख देने का क्षेत्र नहीं है। वह पदार्थ उपलब्ध करा सकता है। राज्य शासन पदार्थ की प्राप्ति करा सकता है। सुख देना उसके हाथ की बात नहीं है। सुख के साधन और दुःख के साधन उपलब्ध कराने में वह सक्षम है, किंतु सुखी-दुःखी बनाना उसकी क्षमता से परे है। एक राज्य सरकार किसी को जेल में डाल सकती है। इसका मतलब यह हुआ कि जेल में डाल देना दुःख देना है, पर ऐसी बात नहीं है। बहुत सारे लोग जेल में जाकर भी सुख का अनुभव करते हैं। अनेक राजनीतिक बंदी जेल में जाकर भी दुःख का अनुभव नहीं करते। वे अपने सिद्धांत के साथ जेल में जाते हैं और अपने सिद्धांत के साथ वहां रहते हैं।

बड़े-बड़े नेता अपने जेल के जीवन का वर्णन करते हुए कहते हैं–'जितना पढ़ने-लिखने का मौका जेल में मिला, उतना बाहर नहीं मिला।' बाहर अनेक

कार्य होते हैं, पर जेल के एकांत जीवन में केवल स्वाध्याय और लेखन के अतिरिक्त कोई कार्य नहीं रहता। उन्होंने जेल-जीवन को कभी दुःखदायी नहीं माना। दुःख देना राज्य-शासन के हाथ में नहीं है। दुःख का साधन है जेल, वह देना राज्य-शासन के हाथ में है। सुख देना राज्य-शासन के हाथ में नहीं है। वह सुख के साधन जुटा सकता है, किंतु सुख का साधन देने पर भी मानसिक वृत्तियां यदि सुख को भोगने में सक्षम नहीं हैं तो आदमी सुखी नहीं बन सकता। हमारी यह धारणा स्पष्ट होनी चाहिए कि सुख की अनुभूति और सुख के साधन एक नहीं हैं, दो हैं। दुःख की अनुभूति और दुःख के साधन एक नहीं, दो हैं। जब यह धारणा स्पष्ट हो जाती है, तब अनेक समस्याएं अपने आप समाहित हो जाती हैं।

विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था में पहली बात यह है कि संपदा व्यक्ति-व्यक्ति के पास पहुंचे। वह कहीं केन्द्रित न हो। समूचे समाज के पास संपदा पहुंचे, किंतु वह शक्ति के प्रयोग के द्वारा, बल-प्रयोग के द्वारा या हिंसा के द्वारा नहीं, एक सहज स्वीकृत व्यवस्था के द्वारा पहुंचे। उस व्यवस्था की पृष्ठभूमि में अहिंसा का दर्शन होता है। अहिंसा के दर्शन का सिद्धांत है कि सुख और सुख के साधन दो हैं। दुःख और दुःख के साधन दो हैं। राजनीति का सिद्धांत इसे मान्य नहीं करता। राजनीति में जो सुख का साधन है, वही सुख है और जो दुःख का साधन है, वही दुःख है, किंतु जब हम दर्शन की भूमिका पर विचार करते हैं, तब यह भेदरेखा खिंच जाती है कि सुख का साधन अलग होता है और सुख अलग होता है। दुःख का साधन अलग होता है और दुःख अलग होता है।

परिग्रह के लिए हिंसा

भगवान महावीर ने एक आचार-संहिता दी। उसमें लाखों व्यक्ति दीक्षित हुए। उस आचार-संहिता में दो सूत्र थे। पहला सूत्र था–अल्पारंभ और अल्पपरिग्रह, महारंभ और महापरिग्रह। महारंभ और महापरिग्रह को आज की भाषा में केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था और केन्द्रित सत्ता कह सकते हैं। अल्पारंभ और अल्पपरिग्रह को आज की भाषा में विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था और विकेन्द्रित सत्ता कह सकते हैं। जहां परिग्रह अल्प है, वहां हिंसा भी अल्प है। जहां परिग्रह महान है, वहां हिंसा भी महान है। हिंसा के लिए परिग्रह नहीं होता, किंतु परिग्रह के लिए हिंसा होती है। हिंसा परिग्रह का निमित्त है।

जिस व्यक्ति के मन में परिग्रह की कोई भावना नहीं है, वह व्यक्ति हिंसा नहीं कर सकता। जिसके मन में परिग्रह की भावना है, वहां से हिंसा प्रारंभ

होती है। यह बहुत सूक्ष्म बात है। इसे हमें समझना है। सबसे पहला परिग्रह है–हमारा शरीर। हिंसा होती है, शरीर की सुरक्षा के लिए। एक संस्कृत कवि ने लिखा है–**सर्वारंभाः तन्दुलप्रस्थमूलाः**–जितनी भी प्रवृत्तियां हैं, वे मात्र एक सेर चावल को प्राप्त करने के लिए हैं। सारी हिंसा पेट की आग को बुझाने के लिए है। परिग्रह में दूसरा स्थान आता है परिवार और पदार्थ का। परिवार के पालन-पोषण के लिए पदार्थों का संग्रहण किया जाता है।

एक मानसिक परिग्रह होता है बड़प्पन के लिए, प्रतिष्ठा के लिए, फिर एक सिद्धांत बन जाता है। एक बार एक उद्योगपति से पूछा–'आपके इतने धंधे हैं, इतने उद्योग हैं, फिर क्यों नए-नए खड़े कर रहे हैं?' उन्होंने कहा–'महाराज! आज की अर्थ-व्यवस्था को आप नहीं जानते। आज अर्थार्जन के लिए प्रतिस्पर्धा-सी चल रही है। उस प्रतिस्पर्धा में आगे रहना है तो अनेक धंधे, अनेक कार्य करने होंगे।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था के चिंतन में एक महत्त्वपूर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है–इच्छा-परिमाण। आज राजनीति के क्षेत्र में चाहे केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था हो या विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था हो, वहां व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा की बात कही जाती है। महावीर की आचार-संहिता में इच्छा-परिमाण शब्द है। दोनों में अंतर केवल इतना ही है कि केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था में वह शक्ति के प्रयोग के द्वारा आता है। विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था में शक्ति का प्रयोग उतना नहीं होता, किंतु व्यक्ति की इच्छा से और समाज के कल्याण की दृष्टि से वह कार्य किया जाता है। इच्छा-परिमाण विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से किया जाए।

अल्प-आरंभ, अल्पपरिग्रह और इच्छापरिमाण–ये तीन शब्द ऐसे हैं, जो विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था, विकेन्द्रित सत्ता और व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा (इच्छाओं की सीमा)–ये तीन सिद्धांत हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। प्रश्न होता है कि पुण्य को रोकने की बात क्यों कही? अल्प-आरंभ और अल्प-परिग्रह का सिद्धांत क्यों प्रतिपादित किया गया?

समय-समय का मूल्य होता है। प्राचीन ग्रंथों में जहां बड़े आदमी का वर्णन मिलता है तो उसका बड़प्पन पत्नियों की संख्या में आंका जाता था। अमुक व्यक्ति के हजार पत्नियां हैं। अमुक के दस हजार और चक्रवर्ती के एक लाख, बानवे हजार पत्नियां हैं। इतनी पत्नियों के बिना कोई चक्रवर्ती नहीं बन सकता। उस समय बहुपत्नित्व बड़प्पन का सूचक था। जिसके जितनी ज्यादा

पत्नियां, वह उतना ही बड़ा आदमी। जिसके कम पत्नियां, वह छोटा आदमी। आज यह धारणा उलट गई है। आज बहुपत्नित्ववाद प्रचलित नहीं है। यत्र-तत्र है तो वहां भी वह सीमित है। हजार पत्नियां होना कोई पुण्य का उदय नहीं है और एक-दो पत्नियों का होना कोई पाप का उदय नहीं है। यह समाज-व्यवस्था से अधिक संबंधित है। एक-एक समय में एक-एक प्रथा प्रचलित होती है। उसी के आधार पर व्यक्ति का मानदंड किया जाता है।

भारतीय लोग बहुत अधिक अकर्मण्य हैं। इसमें उनकी भाग्यवादी धारणा का बहुत बड़ा हाथ है। कुछ भौगोलिक कारण भी हो सकता है। गर्म देश के आदमियों में आलस्य अधिक होता है, किंतु यह भी सचाई है कि आज के आदमी ने पुरुषार्थ को छोड़ दिया। वह कर्मवादी और भाग्यवादी धारणाओं को लेकर सोया पड़ा है। वह यह सोच भी नहीं पाता कि वर्तमान के पुरुषार्थ के द्वारा आदमी समस्याओं से उबर सकता है, अर्थ-व्यवस्था को बदलकर संपदा बढ़ा सकता है, गरीबी को मिटा सकता है और समाज में समीकरण ला सकता है। यह लगता है कि भारत का आदमी यदि भाग्यवादी धारणा का पोषक नहीं होता तो आज तक यहां कई क्रांतियां घटित हो जातीं। आज वह अनेक कठिनाइयां झेल रहा है, पर कर्मवादी धारणा को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है।

हम कर्मवाद को वर्तमान की परिस्थितियों के संदर्भ में समझें और उसका गहराई में अवलोकन करें। कर्मवाद की सबसे अनुकूल व्यवस्था है विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था, जहां कर्मवाद के सिद्धांत की भी सुरक्षा होती है और कर्मवाद के द्वारा जो एक मर्म सिखाया जाता है कि बहुत परिग्रह न करें, यह सिद्धांत भी फलित होता है। इसके साथ-साथ सामाजिक विषमता का समाधान भी मिलता है।

विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था अहिंसा के अति निकट है। अध्यात्म का सामाजिक रूप है लोकतंत्र और लोकतंत्र में विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था। यह अध्यात्म या धर्म का व्यावहारिक प्रतिफलन है। हम धर्म को, पुण्य को और पुण्य के कार्य को ठीक से समझें। पुण्य की क्या अनुभूति होती है और धर्म की क्या अनुभूति होती है?

धर्म का हमारे जीवन में क्या प्रतिफलन है? इन सारे प्रश्नों पर हम नए सिरे से सोचें तो धर्म की सारी गुत्थियां सुलझाई जा सकती हैं। पुण्य और कर्म की धारणा को भी एक स्वस्थ रूप मिल सकता है और वर्तमान की बड़ी समस्या सामाजिक विषमता को भी समाधान मिल सकता है। आवश्यकता इतनी ही है कि हम मूल को पकड़ें।

३०. कर्मशास्त्र : मनोविज्ञान की भाषा में

दर्शन के क्षेत्र में शाश्वत और अशाश्वत–दोनों चर्चनीय रहे हैं। इन दोनों के तीन रूप उपलब्ध होते हैं–शाश्वतवाद, अशाश्वतवाद और शाश्वत-अशाश्वतवाद। जैन दर्शन ने तीसरा विकल्प मान्य किया। जगत में जिसका अस्तित्व है, वह केवल शाश्वत नहीं है केवल अशाश्वत नहीं है। शाश्वत और अशाश्वत–दोनों का सहज समन्वय है। तत्त्व की दृष्टि से जो सिद्धांत है, उस पर मैं काल-सापेक्ष विमर्श करना चाहता हूं।

कर्म भारतीय दर्शन में एक प्रतिष्ठित सिद्धांत है। उस पर लगभग सभी पुनर्जन्मवादी दर्शनों ने विमर्श प्रस्तुत किया है। पूरी तटस्थता के साथ कहा जा सकता है कि इस विषय का सर्वाधिक विकास जैन दर्शन में हुआ है। इस विषय पर विशाल साहित्य का निर्माण हुआ है।

विषय बहुत गंभीर और गणित की जटिलता से बहुत गुंफित है। सामान्य व्यक्ति उसकी गहराई तक पहुंचने में काफी कठिनाई अनुभव करता है। कहा जाता है कि आइंस्टीन के सापेक्षतावाद के सिद्धांत को समझने वाले कुछ विरले ही वैज्ञानिक हैं। यह कहना भी सत्य की सीमा से परे नहीं होगा कि कर्मशास्त्र को समझने वाले भी समूचे दार्शनिक जगत में कुछ विरले ही लोग हैं।

कर्मशास्त्र में शरीर-रचना से लेकर आत्मा के अस्तित्व तक, बंधन से लेकर मुक्ति तक सभी विषयों पर गहन चिंतन और दर्शन मिलता है। यद्यपि कर्मशास्त्र के बड़े-बड़े ग्रंथ उपलब्ध हैं, फिर भी हजारों वर्ष पुरानी पारिभाषिक शब्दावली को समझना स्वयं एक समस्या है और जब तक सूत्रात्मक परिभाषा में गूंथे हुए विशाल चिंतन को पकड़ा नहीं जाता, परिभाषा से मुक्त कर वर्तमान के चिंतन के साथ पढ़ा नहीं जाता और वर्तमान की शब्दावली में प्रस्तुत नहीं किया जाता, तब तक एक महान सिद्धांत भी अर्थशून्य जैसा हो जाता है।

आज के मनोवैज्ञानिक मन की हर समस्या पर अध्ययन और विचार कर रहे हैं। मनोविज्ञान को पढ़ने पर मुझे लगा कि जिन समस्याओं पर कर्मशास्त्रियों ने अध्ययन और विचार किया था, उन्हीं समस्याओं पर मनोवैज्ञानिक अध्ययन और विचार कर रहे हैं। यदि मनोविज्ञान के संदर्भ में कर्मशास्त्र को पढ़ा जाए तो उसकी अनेक गुत्थियां सुलझ सकती हैं, अनेक अस्पष्टताएं स्पष्ट हो सकती हैं। कर्मशास्त्र के संदर्भ में यदि मनोविज्ञान को पढ़ा जाए तो उसकी अपूर्णता को समझा जा सकता है और अब तक के अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर खोजे जा सकते हैं।

हमारे जगत में करोड़ों-करोड़ों मनुष्य हैं। वे सब एक ही मनुष्य जाति से संबद्ध हैं। उनमें जातिगत एकता होने पर भी वैयक्तिक भिन्नता होती है। कोई भी मनुष्य शारीरिक या मानसिक दृष्टि से सर्वथा किसी दूसरे मनुष्य जैसा नहीं होता। कुछ मनुष्य लंबे होते हैं, कुछ बौने होते हैं। कुछ मनुष्य गोरे होते हैं, कुछ काले होते हैं। कुछ मनुष्य सुडौल होते हैं, कुछ भद्दी आकृति वाले होते हैं। कुछ मनुष्यों में बौद्धिक मंदता होती है, कुछ में विशिष्ट बौद्धिक क्षमता होती है।

स्मृति और अधिगम क्षमता (Learning Capacity) सबमें समान नहीं होती। स्वभाव भी सबका एक-जैसा नहीं होता। कुछ शांत होते हैं, कुछ बहुत क्रोधी होते हैं। कुछ प्रसन्न प्रकृति के होते हैं, कुछ उदास रहने वाले होते हैं। कुछ निःस्वार्थ वृत्ति के लोग होते हैं, कुछ स्वार्थपरायण होते हैं। वैयक्तिक भिन्नता प्रत्यक्ष है।

इस विषय में कोई दो मत नहीं हो सकता। कर्मशास्त्र में वैयक्तिक भिन्नता का चित्रण मिलता ही है। मनोविज्ञान ने भी इसका विशद रूप में चित्रण किया है। उसके अनुसार वैयक्तिक भिन्नता का प्रश्न मूल प्रेरणाओं के संबंध में उठता है। मूल प्रेरणाएं (प्राइमरी मोटिव्स) सबमें होती हैं, किंतु उसकी मात्रा सबमें एक समान नहीं होती। किसी में कोई एक प्रधान होती है तो किसी में कोई दूसरी प्रधान होती है। अधिगम क्षमता भी सबमें होती है, किसी में अधिक होती है और किसी में कम। वैयक्तिक भिन्नता का सिद्धांत मनोविज्ञान के प्रत्येक नियम के साथ जुड़ा हुआ है।

मनोविज्ञान : आनुवंशिकता और परिवेश

मनोविज्ञान में वैयक्तिक भिन्नता का अध्ययन आनुवंशिकता (हेरिडिटी) और परिवेश(एन्वायर्नमेंट) के आधार पर किया जाता है। जीवन का प्रारंभ माता

के डिंब और पिता के शुक्राणु के संयोग से होता है। व्यक्ति के आनुवंशिक गुणों का निश्चय क्रोमोसोम के द्वारा होता है। क्रोमोसोम अनेक जीनों (जीन्स) का एक समुच्चय होता है। एक क्रोमोसोम में लगभग हजार जीन्स माने जाते हैं। ये जीन ही माता-पिता के आनुवंशिक गुणों के वाहक होते हैं। इन्हीं में व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक विकास की क्षमताएं (पोटेन्सिएलिटीज) निहित होती हैं। व्यक्ति में ऐसी कोई विलक्षणता प्रकट नहीं होती, जिसकी क्षमता उसके जीन में निहित न हो। मनोविज्ञान ने शारीरिक और मानसिक विलक्षणताओं की व्याख्या आनुवंशिकता और परिवेश के आधार पर की है, पर इससे विलक्षणता के संबंध में उठने वाले प्रश्न समाहित नहीं होते। शारीरिक विलक्षणता पर आनुवंशिकता का प्रभाव प्रत्यक्ष होता है। मानसिक विलक्षणताओं के संबंध में आज भी अनेक प्रश्न अनुत्तरित हैं। क्या बुद्धि आनुवंशिक गुण है अथवा परिवेश का परिणाम है? क्या बौद्धिक स्तर को विकसित किया जा सकता है? इन प्रश्नों का उत्तर प्रायोगिकता के आधार पर नहीं दिया जा सकता। आनुवंशिकता और परिवेश से संबद्ध प्रयोगात्मक अध्ययन केवल निम्न कोटि के जीवों पर ही किया गया है या संभव हुआ है। बौद्धिक विलक्षणता का संबंध मनुष्य से है। इस विषय में मनुष्य अभी भी पहेली बना हुआ है।

कर्मशास्त्रीय दृष्टि से जीवन का प्रारंभ माता-पिता के डिंब और शुक्राणु के संयोग से होता है, किंतु जीव का प्रारंभ उनसे नहीं होता। मनोविज्ञान के क्षेत्र में जीवन और जीव का भेद अभी स्पष्ट नहीं है, इसलिए सारे प्रश्नों के उत्तर जीवन के संदर्भ में खोजे जा सकते हैं। कर्मशास्त्रीय अध्ययन में जीव और जीवन का भेद बहुत स्पष्ट है, इसलिए मानवीय विलक्षणता के कुछ प्रश्नों का उत्तर जीवन में खोजा जाता है और कुछ प्रश्नों का उत्तर जीव में खोजा जाता है। आनुवंशिकता का संबंध जीवन से है, वैसे ही कर्म का संबंध जीव से है। उसमें अनेक जन्मों के कर्म या प्रतिक्रियाएं संचित होती हैं, इसलिए वैयक्तिक योग्यता या विलक्षणता का आधार केवल जीवन के आदि-बिंदु में ही नहीं खोजा जाता, उससे परे भी खोजा जाता है, जीव के साथ प्रवहमान कर्मसंचय (कर्मशरीर) में भी खोजा जाता है।

मनोविज्ञान में मूल प्रवृत्तियां

कर्म का मूल मोहनीय कर्म है। मोह के परमाणु जीव में मूर्च्छा उत्पन्न करते

हैं, दृष्टिकोण मूर्च्छित होता है और चारित्र भी मूर्च्छित हो जाता है। व्यक्ति के दृष्टिकोण,चारित्र और व्यवहार की व्याख्या इस मूर्च्छा की तरतमता के आधार पर की जा सकती है।

मनुष्य की व्याख्या जटिल

प्राणी जगत की व्याख्या करना सबसे जटिल है। अविकसित प्राणियों की व्याख्या करने में कुछ सरलता हो सकती है। मनुष्य की व्याख्या सबसे जटिल है। वह सबसे अधिक विकसित प्राणी है। उसका नाड़ी-संस्थान सबसे अधिक विकसित है। उसमें क्षमताओं के अवतरण की सबसे अधिक संभावनाएं हैं, इसलिए उसकी व्याख्या करना सर्वाधिक दुरूह कार्य है। कर्मशास्त्र, योगशास्त्र, मानसशास्त्र (साइकोलॉजी), शरीरशास्त्र (एनोटोमी) और शरीरक्रियाशास्त्र (फिजियोलॉजी) के तुलनात्मक अध्ययन से ही उसको कुछ सरल बनाया जा सकता है।

मानसिक परिवर्तन केवल उद्दीपन और परिवेश के कारण ही नहीं होते। उनमें नाड़ी-संस्थान, जैविक विद्युत, जैविक रसायन और अंतःस्रावी ग्रंथियों के स्राव का भी योग होता है। ये सब हमारे स्थूल शरीर के अवयव हैं। इनके पीछे सूक्ष्म शरीर क्रियाशील होता है और उनमें निरंतर होने वाले कर्म के स्पंदन परिणमन या परिवर्तन की प्रक्रिया को चालू रखते हैं। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में कर्म के स्पंदन, मन की चंचलता, शरीर के संस्थान–ये सभी सहभागी होते हैं, इसलिए किसी एक शास्त्र के द्वारा हम परिवर्तन की प्रक्रिया का सर्वांगीण अध्ययन नहीं कर सकते।

ध्यान की प्रक्रिया द्वारा मानसिक परिवर्तनों पर नियंत्रण किया जा सकता है, इसलिए योगशास्त्र को भी उपेक्षित नहीं किया जा सकता। अपृथक्त्व अनुयोग की शिक्षा प्रणाली में प्रत्येक विषय पर सभी नयों से अध्ययन किया जाता था, इसलिए अध्येता को सर्वांगीण ज्ञान हो जाता था। आज की पृथक्त्व अनुयोग की शिक्षा प्रणाली में एक विषय के लिए मुख्यतः तद्विषयक शास्त्र का ही अध्ययन किया जाता है, इसलिए उस विषय को समझने में बहुत कठिनाई होती है। उदाहरण के लिए मैं कर्मशास्त्रीय अध्ययन को प्रस्तुत करना चाहता हूं।

एक कर्मशास्त्री पांच पर्याप्ति के सिद्धांत को पढ़ता है और वह इसका हार्द नहीं पकड़ पाता। पर्याप्तियां छह हैं। भाषा पर्याप्ति और मनःपर्याप्ति

को स्वतंत्र मानने पर पर्याप्तियों की संख्या छह होती है। भाषा पर्याप्ति और मनःपर्याप्ति को एक मानने पर वे पांच होती हैं। प्रश्न है, भाषा और मन की पर्याप्ति को एक क्यों माना जाए? स्थूल दृष्टिकोण से भाषा और मन दो प्रतीत होते हैं। भाषा के द्वारा विचार प्रकट किए जाते हैं और मन के द्वारा स्मृति, कल्पना और चिंतन किया जाता है। सूक्ष्म में प्रवेश करने पर वह प्रतीति बदल जाती है। भाषा और मन की इतनी निकटता सामने आती है कि उसमें भेदरेखा खींचना सहज नहीं होता।

गौतम स्वामी के एक प्रश्न के उत्तर में भगवान महावीर ने कहा– 'वचनगुप्ति के द्वारा मनुष्य निर्विचारता को उपलब्ध होता है।' निर्विचार व्यक्ति अध्यात्मयोग सुविचार ध्यान से निर्विकल्प ध्यान को उपलब्ध हो जाता है। विचार का संबंध जितना मन से है, उतना ही भाषा से है।

जल्प दो प्रकार का होता है–अंतर्जल्प और बहिर्जल्प। बहिर्जल्प को हम भाषा कहते हैं। अंतर्जल्प और चिंतन में दूरी नहीं होती। चिंतन भाषात्मक ही होता है। कोई भी चिंतन अभाषात्मक नहीं हो सकता। स्मृति, कल्पना और चिंतन–ये सब भाषात्मक होते हैं। व्यवहारवाद के प्रवर्तक वॉटसन (Watson) के अनुसार चिंतन अव्यक्त शाब्दिक व्यवहार है। उसके अनुसार चिंतन-व्यवहार की प्रतिक्रियाएं वाक्-अंगों (Vocal organs) में होती है। व्यक्ति शब्दों को अनुकूलन (Conditioning) से सीखता है। धीरे-धीरे शाब्दिक आदतें (Verbal habits) पक्की हो जाती हैं और वे शाब्दिक उद्दीपकों (Verbal stimuli) से उद्दीप्त होने लगती हैं। बच्चों की शाब्दिक प्रतिक्रियाएं श्रव्य होती हैं। धीरे-धीरे सामाजिक परिवेश के प्रभाव से आवाज को दबाकर शब्दों को कहना सीख जाता है। व्यक्त और अव्यक्त शिक्षा-दीक्षा के प्रभाव से शाब्दिक प्रतिक्रियाएं मौन हो जाती हैं। वॉटसन ने चिंतन को अव्यक्त अथवा मौन वाणी (Implicit or silent speech) कहा है।

सत्य में कोई द्वैत नहीं होता। किसी भी माध्यम से सत्य की खोज करने वाला जब गहरे में उतरता है और सत्य का स्पर्श करता है, तब मान्यताएं पीछे रह जाती हैं और सत्य उभरकर सामने आ जाता है। बहुत लोगों का स्वर है कि विज्ञान ने धर्म को हानि पहुंचाई है, जनता को धर्म से दूर किया है। बहुत सारे धर्मगुरु भी इसी भाषा में बोलते हैं, किंतु यह स्वर वास्तविकता से दूर

प्रतीत होता है। मेरी निश्चित धारणा है कि विज्ञान ने धर्म की बहुत सत्यस्पर्शी व्याख्या की है और वह कर रहा है।

जो सूक्ष्म रहस्य धार्मिक व्याख्या-ग्रंथों में व्याख्यात नहीं हैं, जिनकी व्याख्या के स्रोत आज उपलब्ध नहीं हैं, उनकी व्याख्या वैज्ञानिक शोधों के संदर्भ में बहुत प्रामाणिकता के साथ की जा सकती है। कर्मशास्त्र की अनेक गुत्थियों को मनोवैज्ञानिक अध्ययन के संदर्भ में सुलझाया जा सकता है। आज केवल भारतीय दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति ही पर्याप्त नहीं है। दर्शन और विज्ञान की संबंधित शाखाओं का तुलनात्मक अध्ययन बहुत अपेक्षित है। ऐसा होने पर दर्शन के अनेक नए आयाम उद्घाटित हो सकते हैं।